नारी विवाह और सदाचार

[नर-नारी के सेक्स, विवाह तथा नैतिक संबंधों का एक क्रांतिकारी विवेचन]

•

मूल लेखक : षाहिद प्रवीन

अनुवादक : आनंदप्रकाश जैन

•

१९६०

साहित्य प्रकाशन

संपादक व नियामक :
आनंदप्रकाश जैन

प्रकाशक :
म० प्रकाशन,

मुद्रक :
बनारसीदास शर्मा,
कमल प्रेस, मेरठ

मूल्य : सात रुपये

पिता जी को समर्पित

(देहांत—३० दिसम्बर, १९४८)

हिंदी में पहली बार

- नर-नारी के सेक्स-सम्बंधों पर देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा अब तक स्थापित मान्यताओं को खुली चुनौती—
- आदि-काल से ले कर अब तक के मानव के सेक्स-संबंधों का एक ऐसा विवेचनापूर्ण इतिहास, जो इन सम्बंधों के भावी स्वरूप का एक निश्चित ढांचा प्रस्तुत करता है—
- 'संसार को आज जिस चीज़ की सब से अधिक आवश्यकता है वह है 'जैसे जी में आए करो' वाला दर्शन और एक ऐसा राजनीतिक संगठन, जो इस दर्शन को राह दे...(पृष्ठ २०४)—
- उस लेखक की यथार्थ मान्यतायें, जिस के भाषा-सम्बंधी विचारों की मौलिकता ने लंदन के प्रसिद्ध पत्र 'वर्ल्ड डाइजेस्ट' के दो पेजी संपादकीय के लिए विषय-सामग्री प्रस्तुत की—
- यह पुस्तक न केवल निष्पक्ष व पूर्वग्रहरहित विचारकों को पुर्नविचार के लिए विवश करेगी, बल्कि उन युवक-युवतियों को भी राहत देगी, जो सेक्स सम्बंधी आचार-विचारों में प्रस्थापित रोगी विचारधाराओं से त्रस्त हैं—
- वह पुस्तक जो आप की व्यस्त चेतना की सब से मूल्यवान निधि बन जाएगी और पढ़ने के बाद आप के लिए दस गुना मूल्य रखेगी ●

●

संकेतिका :

अनुवादकीय

सब से पहले मैं पाठकों से इस बात की क्षमा मांग लेना अपना कर्त्तव्य समझता हूं कि इस पुस्तक के अनुवाद की भाषा तनिक गूढ़ हो गई है। किन्तु प्रवीन जी अंग्रेजी भाषा पर पूर्ण अधिकार रखते हैं, और उन की सही तरजुमानी के लिए भाषा का गूढ़ हो जाना स्वाभाविक था। जिस विषय को उन्हों ने इस पुस्तक में उठाया है वह स्वयं ही इतना गूढ़ है कि उन के लिए भी संभवतः सिवा इस के और कोई चारा नहीं था कि जहां भावों की गूढ़ता को स्पष्ट करने की आवश्यकता अनुभव हो, वहां अंग्रेजी के कठिन शब्दों का सहारा लें और जहाँ अपनी बात कहते-कहते वह तनिक गहरे पहुँच जाएं वहाँ उन की भाषा में स्वाभाविक प्रौढ़ता आ जाए। रही मेरी बात। इस पुस्तक को पढ़ने से पाठकों को प्रतीत होगा कि भाषा पर अधिकार रखने के साथ-साथ प्रवीन जी अपने विषय पर भी विशेष अधिकार रखते हैं। इस नाते इस पुस्तक के प्रत्येक शब्द को मैं ने अव्यर्थ समझा है और उसे सम्मान की दृष्टि से देखा है। आखिर जब ज़िंदगी को बीमार कर देने वाले अप्रचलित भाषाओं के शास्त्रों को मनोयोग से सिर हिला-हिला कर पढ़ा जाता है, तो क्यों नहीं हिंदी भाषा के प्रकाशन क्षेत्र में आने वाली जीवन निर्माण संबंधी ज्ञानविज्ञान की पुस्तकों को उतने ही मनोयोग से पढ़ा जाना चाहिए? ये पुस्तकें आरंभ में हमें क्लिष्ट लग सकती हैं, लेकिन नए लुकमे हमेशा ही सख्त होते हैं।

इस देश में, जहाँ सेक्स सम्बन्धी पुस्तकों पर कोरा कवर चढ़ा कर अथवा रात में 'मैं चुपके-चुपके रोता हूं, जब सारा सो जाता संसार' की काव्योक्ति का अनुगमन करते हुए पढ़ा जाता है, आश्चर्य नहीं कि कुछ लोग ऐसे भी निकल आयें, जो इस पुस्तक को घर पर लाना ही पाप समझें! किन्तु अंधेरे और प्रकाश का बैर पुराना है। जिन लोगों का हृदय सरल होता है और मस्तिष्क पूर्वग्रहों से ग्रस्त नहीं होता, वे प्रकाश पाने पर बच्चों की तरह अचानक रोते रोते

चुप हो जाते हैं और संसार के नवीन रहस्यों को समझने के लिये आंखों को अधिक सचेत कर लेते हैं। चोर और तस्कर हमेशा अंधेरा चाहते हैं और नैतिकताओं, अंधविश्वासों, मूढ़ताओं, एवं धार्मिक अध्यादेशों द्वारा संसार के स्त्रीपुरुषों की धनसंपति व सुख-सौभाग्य को धीरे-धीरे कौशल से हथिया लेने वाले भी इसी प्रकार के चोर और तस्कर हैं। लेकिन अंधेरा तो अंधेरा ही है और चोर व तस्करों के भी चार आंखें नहीं होती। वे एक-एक कर के स्वयं ठोकरें खा-खा कर गिरते रहे हैं और गिर रहे हैं। इन के द्वारा तकलीफ़ भी लोगों को बेहद पहुँच चुकी है। इन्हें पकड़ कर और पहचान कर इन का सामाजिक बहिष्कार कर देने की कसर अभी बाकी है, जिस के लिये मार्ग-प्रदर्शन की आवश्यकता है। इसी प्रकार के मार्ग–प्रदर्शक के रूप में प्रस्तुत पुस्तक पाठकों के हाथों में है। ये चोर और तस्कर भी आदमी की शकल में कोई चीज़ नहीं हैं, बल्कि वे परंपरायें, नैतिकतायें, और लैंगिक बंधन हैं, जो दिनरात हमारे शरीर और मन की श्री को लूट कर उदरस्थ करते चले जाते हैं।

नैतिकता और परम्परा की पैरवी करने वाले लोगों में भी, हो सकता है, बड़े, बुजुर्ग और बुद्धिमान लोग मौजूद हों। लेकिन बुद्धिमान होना और बात है और अध्ययनशील होना और। इस ज़माने का ज्ञानविज्ञान इतने ऊंचे स्तर को पहुँचता चला जा रहा है कि एक व्यक्ति सभी दिशाओं में बुद्धिमान् होने का दावा नहीं कर सकता। इसी लिये अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है, और दिन-प्रति-दिन के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के लिये प्रत्येक दिशा में थोड़ेबहुत अध्ययन की जरूरत है। पं० जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में : "ऐसे मुल्कों में, जो तिजारत के लिहाज़ से तरक्क़ीयाफ़्ता हैं, जहां कि हर शख़्स खुद-ब-खुद नई-से-नई ईजादों या तरीकों को इस्तेमाल में लाता है या उन से फायदा उठाता है, हमें ऐसे यकीन और विचार के लोग मिलेंगे, जिन्हें कि दलील इनकार करती है और अकल कबूल नहीं करती, और यह देख कर हद दर्जे का अचरज

होगा कि दलील और अकल की उम्दा मिसाल हुए बगैर कोई राज-नीतिज्ञ कामयाब हो जाए। एक कानूनदां मार्के का वकील और न्यायशास्त्री होते हुए भी और बातों में हद दर्जे का जाहिल हो सकता है।" (हिंदुस्तान की कहानी, हिंदी संस्करण, पृष्ठ ११४)। सेक्स के विषय में, समग्र दृष्टि से, हिंदी भाषाभाषियों का ज्ञान प्रायः अधूरा और अपरिपक्व है यह एक तथ्य है। इस विचार से इस प्रकार की पुस्तक की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ जाती है, जो सेक्स के सम्बन्ध में नवीन, मौलिक और वैज्ञानिक सुझाव प्रस्तुत करती हो।

हिंदुस्तान की जो सामाजिक और आर्थिक अवस्था आज दिखाई दे रही है, उसे दृष्टिगत रखते हुए तो अभी पचास साल भी कोई स्वतन्त्रता से पूर्ण आदर्श अवस्था आती प्रतीत नहीं होती। राजनीति विज्ञान के अनुसार कोई अवस्था आनी चाहिए, किंतु उस के लिए बढ़िया-बढ़िया हल भी मौजूद हों, तो भी वह अवस्था आसानी से नहीं आ जाती। तब हल प्रस्तुत करने वालों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे देखें कि किन लोगों को, सामूहिक रूप से किन किन वर्गों को इस परिवर्तन से लाभ पहुँचेगा और वे इस लाभ से लाभान्वित होने के लिए, कब और किस प्रकार जल्दी-से-जल्दी इच्छित स्थिति ला सकते हैं।

यह बात नहीं कि इस पुस्तक में इन बातों की चर्चा बिल्कुल ही न की गई हो। इस में दिए गए सुझाव भी सोचने योग्य हैं और व्यावहारिक प्रतीत होते हैं, किन्तु जिस प्रकार की विशद राज-नीतिक पृष्ठभूमि की चर्चा ऊपर की गई है, उस की आवश्यकता अभी उन में अनुभव होती है। इस के विपरीत जिन संभावनाओं एवं प्रतिसम्भावनाओं तथा आदर्शों की व्याख्या विद्वान् लेखक ने आने वाले पृष्ठों में की है, हमारी आंखों के सामने पड़े परदों को हटाने में उन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा, इस में कोई संदेह नहीं है।

१८४/४ नौचंदी रोड, मेरठ
दिनांक १५ अगस्त, १९५९

[signature]

प्रस्तावना

यौन विषयक बातों से ही मेरा मस्तिष्क भरा हुआ नहीं है। यह तथ्य मुझे एक ऐसे विषय पर अधिकारपूर्वक बोलने की योग्यता प्रदान करता है, जो भली प्रकार राजनीति के अंतर्गत है। उडमंड बर्क के इस कथन के अनुसार कि 'सच्ची राजनीति के सिद्धांत बिलकुल वही हैं, जो विस्तृत नैतिकताओं के सिद्धांत हैं' कहना चाहिए कि यह विषय राजनीति का ही एक विस्तृत अंग है। यदि यह ख्याल किया जाए कि एक दूसरे का परिवर्द्धित रूप है, तो व्यक्तिगत नीतिशास्त्र से राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय नीतिशास्त्र पर पहुंचने में वामन के डगों की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। 'मानव मात्र की भलाई के अध्ययन में' सेक्स राजनीति से भी अधिक महत्त्व रखता है। हम समाज में एक ऐसी अवस्था की कल्पना भी कर सकते हैं, जिस में राजनीति या तत्संबंधी किसी विचार को स्थान न मिले, किंतु इस बात की संभावना कठिनाई से ही होगी कि समाज में कोई ऐसी अवस्था भी आ सकती है, जिस में सेक्स का स्थान न हो।

सेक्स की अनुभूति को 'संतानोत्पत्ति की अनुभूति' कहना बड़ी अहम्मन्यता की बात होगी। कोई भी व्यक्ति भूख को 'जीने की अनुभूति' नहीं कहेगा। जीवन और संतानोत्पत्ति किन्हीं विशेष अनुभूतियों की संतुष्टि का परिणाम है न कि स्वयं में ही अनुभूतियां हैं। विलियम मैकडूगल अपनी पुस्तक 'नीतिशास्त्र और आधुनिक विश्व की समस्यायें' में प्रतिपादित करते हैं: "सम्पूर्ण सत्य एवं नैतिक व्यवहार की एक मात्र राह, परोन्मुख प्रवृत्ति ही हमें यह कामना करने को प्रेरित करती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रत्येक मानवीय एवं तीव्र इच्छा को कार्यान्वित व तृप्त करने की स्वतन्त्रता हो, विशेष रूप से उन में से सर्वोपरि अपनी वंशवृद्धि की इच्छा को।" इस दशा में यह परिणाम निकालना कि "इस प्रकार का कार्य व संतुष्टीकरण किसी भी उच्च स्तर की सभ्यता के जीवन और प्रगति के साथ साथ चलने के योग्य नहीं है," साधारणतः उन विचारकों में पाए जाने वाले अस्वाभाविक रुख का चरित्र-चित्रण करता है, जो गाड़ी को घोड़े के आगे रखने की चेष्टा करते हैं।

उदर संबंधी विकारों की इतनी अधिक घटनाओं ने भी हमें नैतिक या वैधानिक क्षेत्र में किसी प्रकार के ऐसे नियम बनाने की बात सोचने का अवसर नहीं दिया, जो लोगों के आहार को साधारणतः अस्पतालों के राशन

तक सीमित कर दे । सेक्स अनुभूति के अत्यधिक अनियमित व्यवहार और तृप्ति से चाहे बुरे परिणाम ही क्यों न निकलते हों, फिर भी वे किसी नैतिक या वैधानिक रोकथाम की आवश्यकता सामने नहीं रखते । इस प्रकार की रोक उसी तरह अनैतिक और असहनीय होगी, जैसे उदर-विकारों को दूर करने के लिये सार्वजनिक रूप से अस्पतालों के भोजन की व्यवस्था । ठीक जिस प्रकार हमारे पास पेट की बीमारियों को दूर करने के लिए सीधीसादी औषधियां हैं उसी प्रकार सेक्सजनित विकारों को, विशेष रूप से अधिक संतानोत्पादन को रोकने के लिए भी सीधीसादी औषधियों का प्रयोग करना ही अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण हल होगा । नैतिक व शारीरिक रोगों के निषेधात्मक उपचार उन बुरी से बुरी बीमारियों से भी अधिक हानिकारक हैं, जो अनुभूतियों के अतिपोषण से उत्पन्न होती हैं । यह आज की घनी और सघन जीवोत्पत्ति और राक्षसी जीवन से, जिसे हम ने अपने ऊपर थोप लिया है, भली प्रकार प्रमाणित होता है ।

यद्यपि भूख और अच्छे भोजन की रुचि मानव की प्रारंभिक अनुभूतियाँ हैं, तो भी उन में से कुछ तो असंयमित तृप्ति के सम्मुख बलि हो जाती है, और परिणाम में हानि उठानी पड़ती है । साधारण व्यक्तियों में संयम का काफी प्रभाव रहता है, जो उन्हें मुसीबत से बचाता है । यह सत्य है कि ये अनुभूतियां इच्छा की भांति जितनी चाहे बढ़ाई जा सकती हैं और फिर भी समाप्त नहीं होती, किंतु यही सत्य हमारे इस तर्क को और भी अधिक बल देता है कि जानबूझ कर की गई अति को रोकने के लिये बाह्य अवरोध सर्वथा अनपेक्षित हैं । मुझे इस में संदेह है कि कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति यहां तक कह गुजरेगा कि आत्महत्या के लिये जिस दंड को विधान ने लागू कर रखा है उस ने अपेक्षाकृत आत्महत्याओं की संख्या में किसी प्रकार की कमी कर दी है । इस प्रकार के दण्ड-विधान का एक ही परिणाम हो सकता है कि ऐसे प्रयत्नों में असफलताओं की संभावनायें और कम हो जायें ।

नारी, विवाह और सेक्स से सम्बंधित आज के विधान और नैतिकताओं का दिवालियापन घोषित करने वाली पुस्तकें इतनी अधिक हैं कि उन की संख्या कूतना कठिन है । फिर भी स्थापित रीतिरवाजों के प्रति जनता के रुख में कोई भी उल्लेखनीय परिवर्तन इन के द्वारा हुआ दिखाई नहीं देता । सम्भवतः इन में से कुछ तो पर्याप्त गम्भीर व अधिकारपूर्ण समझी जाती हैं । लगभग ये सभी पुस्तकें उत्तेजक चाहे भले ही हों, किंतु कोई भी अपने विषय के प्रति वफादारी नहीं निबाहती । बर्ट्रेन्ड रसेल, एच० जी० वेल्स, वी० एफ० कालवरटन, हैवलॉक एलिस और फ्रॉयड अपनी तमाम

रचनाओं के बावजूद भी जीवन के किसी ऐसे दर्शन की स्थापना करने में सफल नहीं हुए, जो इस युग की सार्वजनिक मान्यता पा सके। मनु, व्यास, ईसामसीह, मुहम्मद और बुद्ध ने अपने युगों की जनता के नैतिक व्यवहार पर ही प्रभाव नहीं डाला, बल्कि वे आज भी इस देश के जीवन को अस्तव्यस्त कर रहे हैं, जब कि मुकाबले में यह तर्क भी विद्यमान है कि जो उपदेश उन्हों ने दिए थे उन में आज की वास्तविकता का सामना करने के लिए, विशेषत: नैतिकताओं के क्षेत्र में, नाम मात्र के ही सत्य शेष रह गए हैं।

इस में कोई संदेह नहीं कि मार्क्स और उस के आदर्शों ने जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण में सुधार किया है और मार्क्स की शिक्षायें उन को भी संजीवनी देती हैं, जो समाजवाद में विश्वास नहीं करते। यद्यपि स्टालिन के नेतृत्व में कट्टरपंथी साम्यवाद ने उस भावना के अधिकांश पर पानी डाल दिया है, लेकिन स्वयं समाजवाद अब भी हमारे बहुत से विषम रोगों के लिए एक हल प्रस्तुत करता है। क्या तब तक हम प्रतीक्षा करें, जब तक कि समाजवाद उद्भूत हो कर हमारी जनता को व्यवहार और नीति की शिक्षा देना आरम्भ कर दे? यदि इस का उत्तर हां में दिया जाए, तो उस में उतनी ही बुद्धिमत्ता होगी, जितनी बच्चे को उस समय तक घुटनिया चलने को मना करने में, जब तक कि वह भली प्रकार विश्वास-पूर्वक चलने न लगे। आज नहीं तो कल—हालांकि वह कल बहुत दूर नहीं—यह पूर्णतया निश्चित है कि इस पुस्तक में तथा इस प्रकार की अन्य पुस्तकों में प्रतिपादित आदर्शों के अनुसार हमें अपने जीवन को फिर से ढालना होगा। यह हमारे लिए अच्छा ही रहेगा कि हम उस परिवर्तन के लिए अपने को पहले से ही तैयार कर लें, ताकि जब वह आए, तो हमारे विशाल बहुमत को उतना बगावत से भरा प्रतीत न हो। यदि हम परिस्थितियों को उस के आगमन के अनुकूल न बना पाए, तो यह भी सम्भव है कि वह परिवर्तन कभी आए ही न।

नैतिकताओं की निश्चित प्रणाली एक अच्छी सरकार को सहायता पहुंचाती है। इस सहायता में सभी वयस्कों का हाथ होता है। किंतु इस निश्चित प्रणाली में जो भी कुछ है वह काफी अरसे से मतभेद का विषय रहा है। वास्तव में कोई भी प्रणाली नियोजित सरकार के आकारप्रकार पर निर्भर रहती आई है। यदि सम्पति पर जोर अधिक रहता है और अच्छी सरकार का काम कुछ सुविधा-प्राप्त व्यक्तियों को शांति-पूर्वक उस का उपभोग करने का आश्वासन देना मात्र रहता है, तो कट्टर एकपत्नीत्व और विवाहित स्त्रियों के लिए कठोर सतीत्व, उन के लिए लाल रोशनियों से मंडित एक

विस्तृत क्षेत्र, निश्चित रूप से सहायक होंगे। दूसरी ओर, जिस सरकार का उद्देश्य इच्छाओं से मुक्ति, बराबरी, स्वतन्त्रता और सभी के लिए सुख-सुविधा हो, उस के आधारभूत ढाँचे पर नैतिकताओं का एक ऐसा विधान, जो उस के नागरिकों को सेक्स के उचित प्रकटीकरण से रोकता हो, जड़ पर कुठाराघात करता मिलेगा।

एक अन्य दृष्टिकोण से देखने पर पता चलेगा कि सभ्यता के नीति-शास्त्र सम्बंधी निषेधों ने, जो बड़े ही निर्णयात्मक ढंग से उस के अतीव बनावटी नैतिक संविधान में प्रकट किए गए हैं, 'प्राकृतिक सेक्स सम्बंधी चुनाव' के कार्य को क्षति ही नहीं पहुंचाई है, बल्कि सम्पूर्ण जाति के विकास के मलियामेट हो जाने के मूल्य पर भी उस का विरोध ही किया है। इसी के अनुभव पर टी० एच० हक्सले महोदय का कथन है : "ठीक जिस प्रकार प्रकृति की सत्ता के विरुद्ध समाज को कायम रहने के लिये अपने अधिकारपूर्ण प्रकटीकरण की आवश्यकता रहती है—किंतु यदि उसे अपने भीतर स्वच्छंद क्रियाकलाप की अनुमति दे दी जाए, तो वह समाज नष्ट होने से नहीं बचेगा—उसी प्रकार नैतिक प्रणाली के सार, संयम, जो किसी भी समाज के अस्तित्व के लिए कम आवश्यक नहीं है, की अधिकता भी विनाशकारी सिद्ध हो सकती है।"

हमारे समाज में साधारणतः प्रचलित अनमेल जोड़ों के उदाहरणों से ऊपर के सिद्धांत का चित्रण हो सकता है, जिन में धनीमानी, उजड्ड और अस्वस्थ व्यक्ति वैधानिक रूप से किसी भी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी को विवाह-बंधन में बांध लेते हैं, किसी शारीरिक आकर्षण से नहीं, बल्कि अपनी उस अवस्था के कारण जो धन ने समाज में उन्हें प्रदान कर रखी है। यह बात भी नहीं कि वे सुन्दरियां उपयुक्त वर पाने के लिए प्राकृतिक इच्छा नहीं रखतीं, बल्कि उच्चतर सामाजिक स्तर पर पहुंचने का लोभ उन की प्राकृतिक अनुभूतियों को दबा लेता है और वे जीवन के सब से मधुर आनन्द से अपने को वंचित कर लेती हैं। लक्ष्मी का अनुसरण ही प्रसन्नता का अनुसरण नहीं है। धन की अधिक प्यास से जो मानसिक थकान किसी भी व्यक्ति या प्रमादी जीव को होती है वह निश्चय ही उसे अनवरत रूप से स्वस्थ नहीं रख सकती।

पीछे कही गई बातों से पाठकों ने यह निष्कर्ष निकाला होगा कि इस पुस्तक का उद्देश्य लैंगिक स्वच्छंदता का उपदेश देना है और लेखक सेक्स की अनुभूति के सीमाहीन प्रतिपालन की पैरवी करता है। यह कहना सत्य से बहुत दूर जाना होगा, किंतु इस के लिए पाठक को दोष नहीं दिया जा सकता। जिस प्रकार खानपान में अनवरत रूप से व्यस्त नहीं रहा जा

सकता, उसी प्रकार सेक्स में बराबर स्वच्छंद नहीं रहा जा सकता, और लेखक जो कुछ भी आगे आने वाले पृष्ठों में कहने जा रहा है वह साधारण और सामान्य जीवन बिताने के मामले को ही फिर से उठाना है। एक ऐसे समाज में, जो वास्तविक रूप से स्वतन्त्र रहना चाहता है, सेक्स को दबाने के लिए सिवा ऐसे नैतिक बंधनों के, जो भूख और प्यास को बुझाने के विषय में लागू हो सकते हैं, और किसी प्रकार के बंधनों की आवश्यकता नहीं है। वर्त्तमान रोकटोक से भरपूर जीवन के मुकाबले में जब एक सामान्य जीवन की तुलना की जाती है, तो उसे आसानी से स्वच्छंदता का नाम दिया जा सकता है। किंतु इस सत्योक्ति में कसूर उस का नहीं है, जो सामान्य जीवन की पैरवी करता है। इच्छित या अनिच्छित रूप से यदि संसार ने इन अवरोधों को सहन करना ही बेहतर समझा है, तो यह आरोप भी सभी लोगों के ऊपर बराबर थोपना होगा और परिणाम भी सब को बराबर बराबर भुगतना पड़ेगा। यदि समाज में किसी विद्रोह का सूत्रपात होता है, तो उस के केवल यही अर्थ हैं कि समाज के संगठन में उसी जोड़ के कुछ परिवर्तन अंतरिक्ष से आने के लिए तैयार बैठे हैं।

हमारे बहुत से महान विचारकों का ख्याल है कि सम्भवतः और युगों की अपेक्षा यह युग सेक्स सम्बंधी भावनाओं से इतना ओतप्रोत है, जितना पहले कभी नहीं हुआ है। कुछ लोग तो यहां तक कह चुके हैं कि यह केवल अश्लील उछलकूद के नृत्य का युग है। यह कथन पूर्णरूपेण भद्दा है। साधारण मनुष्यों से अधिक तो कट्टरपंथी ही सेक्स से पीड़ित हैं। वह लड़की जो मनुष्य का परछावां देखते ही घूंघट निकाल लेती है उस लड़की की अपेक्षा अधिक सेक्स-चेतना रखती है, जो घूंघट न निकाल कर यह समझती है कि उस का किसी के द्वारा देख लिया जाना ऐसा ही है, जैसा घूमने जाते समय हवा से टकराना। कोई भी व्यक्ति इस विचार से किसी गम्भीर या चंचल लड़की में भेद नहीं कर सकता। सेक्स अनुभूति की धारा दोनों के मस्तिष्क में अबाध रूप से बहती है। यही तथ्य कि हम ने उत्तराधिकार में एक कठोर नैतिक विधान प्राप्त किया है, निश्चित रूप से प्रकट करता है कि हमारे प्रपितामह-गण सेक्स की भावना से बुरी तरह पीड़ित थे। लेविस मोरगन महोदय के विश्लेषण के अनुसार सम्भवतः इतिहास में, सिवा जंगली काल के, कोई ऐसा युग नहीं गुजरा है, जब मनुष्य का मस्तिष्क सेक्स की अनुभूति से पूर्णतया प्रभाविन न रहा हो।

ज्यों ज्यों नारी के अभ्युत्थान की समस्या खड़ी होती गई, विवाह के सम्बंध में पितृसत्तात्मक विचार लुप्त होते चले गये। जीने की स्वतन्त्रता के पहले अर्थ हैं सोचने की स्व त्रता और जो भी व्यक्ति विचार-स्वातंत्र्य

के योग्य है वह आज्ञाकारिता के प्रति कम ही झुकेगा। पितृसत्तात्मक आदर्श नारी से आंख मूंद कर आज्ञापालन करने की कामना करता है, चाहे वह कितना ही दमनपूर्ण क्यों न हो। यदि साधारण नारी को इस विषम दमन से बचना है, तो विवाह के बंधनपूर्ण कर्त्तव्य के स्थान पर मनचाहे समय के लिए इच्छित सहयोग की अवस्था अवश्य आएगी।

कठोर एकपत्नीत्व के परिणामस्वरूप अधिकतर मनुष्य बुराई की ओर खिंच गए हैं, और जहां जहाँ स्त्रियों को व्यापारिक सेक्स-सम्बंध जीवन-यापन की सुविधा नहीं दे पाते, वहां वहां वे चोरीछिपे यौन-तृप्ति का आनंद खोजती हैं। जो संख्या इस से बच गई है वह बहुत कम है। स्त्रियों के मामले में चोरीछिपे की सेक्स-तृप्ति स्वजाति-मैथुन, हस्त-मैथुन जैसे दुराभ्यासों के रूप में मिलती है, जो इस हद तक उन्हें गिरा देती है कि उस की नापतौल नहीं हो सकतीं। विवाहित और अविवाहित स्त्रियों की एक बड़ी संख्या वयःप्राप्त और नीच मनुष्यों का सहयोग खोज लेती है। साधारण परिस्थितियों में वे ऐसा कभी न करतीं। यह सब इन्हीं अमानवीय विधिनिषेधों के कारण होता है, और वह भी सब इस चोरी व भय की भावना के अंतर्गत कि दुनिया उन की कमजोरियां न जान पाए। जो स्त्रियां इस भय से बुरी तरह आक्रांत हो जाती हैं उन में स्नायुविक रोग, हिस्टीरिया, मानसिक अस्तव्यस्तता और ऐसी ही अन्य सैंकड़ों बीमारियाँ, जिन का सही सही निदान भी नहीं हो पाता, घर कर लेती हैं। जो अधिक साहसी होती हैं वे आर्थिक रूप से हीन लोगों के हाथों में फंस कर सेक्स के व्यापार-जगत में हीन अवस्था में रोजी कमाती हैं। सम्भवतः इसी एक तथ्य के आधार पर धर्मपिताओं की ओर से तमाम स्त्रियों के लिए यह फतवा दे दिया गया कि वे सर्वथा अनीतिपूर्ण तथा पतन की खान हैं और इस दुनिया के परदे पर जो भी दण्ड-भेद आज तक ईजाद हुए हैं वे सब उन के लिये उचित हैं।

इस देश में कदाचित् ही कोई ऐसा मनुष्य मिलेगा, जो वेश्या के शयनकक्ष से बच कर निकल गया हो। विवाहित पुरुष भी इस के अपवाद नहीं हैं, और यदि बर्नार्ड डी मेनडेविल के कथन पर विश्वास किया जाए, तो "ऐसी जगह अपना मुंह काला करने वाले अधिकतर विवाहित पुरुष ही होते हैं।" यदि पुराणपंथी नैतिकताओं के गर्भ से इसी प्रकार की स्वच्छंद और खुली प्रवृत्तियों का जन्म अनिवार्य है, तो आज जो चारों ओर यौन-व्याधियों का बोलबाला है, उस के लिये आश्चर्य करने को कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

संसार भर में अब यह मान लिया गया है कि नैतिकताओं के वर्त्तमान

ढांचे में रहते हुए न ही सेक्स-सम्बंधी रोगों में कमी की जा सकती है और न ही वेश्यावृत्ति से छुटकारा मिल सकता है। फिर भी यह विचार कि हमें इन विनाशकारी तत्त्वों को मिटाने और तत्सम्बंधी संस्कारों को दोहराने के लिए एक मत नहीं होना चाहिए, हमें इस बेढगे और विस्मयजनक तथ्य पर ला पटकता है कि एक संगठित व सार्वजनिक हत्याकांड के बिना सब के लिए काम पैदा करने में हम अपने को असहाय अनुभव करें। नैतिक खोजबीन के परिणाम निश्चित रूप से सिद्ध करते हैं कि यदि पुरुषों को अपने सामान्य जीवन के भीतर विरोधी सेक्स का संग नहीं मिलता, तो दुनिया का कोई भी उपदेश उन्हें बाजार से सेक्स का आनंद खरीदने से नहीं रोक सकता। जहां पहले वे केवल मेलजोल से ही संतुष्ट हो जाते होंगे वहां से वे कुछ अधिक प्राप्त करेंगे, चाहे उस से उन्हें स्वस्थ सहचरण से मिलने वाला सुख प्राप्त न हो।

जन्म-निरोध के बारे में हमारा अधिक धार्मिक विरोध नहीं हुआ है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि हमारे विचारकों में से कुछ को इस विषय पर ध्यान देने का कोई न कोई अवसर मिल चुका है। ऋषियों के कामसूत्रों में जहां-तहां जन्म-निरोध के त रीकों का जिक्र है और जहां तक हिन्दुओं का संबंध है, संभवतः इसी से उन्हें ये तरीके व्यवहार करने की अनुमति भी मिल जाती है। मुसलमानों का दृष्टिकोण जानना अपेक्षाकृत कठिन है क्योंकि उनकी किसी भी धार्मिक पुस्तक में इस विषय पर निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा गया है। फिर भी केवल इन्हीं चीजों से इसकी कोई गारंटी नहीं मिल जाती कि यदि भविष्य में जन्म-निरोध की नीति को आबादी का जोर घटाने के लिए राष्ट्रीय पैमाने पर अपनाया गया, तो इस विचार का कोई धार्मिक विरोध नहीं होगा।

उपरोक्त वस्तुस्थिति से ही निकट संबंध रखने वाला एक प्रश्न यह भी है कि क्या हम वास्तव में जन-संख्या की अधिकता से त्रस्त हैं? गाँधी जी के अनुसार तो हम वर्तमान जनसंख्या से दुगुनी संख्या को खिलापिला सकते हैं, यदि कुछ विशेष शर्तें पूरी की जा सकें। इस मत की अधिकारपूर्ण पुष्टि के बावजूद भी विशाल जन-समूह की गरीबी ओर स्वास्थ्यहीनता और साधारणतः गर्भावस्था में स्त्री जाति की दुरावस्था बिल्कुल उल्टी ही बात सिद्ध करती हैं। साथ ही साथ जब तक हम साधारण जनता को स्वेच्छापूर्ण जन्मनिरोध के लिये उकसाने की ओर काफी प्रगति नहीं कर लेते, इस तरह के जातीय आत्महनन—जैसा कि यूरोप में आम तौर से कहा जाता है—के बारे में खुल कर बातचीत नहीं हो सकती।

इन पर तथा अन्य समस्याओं पर आने वाले पृष्ठों में मैंने जो भी

तर्क दिये हैं वे किसी प्रकार की स्वार्थ-वृत्ति से नहीं, बल्कि एक ऐसे व्यक्ति की तरह दिए हैं, जो देश की साधारण प्रगति के लिए अपनी कुछ देनदारी समझता है। छोटा या बड़ा, जैसा भी यह काम है, इस की आवश्यकता के बारे में कोई संदेह नहीं है, और मात्र यही प्रस्तुत पुस्तक के औचित्य का कारण है, जो इस से पहली पुस्तक 'राजनीति और समाज' से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

● ● ●

प्राचीन काल में स्त्रियां

संभवतः प्रथम नारी का जन्म भारत में नहीं हुआ था। मानव-शरीर-रचना-विज्ञान तथा जाति-विज्ञान के विद्वानों के अध्ययन तथा निरीक्षण से यही निष्कर्ष निकलता है। जब हौवा की बेटी ने इस देश में पग रखा, तो वह बहुत कुछ विवर्ण हो चुकी थी। कुछ भी हो, किन्तु उसकी पुरानी संस्कृति तो रह ही नहीं गई थी। यदि नहीं, तो संदेह होता है कि सभी स्त्रियां हौवा की बेटी नहीं हैं, या आरम्भ में एक नहीं बहुत सी हौवा थीं। खैर, जिस हौवा की आज पूजा की जाती है वह हब्शियों की जननी तो है नहीं, न ही वह अधिकांश भारतीय स्त्रियों की जननी है, जो पूर्णतया श्याम-वर्ण और सौंदर्य-विहीन हैं। आर्यों की शुभ्र-वर्ण बेटी की जननी अवश्य ही भारतीय रही होगी, नहीं तो वह हिन्दू आर्य नही हो सकती थी, जब तक कि आर्य महाशय वामन के पूर्वज ही न रहे हों, जिन का एक पैर उत्तरी स्टेपीज में और दूसरा गंगा के खादर में रखा हो। यह तथ्य कि हम हिमालय से केप कोमोरिन तक किसी एक बंदर की एक भी खोपड़ी खोज निकालने में सफल नहीं हो सके हैं, शरीर-रचना-शास्त्रियों की विद्वत्ता को पुरस्कृत करता है और हमारे कुल प्रागैतिहासिक काल को जाति-मिश्रण का काल घोषित करता है।

शरीर-रचना-शास्त्रियों और जाति-विज्ञान-शास्त्रियों की खोजों के आधार पर अपने भूत काल का अध्ययन हमें दूर तक नहीं ले जा सकेगा और न ही उस से सही सही यह ज्ञात हो सकना है कि भूत के अन्धकार में समाज की क्या दशा, रही होगी, और आगे आने वाले युगों में उसने किस किस प्रकार उन्नति की होगी। इस के लिये हमें दूसरे ही साधनों पर, विशेषतः बाचोफन और मोरगन की खोजों पर ही विश्वास करना पड़ता है। मोरगन के अनुसार मानव का पूर्व इतिहास दो स्पष्ट अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता हैं : जंगली, असभ्य और वहां से फिर सभ्यता की ओर।

ख्याल किया जाता है कि निम्नस्तरीय जंगलीपन के युग में मनुष्य पेड़ों की चोटियों पर रहना, कंदमूल फल खाना, जेसे प्राकृतिक साधनों पर ही जीवित रहता था। शायद उस युग का एक मात्र विकास अक्षरों व शब्दों को जोड़ कर बोलना ही रहा। इस प्रारम्भिक मनुष्य की साथिन की हैसियत से नारी की भी वही दशा रही, जो उस की रही और उनका सेक्स-जीवन भी प्राकृतिक अनुभूतियों से ही निर्देशित होता रहा। यह मानना ही पड़ेगा कि इस युग में विधिनिषेध कुछ नहीं थे, और यदि कभी स्त्री या पुरुष साथ साथ

रहते भी थे, तो वह भी अल्प काल के लिये गर्भावस्था या शिशुपालन की अवस्था में ही। इस बारे में हम निश्चित नहीं हो सकते कि यह स्थिति कितने काल तक रहती चली आई। संभव है हज़ारों वर्षों तक रही हो। यह भी सुरक्षित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भारत के किन किन भागों में प्रारंभिक मनुष्य जीवन बिताते रहे। अवश्य ही दुनिया के परदे पर किसी एक स्थान पर पशु-अवस्था से मानव का विकास नहीं हुआ होगा। पृथ्वी के विभिन्न भागों में जीवन की जो दशा रही उसी पर उसका अस्तित्व भी निर्भर रहा और भारतवर्ष में यत्र-तत्र फैले हुए बन अवश्य ही उसकी जाति के प्रारंभिक निवास स्थान रहे होंगे।

जंगलीपन के दूसरे दौर में मनुष्य द्वारा अग्नि का आविष्कार उसके आहार में एक मूल परिवर्तन ले आया। उसने भोजन पका कर खाना आरम्भ किया, भालों, मुद्गरों और पत्थर के औज़ारों से शिकार करने लगा और उसकी उपजातियाँ नदी किनारों और समुद्री पट्टियों के सहारे सहारे साधारण रूप से फैलने लगी। इन किनारों का सहारा उन्होंने इसलिए लिया कि उन में से कुछ अपनी रोजी के लिए अब मछली पकड़ने का धंधा अपना चुके थे। नरभक्षण इसी युग की देन है। भोजन-प्राप्ति की अनिश्चितता बहुत से लोगों को इस अंतिम मार्ग को अपनाने के लिए बाध्य कर देती थी और वास्तव में इस प्रकार उन में से बहुत से नष्ट हो गए। शेष वे रह गए, जो अधिक सशक्त और इस अग्निपरीक्षा से पार हो जाने की क्षमता रखते थे। जिन्हें प्रकृति ने भोजन और जलवायु की सुविधा दी वे तेजी से बढ़े और उन की संख्या में चतुर्मुखी बढ़ोतरी हुई।

जंगलीपन का तीसरा चरण धनुषबाण और अन्य नुकीले हथियारों की विशेषता ले कर आता है। गोद कर बनाई गई नावें, बुनी टोकरियाँ, लकड़ी के बर्तन व राँच तथा झोपड़ियां बनाने के लिए लकड़ी के तख्ते इस युग के उत्पादन हैं। जीवन इन प्रारंभिक मनुष्यों के लिए अपेक्षाकृत निश्चित हो गया। शिकार और मछली पकडना इनके भोजन में विभिन्नता उत्पन्न करते रहे।

मोरगन के वर्गीकरण के अनुसार जंगलीपन से असभ्यता के युग का संक्रमण मिट्टी के बरतनों के आविष्कार के साथ हुआ। इसका ढंग कुछ इस प्रकार हो सकता है : खाना पकाते समय लकड़ी के बरतनों को आग से बचाने के लिए गारे का उपयोग अब तक सार्वजनिक हो ही गया था। इस प्रकार उन में से कुछ बुद्धिजीवियों को मिट्टी से बन सकने वाले बरतनों की की संभावना पर प्रयोग करने का अवसर मिला। इस प्रयोग की सफलता और बरतनसाजी के विकास के साथ मनुष्य में सुरुचि व सौंदर्य-प्रेरणा उभरनी

आरंभ हुई। भोजन के लिए बेल व पौधों का उगाना, पशुपालन—जहाँ तक भारत का संबंध है, सामान्यत: गाय बैलों का पालन इस काल से आरंभ होता है। चरागाहों के अत्यधिक बढ़ जाने से एक समस्या खड़ी हो गई और बहुत से कबीले मैदानों में ऋतु के अनुसार जहाँ-तहाँ रुकते बिचरने लगे। देश के कुछ भागों में गांवों की स्थापना भी हो गई। फिर भी इसके यह अर्थ नहीं कि सभी ने इस प्रवृत्ति को अपना लिया। जो पुराने रीतिरवाजों से चिपटे रहे उन्हें छोड़ दिया गया और दूसरे लोगों ने अन्य भागों के विचरते-रमते लोगों से मिलजुल कर नए विचार और मित्रताओं को अंगीकार किया। इस काल में कबीलों-कबीलों के विकास में भेद होने के कारण उन में भेदभाव उपजा और समय समय पर आपस में मरणान्तक संघर्षों का सूत्रपात हुआ। बोलचाल के भेद ने भी कबीलों के स्वाभिमान को बल दिया, जो हमारे वर्त्तमान राष्ट्रप्रेम का ही पूर्व रूप है।

नदियों के खादरों में, उत्तरी भारत के मैदानों में, मध्य भारतीय पठार में, देश के पूर्व से पश्चिमी भाग की समुद्री पट्टियों में विभिन्न रूप से विकसित होती हुई जातियां अपनी आजीविका चलाती रहीं। अधिक साहसी व्यक्ति पड़ोसी जातियों के लोगों के संपर्क में आए, नए शब्द और नए विचार ग्रहण किए और इसी कारण पड़ोसी कबीलों में समानताएं पनपीं। कुछ प्रवृत्तियां घृणित समझी गईं, कुछ आत्मसात् कर ली गई, जैसी संबंधित लोगों की रुचियां रहीं। क्षेत्रों, जानवरों, पेड़ों और नदियों के नाम से उन जातियों में भेद किया जाने लगा, और एक व्यक्ति, जो शेर के नाम से पुकारे जाने वाली जाति का होता, उस व्यक्ति से अकड़ा रहता, जो शृगाल और श्वान के नाम से पुकारे जाने वाली जाति का सदस्य होता, जबकि लोकमान्यता में सूर्य के वंशधर इन तीनों ही प्रकार की जातियों से ऊपर रहते।

भवन निर्माण के लिए ईंट, पत्थर और गारे ने मानवी जीवन को और भी अधिक महत्त्वपूर्ण सुरक्षा प्रदान की और उसे आगे भी विकास के लिए प्रेरित किया। लोहे तथा अन्य धातु-खनिजों के पिघलाने, लेखन के आविष्कार ओर नरभक्षण की प्रवृत्ति के संपूर्ण विलीनीकरण ने सभ्यता, कला व उद्योग के युग के आविर्भूत होने में तत्परता से काम लिया।

यदि मोरगन के वर्गीकरण के अनुसार होमर की कविताओं के यूनानियों को असभ्य युग के उच्चतर काल से संबंधित किया जा सकता है, तो सिंधु की घाटी के भारतीयों ने भी सभ्यता को इसी प्रकार की वस्तुएं उत्तराधिकार में दी हैं, जिन्हें एंगेल्स के शब्दों में : "पूर्ण विकसित लोहे के औजार, धोंकनियां, हाथ की चक्की, कुम्हार का चाक, तेल और

शराब का निर्माण, उत्कृष्ट कला के रूप में विकसित धातु का काम, गाड़ी और युद्ध के रथ, लट्ठों और तख्तों से जहाज का बनाना, स्थापत्य निर्माण का कला के रूप में आरंभ, मीनारों और युद्धोपयोगी प्राचीरों से मंडित नगर, होमर का महाकाव्य और एक संपूर्ण धर्मदर्शन" कहा गया है।

जलवायु की दशा में परिवर्तन, किसी समय के समृद्ध और उपजाऊ प्रदेशों का मरुभूमियों में बदल जाना, नदियों के रास्तों में परिवर्तन हो जाना और विदेशियों के आक्रमणों का प्रभाव कुछ स्थापित नगरों पर विनाशकारी पड़ा और उसने वहां के निवासियों को देश के दूर अन्तर में तथा दक्षिण के समुद्री किनारों के आसपास बिखर जाने के लिये बाध्य किया। अब भारत की विभिन्न बोलियां एक समान भाषा-परिवार का रूप ले चुकी थी। इसे अब भारतीय भाषा-परिवार का नाम दिया जा सकता था, जो अब समान वाक्य विन्यास के नियमों तथा समान बोलचाल के आधार पर उत्तर भारतीय और दक्षिण भारतीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व करती थी। इस सुधार ने संभवत: एक तीसरी भाषा को जन्म दिया। यह संस्कृत का प्राचीन रूप था, जो वेदों की भाषा मे भी पुराना था और जो अब अतीत के अन्धकार में लुप्त हो चुका है। इस युग को पूर्व वैदिक काल से मिलाने वाला कोई सूत्र हमें नहीं मिलता। फिर भी यह सुरक्षित रूप से कहा जा सकता है कि पूर्व वैदिक विकास बड़े पैमाने पर किसी विदेशी मिश्रण का परिणाम नहीं है, जैसा कि ख्याल किया जाता है। इसके पक्ष में ऋग्वेद के कुछ सूत्रों की टीका भी पूर्णरूपेण माननीय नहीं है। वेदों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता के बारे में तो मैं चार्वाकों से सहमत होने को तत्पर हूं कि "स्वयं वेद ही असत्य नामों से प्रतिपादित धूर्तों की पाखंडोक्तियां हैं।" कबीले कबीलों से घृणा करते थे और जो लोग उच्च वंशानुक्रम के दावेदार थे उनके लिये सुदूर स्थित हिमालय की ऊंचाइयां स्वर्ग तथा मोक्ष की प्रतीक थीं और वे उन्हें अपने पूर्वजों का निवास स्थान बताते थे। उस युग की सामाजिक स्थितियों के दिग्दर्शन के अतिरिक्त वेदों का और कोई मूल्य नहीं है। बहुत से लोग इस बात से क्रुद्ध हो जायेंगे क्योंकि भारतीयों के आर्यों से उद्भूत होने के उनके प्रिय सिद्धांत इस से खंड खंड हो जाते हैं।

श्रम के उत्पादन का मूल्यांकन करने से ज्यों ज्यों मनुष्य का विकास हुआ त्यों त्यों नारी की स्थिति भी गिरती चली गई। जब श्रम के उत्पादन पर व्यक्तियों का अधिकार न था और प्राकृतिक साधन संपत्ति नहीं माने जाते थे, तब नारी की स्थिति अधिक बदली हुई नहीं थी।

यद्यपि इसके निश्चित प्रमाण नहीं मिलते, फिर भी परिवार के बारे में किसी भी प्रकार की बनावट से पहले एक काल में लैंगिक स्वच्छदता का अनुमान

किया जाता है। प्रारम्भिक जीवन के युग को लैंगिक स्वच्छंदता का युग कह देना फिर भी एक अतिशयोक्ति होगी। यह सत्य है कि सेक्स के सम्बन्ध उस समय किसी प्रकार के विधिनिषेधों से नही बंधे थे, किन्तु अनिवार्यतः इसके ये अर्थ नहीं हैं कि उस काल के लोग साधारणतः व आवश्यकता से अधिक वासना में ही लिप्त रहते थे। संभवतः इस आरोप के बारे में हमारी यह धारणा तब बनती है, जब हम प्रारम्भिक मनुष्य को जंगली कहते हैं और उसके ये अर्थ लगाते हैं कि वह भयानक, गंवार और क्रूर था—हालांकि इस तरह का प्राणी वह हरगिज भी नही था।

प्रारंभिक सेक्स-संबंध (अपने वर्तमान रीतिरवाजों से मैं इसे अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण व सभ्य समझता हूं) से अगला कदम सामूहिक विवाह प्रणाली के विकास का आता है, जिस में अनेक पुरुषों का एक समूह अनेक स्त्रियों के दूसरे समूह से विवाह कर लेता था और इस सम्मिलित समूह में हर स्त्री-पुरुष आपस में एक-दूसरे के पति-पत्नी होते थे। यह एकता मनुष्य में संघीय भावना के विकास और कबीले के भीतर द्वेष की भावना के पूर्ण अभाव की घोषणा करती है। अपने रक्त वाले व्यक्ति से सेक्स-संबंध का भय, विधि-निषेधों का डर तथा द्वेष की भावनाएं आदि स्त्री-पुरुष के संबंधों में बाद में विकसित हुए, और यहीं से विवाहित समूहों के पीढ़ीगत अलगाव के साथ बंधन का आरंभ हुआ। एंगेल्स के शब्दों में : "यहां पर पीढ़ियों के अनुसार विवाहित समूह अलग अलग हो गये। एक परिवार की सीमा के भीतर सभी दादा-दादियां एक दूसरे के पति-पत्नी हैं। उसी प्रकार उनके बेटे-बेटियाँ यानी सभी माताओं व पिताओं का एक-दूसरे से संबंध है। उनके बच्चे-बच्चियां आपस में पति-पत्नी के संबंध का तीसरा चक्र स्थापित करेंगे और इसी प्रकार पहले समूह के पड़पोते और पड़पोतियां चौथा चक्र बनाएंगे। "विवाह संबंध एक ही पीढ़ी के सदस्यों तक सीमित करने की प्रथा के आरंभ को प्राकृतिक चुनाव की भावना का कार्य कहा जा सकता है, जिसका भाव यह है कि आयु की विषमता अवश्य ही जाति के विनाश अथवा बढ़ती हुई बुराई का कारण बनी। जंगली युग और इस युग के इस रवाज में आज की कुसभ्य अवस्था से अधिक सभ्यता है, जिस में ढीले-ढाले और वृद्ध पुरुष के पल्ले दस से बीस साल तक की कन्याओं को बांध देना एक साधारण और लाभदायक प्रथा ख्याल की जाती है और इसी में सामाजिक सुरक्षा निहित समझी जाती हैं। एक से रक्त का एक परिवार, जिस में माता-पिता के बच्चों से मिलने का निषेध हो, निश्चित रूप से इस लिहाज से अधिक बुद्धिसंगत व लाभकारी था कि आज जिस हद तक हम वृद्धावस्था और युवावस्था का सेक्स-संबंध देखते हैं वह अवस्था उस समय नहीं थी।

परिवार के विकास में अगली अवस्था भाई और बहन के बीच यौन-संबंध के निराकरण की अवस्था है। मोरगन इसे पुनालुआन परिवार के नाम से पुकारता हैं। पुनालुआ के अर्थ हैं गहरा साथी या साझीदार (हवाईयान), जिसके अनुसार एक ही वंश के सगे या सौतेले भाइयों के पास समान पत्नियों के रूप में कुछ स्त्रियां होती थीं और ये पत्नियां एक-दूसरे को 'पुनालुआ' कह कर पुकारती थीं। इस से आगे के रीतिरवाजों में बड़ी तेज़ी से विभिन्नताएं पैदा हुई और कुछ जातियों में पहले, दूसरे, और तीसरे भाइयों के बीच में विवाह-संबंध वर्जित कर दिया गया। इस प्रणाली के साथ ही जन्म और गोत्र का संगठन प्रारम्भ हुआ। वंश तक समान माता से ही चलता था क्यों कि जब एक स्त्री, दूसरी स्त्री के समकक्ष ही सही, अनेक पति रखती थी, तो पिता को खोज निकालना आसान नहीं था। प्राचीन भारत में पुनालुआन परिवार के अस्तित्व का प्रमाण आज भी हमारे बीच प्रचलित सम्बंधों की श्रेणियों को पहचानने से मिलता है।

सामूहिक विवाह प्रणाली की उपज के साथ साथ जोड़ों पर आधारित परिवार की एक नई धारा भी मिलती है। यह एकपतित्व का पूर्व रूप है। इसके प्रारम्भिक प्रचलन में इस प्रकार के संबंधों में कोई स्थायित्व नहीं होता था और उल्लंघन भी दंडनीय नहीं था। किन्तु संपति की अधिकार-प्राप्ति के बाद दूसरे व्यक्तियों से स्त्रियों के मिलने की स्वतन्त्रता छिन गई। यद्यपि इस प्रकार की कोई रोकटोक पुरुषों के ऊपर नहीं मिलती, किन्तु स्त्रियों पर इसका सख्ती से पालन होता था। युगल परिवार के अलग अलग हो जाने की अनुमति थी और बन्दियों से विवाह कर लेना एक स्वीकृत संस्था ख्याल की जाती थी। द्वेष भावना की अपेक्षा अधिक योग्य के चुनाव की भावना ही इस सुधार का कारण थी।

यद्यपि स्वयं जोड़ों के आधार पर संयुक्त परिवार को पुरुषों व स्त्रियों की संख्या में असमानता का परिणाम नहीं कहा जा सकता, फिर भी यह अनुमान आसानी से लग जाता हैं कि इसके बाद का रूप, बंदी बना कर या खरीद कर विवाह कर लेने की प्रणाली, स्त्रियों की संख्या में कमी के परिणाम स्वरूप ही उभरी। स्वयंबर की प्रथा निश्चित रूप से दर्शाती है कि कुल आबादी में पुरुषों की संख्या स्त्रियों की संख्या से कहीं अधिक थी। संभवत: लोगों के बीच विवाह सम्बन्धों पर बढ़ती हुई रोकथाम की यही वजह थी। स्त्रियों की कमी उन पर स्वामित्व के अधिकार को और भी अपेक्षणीय बना देती है, और उन ,व निरन्तर अधिकार भविष्य में उनके अभाव की ओर से निश्चिन्तता उत्पन्न करता है।

एंगेल्स के शब्दों में: "जोड़ों के आधार पर निर्मित परिवार

पहलेपहल जंगली युग और असभ्य युग की विभाजन रेखा पर प्रारम्भ होते हैं। साधारणतः जंगली युग के अन्तिम चरण में ही ये मिल जाते हैं, किन्तु असभ्य युग के प्रथम चरण में तो लगभग सभी जगह दिखाई देने लगे थे।" जातियों से कबीलों के पास और कबीलों के सरदारों से बिना किसी झगड़े-टंटे के व्यक्तियों के पास संपत्ति के विकास के साथ ही साथ परिवार के संगठन की यह प्रणाली भी बढ़ी। विवाह संस्था के प्रत्येक उत्तरोत्तर विकास के साथ नारी की स्वतन्त्रता का भी ह्रास होता रहा। प्रारम्भिक काल में जोड़ों पर आधारित समाज में अलगाव की अनुमति थी, लेकिन बाद में जनमत इस रीति के विरुद्ध सख्त होता चला गया। स्त्री को व्यक्तियों से सम्बन्धित करने व उनकी स्वतन्त्रता के अपहरण करने के फलस्वरूप तीजत्योहारों पर उन्हें सेक्स की ओर से स्वतन्त्रता मिल जाती थी। बाचोफन इसके रंग-ढंग को नीचे लिखे शब्दों में प्रकट करता है :

"प्रति वर्ष दोहराने के स्थान पर यह भेंट केवल एक बार दी जाती थी। पहले विवाहित स्त्रियों को सार्वजनिक बनाया जाता था, फिर कुंवारी कन्याओं को बनाया जाने लगा। विवाह काल में स्त्री को सार्वजनिक बनाने के रवाज के बाद विवाह से पूर्व ही बनाने का रवाज चल पड़ा। यानी कुछ लोगों को चुन कर आत्मसमर्पण करने के स्थान पर स्त्रियों को बिना किसी भेदभाव के सभी को आत्मसमर्पण करना होता था।"

उसके बाद की सामाजिक अवस्थाओं के प्रतिबिंब स्वरूप उपनिषदों में वर्णित निम्न उद्धरण ऊपर वर्णित समाज-व्यवस्था से अधिक दूर नहीं हैं।

[1]"सत्यकाम जाबाल ने अपनी माता जाबाल से पूछा : 'मैं एक गुरु के पास ब्रह्मचारी की तरह रहना चाहता हूं। मैं किस गोत्र का हूं ?'

"उसने सत्यकाम से कहा : 'वत्स, मैं नहीं जानती तू किस गोत्र का है। अपने यौवन काल में जब मैं ने तुझे प्राप्त किया, तब मैं बहुत से व्यक्तियों की (अतिथियों की, जो मेरे पति के घर आते रहते थे) सेवा में नियुक्त रहती थी और इस विषय में पूछताछ करने का मुझे कोई अवसर नहीं था। मैं नही जानती कि तू किस गोत्र का है। मेरा नाम जाबाल है और तेरा नाम सत्यकाम। इसलिए तू अपने को जाबाल का पुत्र सत्यकाम बता देना।' "

वैदिक नाम दैत्य, वैनतेय, काद्रवेय, आञ्जनेय आदि, जो माता के वंश को सूचित करते हैं, प्रारंभिक काल में मातृसत्तात्मक वंश-प्रणाली के

---

१. श्री राजेन्द्र लाल मित्रा, 'हिंदुओं की धार्मिक पुस्तकें' खंड २।

अस्तित्व के लिए पर्याप्त ठोस प्रमाण हैं।

वाचोफन इस बारे में कहां तक सही है कि नारी के द्वारा सामूहिक विवाह-प्रथा से अनियंत्रित युग्म प्रणाली और वहां से एकपतित्व की प्रथा का अवतरण हुआ है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यह ऐसे हुआ होगा कि पुरुष ने निजी संपति के विकास के साथ भूमि का स्वामित्व, पशु-समूह और हथियारों को अपने लाभ के लिए सुरक्षित कर लिया और स्त्री को अनिश्चित परिस्थितियों में आर्थिक स्वतंत्रता से हीन ही रहने दिया। स्त्रियां ही प्रथम दासता का शिकार हुईं और इस दासता से राहत पाने के लिए उन्होंने इसी में अपनी सुरक्षा और संतोष समझा कि बजाए सभी की गेंद बनने और किसी का भी उत्तराधिकार न मिलने के, किसी एक को ही आत्मसमर्पण कर दिया जाए। पुरुष ने कभी इस आत्मसमर्पण की शर्तों को स्वीकार या कार्यान्वित नहीं किया, यद्यपि वह स्त्रियों के आंख मूंद कर अपना कर्त्तव्य पालन करने पर ज़ोर देता रहा। उसके लिए अब भी यह सामूहिक विवाह ही था। सभी दासियां उसकी रखैल होती थीं और जिस एक ने उसे आत्समर्पण किया होता था वह तो उसकी पत्नी थी ही।

प्रारंभिक समाज के सभी रूपों में वंश माता के नाम से ही चलता था। सामूहिक विवाह प्रथा में अकेली माता ही निश्चित रूप से पहचानी जा सकती थी, और क्यों कि विवाह कबीलों और कबीलों के बीच, अधिक उचित ढंग से कहा जाए, तो वंशों के बीच ही होता था, पति कभी स्त्रियों के वंश के सदस्य नहीं बने। पिता की मृत्यु पर उसके भाई और बहन, बहनों के बच्चे व उसकी माता की बहनें संपति के उत्तराधिकारी होते थे। भारतवर्ष के जो मातृ-अनुगामी अब भी शेष हैं वे इस प्रथा के चलन की पुष्टि करते हैं। यद्यपि अब यह प्रथा कुछ लोगों एवं सम्प्रदायों तक ही सीमित रह गई है, लेकिन उस काल में यह विश्वव्यापी थी। फिर भी यह प्रथा संपति के अधिकार की उभरती हुई भावना से विपरीत थी, और पुरुष के लिए संपति को अपने ही रक्त से उत्पन्न वंशज के नाम करने में रोड़े अटकाती थी। पुरुष क्यों कि संपति के निर्विवाद स्वामी हो गए थे, अतः समाज के मातृसत्तात्मक आधार को पितृसत्तात्मक आधार में बदलने के लिए नियमों का पुनर्गठन आवश्यक था। यह संक्रमण 'मातृ-अधिकार का उन्मूलन' अथवा 'नारी जाति की विश्व ऐतिहासिक पराजय' के रूप में प्रागैतिहासिक काल में संपन्न हुआ, क्यों कि प्रामाणिक इतिहास में इस संक्रमण-काल का कोई हवाला नहीं मिलता।

'परिवार' का समानार्थक शब्द अंगरेजी में 'फैमिली' है। यह शब्द आज समाज की समस्त सम्मान की भावनाओं का द्योतक है। इसका मूल

उद्गम लैटिन शब्द 'फैमुलस' से है, जिसके अर्थ हैं 'फेमिलिया' यानी एक पुरुष से संबंधित समस्त घरेलू दासदासियों का परिमाण। जब इस प्रकार का एक क्रूर विचार केवल समय की गति से नैतिक सहमति और आदर का स्थान पा सकता है, तो इस का भली प्रकार अनुमान हो सकता हैं कि जो सामाजिक संस्थायें और राज्य के सिद्धांत परिवार की अटूटता पर आधारित हैं वे वास्तव में कितने नैतिक और प्रजातांत्रिक हैं।

अब भी भारत में जो संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित है, वह उसी प्राचीन सिद्धांत का विस्तृत अंग है, जिस से सत्ता-प्राप्त वर्ग की सामंतवादी शक्ति व प्रतिष्ठा पनपी थी। परिवार के टूटने के साथ ही वर्त्तमान सामाजिक संगठन के सम्पूर्ण भवन को ढह जाना पड़ेगा और यदि परिवार और उस के द्वारा नारी पर थोपी गई दासता के विरुद्ध आलोचना पर कोई चिल्लपों मचाता है, तो उस के कारणों का खोजना भी कुछ बहुत मुश्किल नहीं है।

सभ्यता और लिपिबद्ध इतिहास के आविर्भाव के साथ विश्व भर में स्त्रियों के लिए कठोर एकपतित्व एक सामाजिक प्रथा के रूप में स्वीकृत होता है। भारत भी इस का अपवाद नहीं है। हमारा लिपिबद्ध इतिहास वेदों से आरम्भ होता है, यद्यपि इन में कोई अधिकारपूर्ण इतिहास जैसी चीज नहीं मिलती। वेद और पुराण उसी प्रकार ऐतिहासिक हैं, जिस प्रकार आने वाली शताब्दियों में किसी अतीव उत्साही व प्रशंसक पीढ़ी के लिये एच० जी० वेल्स के सब से अधिक कल्पना-प्रधान उपन्यास लिपिबद्ध इतिहास होंगे। साथ ही वेदों के महत्त्व को और समाज व सामाजिक सम्बंधों पर इन के अनवरत पड़ते हुए प्रभाव को कम कर के आंकना भी गलत होगा। इन तथा अन्य कारणों से वेदों, पुराणों और उपनिषदों के द्वारा सुदूर भूत के नैतिक विधानों, धार्मिक नियमों एवं सामाजिक अवस्थाओं के बारे में एक ऐसी पूर्ण पृष्ठभूमि मिलती है, जिस की अधिकारपूर्णता में गलती की गुंजाइश ही नहीं है।

जब तक स्त्रियों के लिए कठोर एकपतित्व न हो, निर्विवाद पितृसत्ता की स्थापना नहीं हो सकती और बिना निर्विवाद पितृसत्ता के पिता की सम्पत्ति पर पुत्र के उत्तराधिकार के दावे की स्थापना कठिनाई से ही होगी। सम्पत्ति के विचार और एक सेक्स के ऊपर दूसरे सेक्स के निरंकुश अधिकार से एक नीति-विधान या नियमों का ढांचा खड़ा किया गया, जिस से सेक्स-जीवन के प्राचीन धरातल से विचलित हो जाने वाली स्त्रियों को कड़ा दण्ड दिया जा सके। स्त्रियों के लिये सतीत्व एक दैवी गुण हो गया और इस नवीन आविष्कृत नैतिकता को उछालने के लिए इस पर कथा का, कथाओं की प्रत्येक कथावस्तु का, प्रत्येक धार्मिक दर्शन का और प्रत्येक धर्म का रंग

चढ़ाया गया। आज भी स्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं हुआ है।

नवीन व्यवस्था के अंतर में पलते हुए पारस्परिक विरोधों का अनुभव उस युग में धर्म के बल से नारी को सार्वजनिक करने की प्रथा से होता है। जिस का सब से बड़ा उदाहरण धार्मिक रूप से समर्पित वेश्याओं, देवदासियों और नर्त्तकियों के एक पूर्ण वर्ग का जन्म है। यह साफ जाहिर है कि यद्यपि वेश्यावृत्ति संसार का सब से प्राचीन धंधा कहा जाता है, किंतु इस का जन्म बहुत देर बाद, सभ्यता और एकपतित्व के साथ साथ, और विशेष रूप से एकपतित्व के परिणाम-स्वरूप या उस से उत्पन्न वस्तु के रूप में होता है। इन विरोधों का दूसरा रूप परपुरुषगमन है, जो अपना डरावना चेहरा दिखा कर संतुष्ट पुरुषों को भड़का देता है और वे स्त्रियों के ऊपर और भी अधिक हीन व आरोपयुक्त अयोग्यतायें थोपने के लिए तत्पर हो जाते हैं।

पिछले पृष्ठों में हम प्रारम्भिक काल से सभ्य युग तक विवाह के विकास के सम्बंध में कुछ ही तथ्य संग्रह करने में सफल हो सके हैं। कुछ गहरे पहुंच कर उस के बाद के युगों में नारी की दशा का विश्लेषण करना उपयोगी होगा क्योंकि वर्त्तमान काल में हिंदू भारत के अधिकतर रीतिरवाज प्राचीन समय में प्रचलित रीतिरवाजों के ही प्रतिबिंब हैं। यहां तक कि हिन्दू धर्म का विधान तो बिलकुल वही है, जो आज से दो हजार साल पहले था।

महाभारत का निम्न उद्धरण (मैं इस उद्धरण तथा आने वाले पृष्ठों में इसी प्रकार के अन्य उद्धरणों के लिए जार्ज एलेन एंड अनविन लि०, लंदन, से प्रकाशित पी० थामस की सर्वोत्तम पुस्तक 'नारी और भारत में विवाह' के प्रति कृतज्ञ हूँ) उस युग के बारे में वर्णन करता है, जब नारी की दशा दासत्व की अवस्था तक नहीं गिरी थी। पांडु[1] राजा अपनी रानी से कहता है:

"ओ कुन्ती, जो कुछ तू ने कहा है वह पूर्ण सत्य है। परन्तु मैं तुझे अब नैतिकता के प्रत्येक नियम से पूर्ण अवगत महान् ऋषियों द्वारा निर्देशित प्राचीन व्यवहार के विषय में बताता हूं। पहले स्त्रियां घर में बंद रह कर अपने पति या अन्य सम्बंधियों पर आश्रित नहीं रहती थीं। वे जहां चाहती थीं वहां खुले आम विचरण करती थीं और जैसे चाहती थीं उसी के अनुसार अपना मनोरन्जन करती थीं। वे पतिव्रता भी नहीं थीं। फिर भी उन्हें पतित नहीं समझा जाता था क्यों कि यही उस काल

की स्वीकृत प्रथा थी। पूर्वजों से स्वीकृत यह व्यवहार महान् ऋषियों के द्वारा प्रशंसित हुआ है। उत्तरी कुरुओं में यह रवाज अब भी आदरणीय समझा जाता है। वास्तव में स्त्रियों के प्रति यह इतनी उदार प्रथा अतीत के धर्म से ही मान्य है। जो भी हो, वर्त्तमान प्रथा, जीवन भर के लिये स्त्री का एक ही पति तक सीमित रहना, बाद में ही प्रचलित हुई।"

बाद में स्थापित कठोर एकपतित्व की सीमा वैदिक काल में नहीं थी। न ही सामाजिक जीवन और धार्मिक व बौद्धिक कार्यों में स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर कोई बंधन था। वेदों में वर्णित विभिन्न नारी ऋषियां अपनी विद्वत्ता के लिए सम्मानित हैं और पुरोहिताई के साथ साथ वे उन सभी कृत्यों को सम्पन्न करती थीं, जो पुरुष करते थे। एक वैदिक ऋचा में कन्या का पिता वर से इस आशय का वचन लेता है : धर्म, अर्थ और काम (वासना) की पूर्ति में वह उसे वर्जित नहीं करेगा। उन दिनों में विवाहित स्त्री साधारणतः किस सीमा तक स्वतन्त्र थी यह ऋचा इस पर एक अच्छा प्रकाश डालती है। वयस्क कन्यायें अपने प्रेमियों में से स्वयं ही अपने पति चुनती थीं। इस से सिद्ध है कि उस युग में निःसंदेह बाल-विवाह का अस्तित्व नहीं था। विधवाओं के पुनर्विवाह पर कोई प्रतिबंध नहीं था और कुछ स्त्रियों के तो एक ही साथ अनेक पति भी होते थे। यह भी सच है कि एक पुरुष की अनेक स्त्रियां भी होती थी।

वैदिकोत्तर काल में स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर भारी कुठाराघात हुआ और विशेष रूप से इस क्षेत्र में वेदों की मान्यता फीकी पड़ गई। विधान-वेत्ता मनु ने, जिस की कृति हिंदुओं में 'मनुस्मृति' के नाम से लोकप्रिय है, स्त्रियों को मात्र सम्पत्ति बताया है, जो "कभी भी स्वतन्त्रता के योग्य नहीं होती।" लेकिन यह संक्रमण फिर भी आसानी से नहीं हो गया। बहुत बड़ी संख्या में प्रसारित धार्मिक निषेधों व शारीरिक बंधनों से, जो उस काल में स्त्रियों पर लादे गए, यह बात सिद्ध होती है कि स्त्रियां चुपचाप ही जुए के नीचे नहीं आ गई। सतीत्व को एक अनिवार्य गुण बता कर आसमान पर चढ़ा दिया गया और पति पर प्राण तक विसर्जन कर देना स्त्रियों का एक ऐसा कर्त्तव्य माना गया, जिस की उपेक्षा की ही नहीं जा सकती थी। मनु का निम्न उद्धरण वैदिकोत्तर काल में हिन्दू समाज में स्त्रियों की अवस्था को संक्षेप में दर्शाता है और यह अवस्था आज भी उसी प्रकार सामाजिक मान्यता पाए हुए है :

"स्त्रियां न ही सुन्दरता की परवाह करती और न ही आयु पर उन का ध्यान जाता। सुन्दर या असुन्दर कैसा भी पुरुष हो, केवल यह देख कर कि वह पुरुष है वे अपने को सौंप देती हैं।

"उन की चेष्टाओं को जान कर, जो परमपिता परमेश्वर ने उन्हें बनाते समय ही उन में भर दी थी, प्रत्येक मनुष्य को अधिकाधिक परिश्रम से उन की खबरदारी रखनी चाहिए।

"उन के लिए धार्मिक पुस्तकों से कोई धार्मिक विधि नहीं बरतनी चाहिए, यह नियम निश्चित किया जाता है। स्त्रियां, जो शक्ति से हीन हैं, वैदिक और शास्त्रों के ज्ञान से रहित हैं, असत्य की भांति अपवित्र हैं, यह स्थापित नियम है।"

आज के मापदंड से नापने पर मनु का निम्न निर्देश सब से अधिक बेहूदा है : "तीस वर्ष के पुरुष को बारह वर्ष की कन्या से और चौबीस वर्ष के पुरुष को आठ वर्ष की कन्या से विवाह करना चाहिए।" एक संस्था की भांति बाल-विवाह की स्थापना नारी को स्वतन्त्रता की एक भी झलक और स्वतन्त्र विचार के एक भी अवसर से वंचित करने के लिये ही हुई। पिता के अधिकार से निकल कर वह सीधी पति और सास-ससुर के अधिकार में जा पड़ती थी। जो पिता अपनी कन्या को बारह वर्ष की आयु से पहले पहले विवाह में नहीं दे देता था वह घृणा का पात्र समझा जाता था और इसी प्रकार वह पुरुष भी घृणित समझा जाता था, जो बारह वर्ष से ऊपर की आयु वाली कन्या का पाणिग्रहण करता था। माने हुए महान् ऋषियों में दो ऋषियों, मरीचि और पाराशर, के अनुसार मनुष्य अपने जीवन के अंतिम काल में उसी अनुपात से स्वर्ग के योग्य होता है जिस आयु के विचार से वह अपनी कन्या का विवाह करता है। वह मनुष्य, जो अपनी कन्या को आठ या उस से भी कम वर्षों की आयु में ही विवाह देता है, स्वर्ग के सर्वोच्च आसन पर विराजमान होता है।

निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि मनु के समय में सती प्रथा का रवाज था या नहीं। उसकी पाठ्य पुस्तकों के टीकाकार तो कहते हैं कि यह रवाज था और इस कृत्य की धार्मिक स्वीकृति पाने के लिये बहुत से तो ऋग्वेद के एक श्लोक का हवाला भी देते हैं, जो बाद में स्वार्थ वृत्ति से मिलाया हुआ ही एक अंश है। प्रारम्भिक काल में धार्मिक अधिकार इतना जबरदस्त था कि अनिच्छुक विधवाओं को उनके निकट सम्बन्धी ही बलपूर्वक चिता पर धकेल देते थे। राजा राममोहन राय व कुछ अन्य व्यक्तियों के प्रार्थनापत्र पर यदि लार्ड विलियम बेंटिंक ने सन् १८२९ ई० में इसे न रोक दिया होता और इसी प्रकार के अन्य सुधारों के प्रति जो अवरोध साधारण हिन्दू समाज की ओर से आज होता है उसे देखते हुए तो यही लगता है कि अवश्य ही यह अमानवीय प्रथा आज तक भी चलती रहती। कट्टरपंथी धर्म के मतवाले इतनी आसानी से दबने

वाले थे भी नहीं, लार्ड विलियम बैंटिक के निर्णय के विरुद्ध उन्होंने प्रीवी कौंसिल तक अपील की। पंडितों के अनुसार सती प्रथा पर रोक लगाना स्त्रियों के अधिकारों पर नीचतापूर्ण हस्तक्षेप था।

मध्यकालीन इंग्लैंड में स्त्रियों को साधारण सौदे या पशु की तरह बेच दिया जाता था और बाजार में स्त्रियों का मूल्य अन्य किसी निर्जीव वस्तु के मूल्य की तरह समृद्धि का एक पैमाना था। २२ जुलाई सन् १७९७ ई० के 'टाइम्स' पत्र का निम्न उद्धरण इसका गवाह है :

"कुछ लेखकों के अनुसार स्त्रियों का बढ़ता हुआ मूल्य एक उभरती हुई सभ्यता का दिग्दर्शक है। इस विचार से तो स्मिथफील्ड चतुराई में एक विशेष प्रगति का दाता होने का दावेदार हो सकता है, क्यों कि बाजार में मूल्य डेढ़ गिन्नी से बढ़ कर साढ़े तीन तक आ गया है।"

ऊपर वाले उद्धरण से तो फिर भी कुछ अच्छी स्थिति प्रकट होती है। वी० एफ कालवरटन की पुस्तक 'विवाह का दिवालियापन' (जान हैमिल्टन, लंदन) का निम्न उद्धरण साधारण अवस्था का अच्छा सूचक है :

"उदाहरण के लिये, फरवरी सन् १७९० ई० में, एक पत्नी जिसे उस के पति ने छोड़ दिया था और जो गिरजे के प्रबन्धकों के आश्रय में थी, उनके लिए भार बन गई और उनके द्वारा बाजार में दो शिलिंग में बेच दी गई। इस सौदे के हिसाब में रस्से तक की कीमत शामिल थी। इंग्लैंड भर में इस प्रकार की घटनाएं रोजमर्रा की जानी-पहचानी घटनाएं थीं। सन् १७९० ई० में नाटिंघम में सब से सस्ती औरत तीन पेनी में बेची गई। एक घटना विशेष मनोरंजन की है। एक किसान ने अपनी पत्नी को बिना जाब्तापूरी किये ही बेच दिया। इस पर उसे सूचना मिली कि यह विक्रय कानूनी नहीं माना जा सकता। इसलिये वह दोबारा सात मील चल कर अपनी पत्नी के पास पहुंचा और उसे रस्से से बांध कर फिर से आधे क्राउन में बेच दिया। इस प्रकार जाब्ता पूरा हो चुका था। राज्य ने उस पर उसी प्रकार चार पेंस का टैक्स लगाया, जिस प्रकार उस के द्वारा किसी पशु के बिकने पर लगता।"

फिर भी इंग्लैंड में स्त्रियों का कोई तो मूल्य था। वह चाहे जितना कम क्यों न हो, तीन पेनी से ले कर साढ़े तीन गिन्नी तक कुछ न कुछ होता ही था। लेकिन भारत में तो अपनी कन्या को विवाह में देते समय उस के पिता को वर के पिता की स्वीकृति प्राप्त करने के लिये एक अच्छी-खासी भेंट चढ़ानी पड़ती थी।

आजकल दहेज की सर्वमान्य प्रथा इस मध्यकालीन युग का अवशेष

है। फिर भी दहेज का परिमाण वर व उसकी जाति व खानदान की उच्चता और कन्या के पिता की समृद्धि पर ही निर्भर करता है। वृद्ध या विधुर पुरुष एक ऊंची जाति के युवा व्यक्ति की अपेक्षा कन्या के पिता से कम धन प्राप्त करते हैं। भारत में पत्नी-विक्रय का प्रचलन नहीं है, लेकिन इस का सीधासादा कारण यही है कि यहां सुन्दरतम कुंवारी कन्या का भी कोई सामाजिक मूल्य नहीं है। उसे मुफ्त में ही नहीं दे दिया जाता, बल्कि उस को विवाह में ग्रहण करने की स्वीकृति-स्वरूप भारी पुरस्कार देना पड़ता है। हिंदू और मुसलमान दोनों में ही अवस्था कुछ बदली नहीं है। कन्या का जन्म एक देनदारी और अभिशाप समझा जाता है। यदि किसी वर महोदय के पहले से ही दो–तीन पत्नियां हों और वह चौथी का इरादा करते हों, तो भी केवल कन्या का हाथ पकड़ लेने मात्र से वह कुछ रुपयों से ले कर दसियों हजार कलदार, ऊपर से जेवर, खाने-पकाने के बरतन तक दहेज में पा जाते हैं।

जिस समय तक इस्लाम ने भारत में प्रवेश किया वह अपनी पवित्रता और विचारधारा को बहुत कुछ खो चुका था। उस पर तुर्रा यह कि प्रारम्भिक मुस्लिम विजेता फारस के रहने वाले थे, जो परम्परागत विलासी प्रकृति के थे, अरबों की तरह रमते राम नहीं थे। व्यक्ति-सम्बंधों के बारे में इस्लामी नियम अरबी प्रथाओं से ही विश्व के नीतिशास्त्र में लिए गए और बहुपत्नीत्व, जो पहले खानाबदोश जातियों की बढ़ोतरी के लिये उपयुक्त था, बाद में विलासप्रेमियों के लिए जनता से भेजा हुआ एक तोहफा बन गया। शराब यद्यपि इस्लाम की शिक्षाओं में वर्जित थी, लेकिन उस काल के खलीफाओं व उमराओं के दासियों से भरे हरमों में उस ने भी बहार में रंगीनी पैदा करने का श्रेय लिया।

नारी के ऊपर थोपी गई समस्त विषमताओं में सम्भवतः घूंघट का बंधन सब से अधिक अत्याचारपूर्ण है। यह पूर्णतः एक इस्लामी देन है। विलासप्रियता की विकृत रुचि से उत्पन्न इस प्रथा ने नारी को रहस्य बना कर रख दिया। इस का असर ठीक ऐसा ही हुआ, जैसे किसी खूंखार जानवर को उस की भूख और पशु प्रवृत्ति को भड़काने के लिए कठघरे में बिना दाना-पानी बंद कर दिया जाए। पुराने समय के विलासप्रिय लोगों ने कल्पना की कि सेक्स की स्वतन्त्रता से हीन नारी, सौ पत्नियों के झुण्ड में दबीदबाई पत्नी की हैसियत से, उन्हें और भी अधिक उत्तेजित और कामातुर बनाने में समर्थ होगी।

खुदाबख्श द्वारा लिखित पुस्तक 'अध्ययन : भारतीय और इस्लामी' के अनुसार "स्त्रियों की दशा को हीन बनाने के दुष्कार्य के जिम्मेदार सब से

पहले इस्लाम के घोर असामाजिक और कट्टर आस्तिक लोग हैं। निश्चय ही इस की वजह यह नहीं थी कि नारी के आकर्षणों की ओर से वे लोग उदासीन या बेखबर थे, क्यों कि उन के हरमों में तो स्त्रियों की भारी संख्या मौजूद रहती थी। किंतु उस छोटे से स्वर्ग के बाहर नारी और उस के आत्माभिमान के प्रति विरक्ति प्रदर्शित करना ही उन्हें प्रिय था। इस कारण सम्भवत: पुराने परम्परानुगामियों में से किसी एक ने बड़े जोशखरोश के साथ बहुत सी ऐसी परम्पराओं का संकलन किया, जिन में कहा गया है कि अधिकांश स्त्रियां नरक की भागी बनेंगी।"

स्त्रियों का दरजा नीचा करने के लिए भारत के हिंदुओं और मुसलमानों में उन के प्रति व्यवहृत असमानताओं का आपसी विनिमय भी हुआ। साधारण रूप से हिंदुओं ने मुसलमानों के परदे को ले लिया, लेकिन इस छोटे से सुधार के साथ कि दरजी की कांटछांट को तिलांजलि दे कर केवल साड़ी का पल्ला मुंह पर डाल लिया जाए। बाल-विवाह और वधू के साथ दहेज लेने की प्रथायें हिंदुओं से मुसलमानों में घुस गई और उन के रोजनामचे की एक अविभाज्य रकम बन गई। सब से अजीब बात तो यह है कि धार्मिक कट्टरता केवल स्त्रियों के प्रति किए जाने वाले व्यवहार से ही नापी जाती थी और प्रारम्भ से ही हिंदू और मुसलमान इस में होड़ करने लगे।

उत्तराधिकार और तलाक के विषय में हिंदुओं की अपेक्षा इस्लामी नियम उदार हैं। लेकिन इस का यह अर्थ नहीं है कि इन सुविधाओं का उपभोग इस्लामी स्त्रियां वास्तविक व्यवहार में भी कर सकती थीं। रीति-रवाज और स्त्रियों के प्रति अनुदार देशकाल दैनिक जीवन में उन्हें इन नियमों के पालन की अनुमति नहीं देते थे।

सामंतवाद के विलय और पश्चिमी विचारधारा और सभ्यता के फैलाव के साथ भारतीय सामाजिक बनावट में स्त्रियों की अवस्था में भी परिवर्तन के चिह्न दिखाई देने लगे।

●●●

आज की नारी

यह तो अभी प्रमाणित ही होना है कि किसी देश की कुल आबादी में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या का अनुपात उस समाज में स्त्रियों की अवस्था पर कोई प्रभाव डालता है। एक वार स्त्रियों के जंगम सम्पत्ति समझ लिये जाने पर और इस सम्पत्ति की पूर्ति संयोग से कम हो जाने पर यह मानने के लिए प्रत्येक कारण हमारे पास है कि मनुष्य अपनी समस्त लाभ-बुद्धि का प्रयोग कर के स्त्रियों को सुरक्षित रखने के लिये उन की चारों ओर बाढ़ खड़ी कर देगा। सामान्यतः इस का यह अर्थ भी होना ही चाहिए कि इस प्रकार की मिल्कियत का आर्थिक मूल्य भी साथ ही साथ अवश्य बढ़ेगा। जहां तक भारतवर्ष का सम्बंध है पहली बात तो सर्वथा सही है, लेकिन दूसरी के बारे में ऐसी बात है कि कुछ परिस्थितियों के ऐसे मेल से, जिन्हें हम अभी तक नहीं जान पाए हैं, पलड़ा एक ही ओर को झुका दिखाई देता है।

३८९,०००,००० की कुल आबादी में से २०१,०००,००० पुरुषों के मुकाबले में कुल १८८,०००,००० स्त्रियां हैं। पूरे देश को लगा कर इस के माने हैं कि यदि कठोर एकपत्नीत्व बरतते हुए गणित और स्त्री-पुरुष के मिलन में एक प्रकार का पारस्परिक सम्बंध स्थापित हो जाए, तो १३,०००,००० पुरुष बिना पत्नी के ही रह जायेंगे। यदि समूहीकरण प्रांत प्रांत के अनुसार किया जाए, तो पंजाब और उत्तरपश्चिमी सरहद ज्यादा मुसीबतजदा रहेंगे। इन क्षेत्रों की आबादी में सौ पुरुषों के पीछे कठिनाई से चौरासी स्त्रियाँ ही मिलेंगी।

यदि सन् १९३१ ई० से सन् १९३९ ई० तक की सामाजिक अवस्थाओं में विशेष विभिन्नतायें नहीं हैं, तो कुल १८८,०००,००० स्त्रियों में से आधी अविवाहित हैं। शेष अविवाहित स्त्रियों में से नव्वे प्रति शत पन्दरह वर्ष से नीची आयु की हैं। इस आधार पर किसी एक क्षण में कुल व्यस्क स्त्रियों की आबादी का कठिनाई से केवल पांच प्रति शत भाग ही अविवाहित रहता है।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, यदि आंकड़ों का कुछ महत्त्व है, तो भारतीय समाज में, विशेषतः जहां तक स्त्रियों का सम्बंध है, विवाह की समस्या रहनी ही नहीं चाहिए। किन्तु इस बात को कितने भारतीय मातापिता मानते हैं? चीन को छोड़ कर दुनिया के किसी देश में कन्या का जन्म इतना दुःखदायी नहीं होता, जितना भारत में। एक से अधिक

कन्याओं के हाथ पीले करने की अपेक्षा दिवालिया बनने का अन्य कोई सुगम उपाय नहीं है। कुछ मामलों में तो किसी के मात्र एक ही कन्या को ब्याहने का अर्थ यह भी हो जाता है कि उसका स्वतंत्र जीवन समाप्त हो चुका है।

एक ऐसे समाज में जैसा कि भारत में है जहाँ कुल आबादी में पुरुषों की संख्या स्त्रियों से अधिक है, इतने विस्तार के साथ दहेज़ की प्रथा चलते रहने के लिए एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह कि यहाँ विवाह किन्हीं शारीरिक अथवा सेक्स की आवश्यकताओं के पीछे नहीं चलता, बल्कि अधिकांश लोगों के लिए यह एक धार्मिक कर्त्तव्य है। इस प्रकार की अवस्थाओं में संतति की अगली पीढ़ी किसी की सेक्स अनुभूति के संतुष्ट होने का स्वाभाविक परिणाम नहीं समझी जाती, बल्कि मोक्ष के साधन के रूप में ली जाती है, और जिसका मूल्य प्रत्येक दशा में इस तरह चुकाना पड़ता है जैसे सारे जीवन के लिए परमेश्वर की सेवा में समर्पित हो कर पूजा करने का धंधा अपना लेने वाले किसी व्यक्ति को बराबर प्रार्थना करनी पड़ती है। गठबंधन के समय लड़के या लड़की को नाबालिग होने के कारण न ही विवाह की कोई आवश्यकता अनुभव होती और न ही एक-दूसरे के प्रति कोई आकर्षण होता। विवाह की कुल रस्म माता-पिताओं के बीच एक व्यापारिक सौदेबाज़ी होती है, जिस में वर का पिता लडकी तथा उस की आने वाली संतान को खिलाने-पिलाने की आवश्यकता का हिसाब लगाने वाला मुँशी होता है और कन्या का पिता एक बराबर की हैसियत का आदमी होता है, जिसका काम है कि कन्या के उसका घर छोड़ कर सारी उमर के लिए वर के घर चले जाने से उसके घर-खर्च में जो बचत होगी वह मुंशी जी को पहले ही सौंप दे।

समाज के निम्नस्तरीय लोगों में, जिनका महत्त्व इतना अधिक नहीं है, मध्यम और उच्च वर्गों की तरह दहेज़ नहीं दिया जाता। इसके दो कारण हो सकते हैं: स्त्री परिवार की कमाऊ सदस्य होती हैं और निम्न वर्गों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों के लगभग बराबर है।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या का अनुपात सिक्खों में सब से कम है यानी कुल ७८ प्रति शत, जब कि मुसलमानों और हिंदुओं में मशः ९० और ९५ प्रति शत है। पूरे देश में पुरुषों के मुकाबले स्त्रियों का जन्म १०८ के पीछे सौ होता है और यह भी एक नियम है कि भारतीय नारी पुरुष की अपेक्षा शीघ्र ही कालकवलित भी हो जाती है। कारण भिन्न भिन्न हैं। शीघ्र विवाह और परिणाम-स्वरूप लड़कियों के वयस्क होने से पूर्व ही माँ बन जाने से जच्चाओं की मृत्यु-संख्या में वृद्धि और अस्पतालों की

अपर्याप्त सुविधाओं का इस में बड़ा हाथ है, और अधिकांश लोगों में प्रचलित दाईयों के भद्दे रवाज के बारे में तो कहा ही क्या जाए ? प्रत्येक दस मिनिट में एक माँ प्रसव के कारण काल का कलेवा बन जाती है। १८८, ०००, ००० स्त्रियों के लिए कुल २२६ स्त्रियों के अस्पताल हैं और प्रति वर्ष साठ लाख स्त्रियां रोग-ग्रस्त हो कर मर जाती हैं। उस देश में जहां वास्तव में स्त्रियों का मूल्य कहीं ज्यादा होना चाहिए था वे बुरी तरह अपना जीवन यापन करती हैं।

९८ प्रति शत स्त्रियाँ अनपढ़ हैं। जो कन्याएं प्राइमरी स्कूलों में जाती हैं उन में से ८७ प्रति शत चौथे दरजे तक भी नहीं पहुंच पातीं। हिंदू और मुसलमान दोनों में प्रचलित अंधविश्वास ही स्त्रियों की शिक्षा में इतनी बड़ी कमी के कारण हैं।

इस देश में कन्याओं के केवल २६,००० प्राइमरी स्कूल हैं, जिन में अधिक संख्या उन स्कूलों की है, जिन में एक ही अध्यापक है। गाँवों के हिंदुओं में लड़के-लड़कियाँ प्रायः एक ही स्कूल में पढ़ते हैं, और कुछ प्रान्तों में तो ऊंचे दर्जों में भी सहशिक्षा है। फिर भी लड़कों के स्कूलों में जाने वाली लड़कियों की संख्या मुकाबलेतन बहुत कम है, क्यों कि सिवा भारत के दुनिया के किसी भी अन्य देश में सेक्स का अलगाव इतने ध्यानपूर्वक पालन नहीं किया जाता। प्राइमरी स्कूलों के ४२ प्रति शत शिक्षक विशेष शिक्षा से हीन होते हैं और लड़कियां जो शिक्षा इन स्कूलों में पाती हैं या तो वह नहीं के बराबर होती हैं या इस ढंग से दी जाती है कि उस से शिक्षा जनता में अप्रिय हो जाती है। इस प्रकार लड़कियों को आधे दिल से शिक्षा प्रदान करने का आरोप बहुत हद तक राज्य पर पड़ता है। स्त्री-शिक्षा पर व्यय किया जाने वाला धन पुरुष-शिक्षा पर व्यय किए जाने वाले धन का कठिनाई से पांचवां भाग होता है।

स्त्री शिक्षा के मामले में कुछ भारतीय रजवाड़े शेष भारत से कहीं आगे हैं। ट्रावनकोर में छत्तीस प्रति शत तथा कोचीन में छब्बीस दशमलव पाँच प्रति शत स्त्रियां साक्षर हैं। (इस प्रकरण में आए आंकड़ों एवं व्याख्याओं के लिए मैं श्री हम्फ्रे मिल्फोर्ड द्वारा ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित श्री लक्ष्मी एन० मेनन की अत्युत्तम पुस्तक 'नारी की अवस्था' के प्रति कृतज्ञ हूं) इसकी अपेक्षा बंबई और बंगाल के अधिक उन्नत प्रांतों में (संभवतः किन्हीं और दिशाओं में उन्नत) केवल नौ और सात प्रति शत ही स्त्रियां साक्षर हैं।

मुसलमानों में स्त्री-शिक्षा सब से कम है, यद्यपि साक्षरता के परिमाण में हिंदुओं और मुसलमानों में बहुत कम असमानता है। मुसलमानों में कठिनाई

से स्त्रियों की कुल आबादी के फी हजार में केवल पंदरह और हिंदुओं में केवल इक्कीस स्त्रियां साक्षर हैं।

एक अलग संप्रदाय की दृष्टि से पारसियों में स्त्री-साक्षरता का स्तर सब से ऊंचा है। इस मे नीचे उतर कर यहूदी, उनके पीछे ईसाई और फिर जैन हैं—यद्यपि जैनियों को हिंदुओं का ही एक अंग माना जाता है, फिर भी कुतूहलपूर्ण बात तो यह है कि उन में स्त्री-साक्षरता हिन्दुओं की अपेक्षा पांच गुनी अधिक है। हिंदुओं में बंगाल के ब्रह्मसमाजियों का इसी प्रकार एक दूसरा वर्ग है, जिन्होंने अपनी लड़कियों को पढ़ाने में ध्यान देने योग्य प्रगति दिखाई है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा एक पूर्ण जीवन की सुख-सुविधाओं में स्त्रियों के अपना भाग बंटाने के मार्ग में सब के बड़ी अड़चन धार्मिक पोंगापंथी ही है।

विश्व विद्यालय की शिक्षा की व्ययपूर्ण विलासिता कुछ ही लोगों के हिस्से में आई है। स्त्रियों के मामले में तो प्रचुर धन के साथ साथ या तो कोई बदसूरत होने का गुण अपने में रखती हो या इतनी दुर्भागिनी हो कि शीघ्र ही उसका विवाह न हो सके। एक ऐसे देश में जहां विवाह धार्मिक संस्कार है, सुन्दर लड़कियां पूरे जीवन के सुखचैन का लालच छोड़ कर ऊंची शिक्षा की महानता का संदेहपूर्ण और कम लोकप्रिय मार्ग पकड़ना कठिनाई से ही सहन कर सकती हैं। अलबत्ता तो धनी होना ही कठिन है। पिता को अपनी सभी कन्याओं के लिए दहेज़ का प्रबंध करना पड़ता है। उस से भी यदि कुछ बच जाता है, तो पितृसत्ता में उसके धन पर सब से पहला अधिकार बेटों का है। लड़कियों की पढ़ाई का व्यय दुहरी चपत है। ऐसे वर अधिक नहीं हैं, जो नकद दहेज़ को ताक पर रख कर केवल शिक्षित पत्नी लेना पसंद करेंगे। सास को शिक्षा का नकद मूल्य समझाना और भी कठिन है। शिक्षा खाना पकाने, झाड़ू देने और बरतन मांजने के काम में कोई विशेष योग्यता पैदा नहीं करती; न ही केवल लड़के ही लड़के पैदा करने में वह कुछ काम आती; बल्कि इसका असर कुछ उलटा ही पड़ता है। बहुत कम माताएं अपनी पुत्रवधुओं का शिक्षित होना पसंद करती हैं, क्यों कि अंगरेज़ी शिक्षा लड़कियों को स्वच्छंद बना देने के लिए बदनाम है। केवल आज्ञाकारिता ही एक ऐसा गुण है, जो पत्नी को भारतीय घरानों के, विशेष रूप से सास की ओर से होने वाले अत्याचार को संतोष के साथ सहने में सहायता देती है।

इस सब के बावजूद भी यदि विश्वविद्यालयों में पंद्रह हजार लड़कियां पढ़ती हैं, तो किसी भी पिछड़ी हुई जाति की सहनशीलता का पता इतने से ही लग जाता है। संख्या में दिन पर दिन बढ़ोतरी हो रही है। दूसरी ध्यान

देने योग्य बात यह है कि इन में से अधिकांश लड़कियां स्त्री-विद्यालयों की अपेक्षा, जहां शिक्षा के साधन और उस के मापदंड अपेक्षतया नीचे दरजे के हैं, पुरुषों के विद्यालयों में जाती हैं।

नई दिल्ली के गृह-विज्ञान के लेडी इरविन कालिज तथा प्रोफेसर डी० के० कर्वे द्वारा संस्थापित 'भारतीय नारी विश्वविद्यालय' जैसी एक दो संस्थाओं को छोड़ कर शेष में वही अध्ययन प्रणाली है, जो पुरुषों के विश्व-विद्यालयों में है। एक लेखिका के शब्दों में:[1] "अपने सभी अवगुणों सहित वर्त्तमान शिक्षाप्रणाली जो भी अल्प बौद्धिक शिक्षा देती है उस के बारे में विचारशीला स्त्रियों का विशाल बहुमत फिर भी यही ख्याल करता है कि वह अतीव अनिवार्य है, और एक ऐसी कम कठिन प्रणाली के सामने, जिस में गणित, शरीर विज्ञान और समाज विज्ञान नहीं होते, उसे नहीं त्याग देना चाहिए। साहित्यिक एवं वैज्ञानिक शिक्षा जिस प्रकार के शिक्षण की गारंटी करती हैं वे उसका मूल्य समझती हैं और अधिक कठिन विषयों को निकाल देने की अपेक्षा उस शिक्षा प्रणाली में ललित कलाओं तथा गृह-विज्ञान का समावेश कर के उसे कुछ विस्तृत ही करना पसंद करती हैं। यदि स्त्रियां समान अवसरों के प्राप्त करने में विश्वास करती हैं, तो निश्चय ही उन्हें वही शिक्षा ग्रहण करनी होगी, जो पुरुष करते हैं भिन्न भिन्न शिक्षण और व्यवहार से स्त्री-पुरुष का वास्तविक साथ नहीं बनता। यह दिलचस्पी की बात है कि भिन्न भिन्न शिक्षण प्रणाली की मांग का शोर विशेष रूप से पुरुषों की ओर से और उन में भी अधिकतर पिताओं की ओर से उठता है, जो चाहते हैं कि बिना कुछ खर्च करे-धरे ही वे बस इतनी पढ़लिख जाएं कि छोटी उमर में ही उनका विवाह किया जा सके। स्त्रियों की ओर से इस प्रकार की मांग बहुत कम उठती है।

भारत अग्रगामी देश नहीं है। भारतीय नीतिशास्त्र के मापदंड से स्त्री का स्थान घर में है। फिर भी २५२,००० स्त्रियों से अधिक फैक्टरियों में काम करती हैं और कुल स्त्रियों की जनसंख्या का एक चौथाई भाग शारीरिक परिश्रम कर के अपनी रोजी कमाता है। उन में से अधिकांश घरेलू कामों में और कृषि व बागानों में लगी हुई हैं। खतरनाक कामों में स्त्रियों का लगाया जाना अब कानून की ओर से वर्जित है, लेकिन इस से पहले जमीन के नीचे खानों में काम करने वालों में तीस प्रति शत संख्या स्त्रियों की थी। नारी-श्रम सस्ता होता है और उस का तर्क यह दिया

1. श्री लक्ष्मी एन०, मेनन, नारी की अवस्था ?

जाता है कि वे तो पहले से ही कमाते हुए पुरुषों की आमदनी में सहायता मात्र करती हैं। यह केवल तर्क ही तर्क है। नीचे तबके के लोगों में तो घर चलाने और बच्चों के पालने का समस्त उत्तरदायित्व स्त्रियों के ऊपर ही पड़ता है, क्यों कि पुरुष तो इतना भी नहीं कमा पाते कि उनकी ताड़ी-शराब का ही खर्च पूरा हो सके।

शहर की अधिकतर कमेरी स्त्रियां किराए की कोठरियों में रहती हैं। बहुत बार एक ही कोठरी में एक से भी अधिक परिवार रहते हैं। इन में से बहुत सी खुले आसमान के नीचे और सड़कों के फुटपाथों पर घर बसाती हैं। गांवों में स्त्रियां जिन गढ़ों पर शासन करती हैं वह अभिन्न रूप से फूस की छतों से छाए हुए, बिना खिड़की के, गारे से मंढे झोंपड़े होते हैं, जिन की चारों ओर गोबर और फूस की बाढ़ें खड़ी रहती हैं।

गांवों के इलाकों में स्त्रियों की एक बड़ी सख्या छोटे छोटे धंधों में फंसी हुई है, जैसे चावल फटकारना, चूड़ी बनाना, मिट्टी के बरतन और बांस की टोकरियां बनाना, और मछली या तरकारी बेचना। नगरों में स्त्रियों के लिये व्यापार के अवसर सीमित हैं, और जो थोड़ी-बहुत व्यापार में लगी हुई भी हैं वे दूध, तरकारी, पानबीड़ी और मछली बेचने वाली हैं।

मध्यमवर्गीय शिक्षित स्त्रियां अधिकतर प्राइमरी और सेकेन्डरी स्कूलों में अध्यापिका हैं। शहरों में कारोबार में लगी हुई या टाइपिस्ट और दुकानों की सहायिका स्त्रियों की संख्या सीमित है। बहुत सी सरकारी नौकरियों के द्वार स्त्रियों के लिए बंद हैं, हालांकि लड़ाई के जमाने में इंडियन मेडिकल सरविस के दरवाजे उनके लिये खोल दिये गये थे। बहुत सी लड़कियां युद्धजनित सरकारी संस्थाओं में क्लर्क और स्टेनोग्राफर भी हैं, लेकिन युद्ध के बाद उनकी नौकरियों का कायम रहना संदेहास्पद ही है।

हाल ही के राजनीतिक आन्दोलनों में स्त्रियों का एक महत्त्वपूर्ण भाग रहा है और बहुत सी जेलें भी काट चुकी हैं। अछूत स्त्रियों ने भी गारे और मैल में से सिर उठाया है और क्रूर दुर्भाग्य को हृदय से तिलांजलि दे कर नवीन जागरण, नवोत्थान के तूफान में पैर रखा है। सभी वर्गों की नारियों में उस पुराने अनिश्चित जीवन के विरुद्ध जो धर्म और परम्परा ने उन पर थोप रखा है, चेतना उत्पन्न हो गई है और वे जीवन में अपने कर्त्तव्य के प्रति अधिक जागरूक हो गई हैं। सन् १९३५ ई० के गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट में साठ लाख स्त्रियां संपत्ति के गुण के आधार पर नामजद की गई थीं और असेम्बली में उनके लिये स्थान नियत किए गए थे। उन की सर्वोच्च राजनीतिक विजय तो तब होगी, जब तमाम असेम्बलियों व नौकरियों में आनुपातिक प्रतिनिधित्व के ऊपर सार्वभौमिक वयस्क

मताधिकार लागू होगा।

भारतीय धर्मों में तो स्त्रियों के प्रति असमानता के व्यवहार का नियम ही है। एक स्त्री, जो न ही विद्रोही है और न ही क्रान्तिकारी है, निम्नलिखित शब्दों में भारतीय पत्नी के सामाजिक मान को स्पष्ट रूप से दर्शाती है :

[1]"सदियों से भारत में नारी जीवन का नाटक एक ऐसे कठपुतली मंच पर खेला जाता रहा है, जो बेकार, निराश और दुःखांत चरित्रों से भरा पड़ा है, और यही नाटक सब से ऊंची धार्मिक भावनाओं का पोषण करता प्रतीत होता है। जैसे जैसे वस्तुओं का रूप निर्धारित कर दिया गया था, उनके प्रति नारी के ज्यों के त्यों आत्मसमर्पण को सब से बड़ा गुण और उस के साथ जुड़ी हुई महानता का नाम दिया गया। जितना ही अधिक अन्याय और अत्याचार उसने बिना किसी चूंचरा के सहन किया, जितना ही अधिक उसने अपने व्यक्तिगत जीवन को प्रारम्भिक दंभपूर्ण जातिवाद की आज्ञाओं के सम्मुख झुकाया, उतनी ही अधिक उसकी प्रशंसा की गई, उतनी ही अधिक वह गुणशीला हो गई। सदियों तक नारी को चेतनायुक्त मिट्टी का बरतन समझा गया, जिस पर किसी न किसी पुरुष का अधिकार होना ही चाहिए। इसी लिये उसका विवाह जल्दी से जल्दी आने वाले अवसरों पर कर कर के छुट्टी पाई जाती रही। एक बार संपत्ति बन जाने पर वह जीवन भर के लिये पुरुष की संपत्ति हो गई। कभी भी खेल के साथी की तरह उसे नहीं समझा गया, न ही वह कभी खेल की वस्तु की तरह ही समझी गई, बल्कि सदा एक मिल्कियत की तरह ही उसे रखा गया।"

नारी जीवन की करुणा को मध्यम वर्ग में अधिक तीव्रता से अनुभव किया जाता है। गरीब औरतें, जो कुल स्त्रियों की संख्या की ९५ प्रति शत हैं. आर्थिक क्षेत्र में किसी हद तक आत्मनिर्भर हैं और उन्हें कुछ अधिक स्वतन्त्रता मिल जाती है। उच्च शिक्षित तथा धनाढ्य स्त्रियां अत्यधिक आत्मसम्मान में डूबी रहती हैं, और नीची श्रेणी की स्त्रियों से अलग-थलग उनका अपना निराला ही संसार बसा हुआ है। मध्यमवर्गीय स्त्रियों को न ही आत्मसम्मान से विभूषित गुड़िया बनने की सुविधा है और न ही निम्न श्रेणी की आय से घर भर का गुजारा चलाने वाली मुख्य सहायिका होने

---

१. नीलिमादेवी, हिंदुस्तान टाइम्स, फरवरी १०, १९३६ ई०, श्री एम० एन० राय की पुस्तक 'भारतीय नारीत्व का आदर्श' से उद्धृत।

का ही अवसर है। इसी लिए समाज की असमानता का सब से तीव्र अनुभव उन्हें होता है।

गांवों में नारी के जीवन का सब से भारी बोझ धर्म है। उस के हाथ-पैर और शरीर का रोआं रोआं पति के घर से और धर्म के आदेशों से बंधे हुए हैं। यदि पति उस से बुरा व्यवहार भी करता है या उसे खाने को भी नहीं देता है, तो भी न वह अलग होने का यत्न कर सकती और न ही जीवन चलाने के कोई अन्य साधन खोज सकती। उसे एक ऐसा सतीत्व पालन करना पड़ता है, जो स्वयं जीवन से भी अधिक आवश्यक है।

दूसरे लोगों की निगाहों के सामने पड़ना, खुले में निकलना और दूसरों के साथ बातचीत करते पाया जाना ये सब स्त्रियों के पतन के चिह्न समझे जाते हैं। गांवों की मध्यमवर्गीय नारी के लिए जीवन की इस ऊब से छुटकारा पा कर भागने का स्थान केवल नगर का वेश्यालय है, किंतु साधारण नारी में इतने नीचे गिर कर पिसने का साहस नहीं है।

गांवों में नारी की हीनता का सब से बड़ा कारण है संयुक्त परिवार प्रणाली। इस प्रकार के परिवार में आबद्ध नारी का जो चित्रण नीचे दिया गया है, इस से भी अधिक स्पष्ट चित्र और क्या होगा :

[1]"संयुक्त परिवार की स्त्रियां कभीकभार ही बाहर निकलती या आपस में मिलजुल पाती हैं, और जो भी अंधविश्वास स्त्रीशिक्षा के बारे में चलते हैं उन के होते हुए उन के सामाजिक सम्मिलन के अवसर सीमित ही हैं। परिवार का मुखिया तक गृहस्वामिनी सास की अपेक्षा उदार होता है। पारिवारिक दमन के लिए उस की शक्ति लोकप्रसिद्ध है। सर्वसाधारण के मतानुसार यह परिवार का सब से अधिक आपत्तिजनक स्तम्भ है। अपनी युवावस्था में बड़ों के द्वारा अपने ऊपर ढाए गए अत्याचारों से वह स्वयं कुलबुलाई रहती है और अब, जब कि वह स्वयं सत्तारूढ़ हो जाती है, तो उन सब का बदला चुकाने पर कमर कस लेती है। लेकिन इस दुनिया में अपराधी तो कभीकभार ही अपने किए की सजा पाते हैं। अतः सास भी अपनी भड़ास का विष निर्दोष पुत्रवधू पर उंडेलती रहती है। यदि इन लड़कियों में कोई सुन्दर और चंचल भी निकल आती है, तो वह खास निशाना बनाई जाती है, क्यों कि सास के नैतिक संविधान के अनुसार सुन्दरता व चंचलता वेश्याओं के लक्षण होते हैं। बुढ़िया स्वयं अपनी ही खो चुकी होती है, इसलिये इन गुणों के विचार से युवतियों को अधिक गुणशीला

---

1. श्री पी० थॉमस, 'भारत में नारी और विवाह,' अं०, लंदन, जार्ज एलेन एंड अनविन।

समझा ही नहीं जाना चाहिए। उन के पाप खालमांस के नहीं हैं, बल्कि उन की हड्डियों में समाए गए हैं। घर में और कुछ करने-धरने को उसे रहता नहीं, सिवा इस के कि वह अपनी पुत्रवधुओं को टीसती रहे। इसी लिए वह एक बहू को दूसरी बहू के विरुद्ध भड़का कर तमाशा देखती है। वह उन बहुओं को विशेष प्रधानता देती है, जो अपने घर से आभूषण और मिठाइयां लाती हैं। समधिन को अकारण ही अपमानित कर के वह अपनी उच्चता प्रमाणित करती है। बहू से किसी प्रकार की वेहूदगी हो जाने पर सारा दोष उस की मां के लालनपालन और स्वभाव पर मंढा जाता है। यदि बेचारी बहू यह सब सहते सहते तंग आ कर कभी अपने पति से शिकायत कर बैठती है और वह महाशय मां पर तनिक सा नुक्ता झाड़ देते हैं, तो बंत उठ जाती है और बहू को एक ऐसी जादूगरनी घोषित कर दिया जाता है, जिस ने उस के ऐसे बेटे पर जिसे उस ने अपनी छाती का दूध पिलाया है, जादू डाल कर अपनी मां के विरुद्ध खड़ा कर दिया है। और सास क्यों कि अपनी झुर्रियों की बदौलत अधिक स्वतन्त्र हो जाती है, अतः वह पड़ोसियों में बहू के विरुद्ध कथा–पाठ कर के अपने हित में लोकमत तैयार करती रहती है।"

नगरों और कस्बों में घरेलू जीवन कुछ भिन्न है, किंतु इस से अधिक सुखी किसी भी प्रकार नहीं है। वहां मां के स्थान पर पति की अतिप्रभुता चलती हैं, जो स्वयं एक कमजोर सा आदमी होता है। वह अधिकतर शहर के दफ्तरों में से किसी एक में क्लर्क होता है, जिस से नाम मात्र की इतनी आय पल्ले पड़ती है कि घर का व्यय भी पूरा नहीं होता। बाहर जो भी धमकियां व गालियां वह सुनता है, घर में आ कर वे सब चक्रवर्त्ती ब्याज के साथ पत्नी पर उतारता है, जिस पर उस के सभी दुर्भाग्यों का अभिशाप रहता है। उस की दुनिया चार दीवारों से घिरी एक कोठरी होती है, जिस का क्षेत्रफल आम तौर पर दस वर्ग गज रहता है और उसी में से रसोई, शयनकक्ष और बैठक इत्यादि सभी कुछ बन जाते हैं। मिट्टी के माधो की यह सहधर्मिणी देवी माता की उत्तराधिकारिणी कही जाती है। इन अन्ध–कारमय, धूमिल, छोटे छोटे घरों में वह मध्यम वर्ग पलता है, जिसे राष्ट्र के बौद्धिक जीवन का कर्णधार कहा जाता है। इन नगरों में, सघन और भद्दे कस्बों और गांवों में, ठीक इन घरों में एक जाति का ह्रास बड़े बड़े अक्षरों में लिखा जाता है, जो किसी भी राष्ट्र के स्वास्थ्य और समृद्धि पर भीषण से भीषण अकाल से भी अधिक प्रभाव डालता है।

हिंदू स्त्रियों को सम्पत्ति का उत्तराधिकार मिलना मना है। राजा राममोहन राय के अनुसार सती प्रथा यानी पति की चिता पर पत्नी के

जीवित ही जल मरने का चलन इसी व्यवस्था से उत्पन्न हुआ है। हिंदुओं में विधवा से सभी स्त्रियों से अधिक, यहां तक कि वेश्या से भी अधिक घृणा की जाती है। उसे अपना सिर मुंडाना होता है, सभी प्रकार के उत्कृष्ट वस्त्र, गहने और अन्य सौंदर्य प्रसाधन त्याग देने पड़ते हैं। उस का खाना थालियों में न दे कर कच्ची धरती पर परोसा जाता है और उस की निगाह के सामने आ जाना तक अपशकुन ख्याल किया जाता है। विवाहों और उत्सवों में उस का सम्मिलित होना वर्जित कर दिया जाता है। उत्तराधिकार के नियम पर काररवाई हो जाने के बाद वह आश्रयहीन हो जाती है या उस सास की दया पर रह जाती है, जो अपने पुत्र के मरने का आरोप उस के दुर्भाग्य पर और प्रायः उस के सतीत्व पर लगाती है। मुसलमान स्त्रियों की अवस्था इस से कुछ अच्छी है। उन का उत्तराधिकार का हक भी अधिक समान है और न ही उन की विधवाओं पर लांच्छन है। इस्लाम में विधवाओं का पुर्नविवाह धर्मानुमोदित है, लेकिन परम्परा से नहीं। एक मुस्लिम नारी के कथनानुसार : [1]"मेरी मां का पुर्नविवाह अफगान जाति के चलन के विरुद्ध हुआ था। भारत के मुसलमान अफगानों के रीतिरवाज से बुरी तरह चिपटे हुये थे और समाज पर उन रीतिरवाजों की पकड़ अब इतनी सख्त हो गई थी कि उस का तनिक सा भी उल्लंघन जघन्य अपराध समझा जाता था। स्त्री और पुरुष दोनों ही की इस बारे में समान भावना थी। यहां तक कि वे लोग भी, जिन के विचार पश्चिमी शिक्षा के कारण सुधर गये थे, अपने परिवारों में पुर्नविवाह की अनुमति नहीं देते थे, और आज तक भी यह कृत्य अफगान रक्त के लगभग सभी मुसलमानों में हीनता की दृष्टि से देखा जाता है।"

सुधार आंदोलन और विधवा विवाह कानून के बावजूद हिंदुओं में विधवाओं के पुर्नविवाह की सख्या सीमित ही है। आर्य मैरिज वैलिडेशन एक्ट के अनुसार हिंदुओं में अंतर्जातीय विवाह वैध हो जाते हैं और शारदा एक्ट विवाह के समय कन्या की आयु पर प्रतिबंध लगा देता है। विशेष विवाह कानून विभिन्न जातियों के व्यक्तियों के विवाह कानूनी करार देता है। विवाह और उत्तराधिकार के बारे में स्त्रियों के अधिकारों को सभ्यता के समतल लाने के लिये और भी छोटे छोटे कानूनी लुकमे तैयार किये गए। लेकिन तमाम कानून और सुधार आंदोलन के बावजूद धार्मिक परम्परा की चक्की ज्यों की त्यों स्थापित है, जो देश की अधिकांश जनसंख्या को अपने क्रूर पाटों के बीच में रख कर पीस रही है। ● ● ●

---

१. स्व० बेगम भोपाल की आत्मकथा, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित श्री एस० नटराजन की पुस्तक 'सामाजिक समस्याएं' से उद्धृत।

आगामी कल

प्राचीन संयुक्त परिवार के टूटने और गरीब मध्यम वर्ग के फैलाव के साथ साथ भारतीय समाज में स्त्रियों की अवस्था का प्रश्न बहुत से दिमागों को कुरेदेगा। टूटते हुए उन्नत शिखर के किनारे पर लड़खड़ाते मध्यम वर्ग के पांवों में पुरुषों पर स्त्रियों की निर्भरता अतिरिक्त बोझ है। नवीन स्थितियों में पुराने मूल्यों से चिपटे रहना, जब कि उन मूल्यों के जनक और आधारभूत साधन समाप्त हो गए हों, मानवीय सम्बन्धों के सूत्रों को अवश्य ही छिन्नभिन्न कर देगा।

आर्थिक क्षेत्र में भूमिदासत्व घरों में स्त्रियों की दासता से पहले मौजूद था। एक विशेष दृष्टिकोण से मनुष्य की दासता अब से बहुत पहले समाप्त हो चुकी है, यद्यपि सामान्यत: वह अब भी आर्थिक दासता में, कदाचित् अधिक विस्तार के साथ, बंधा हुआ है। किन्तु नारी का उत्थान तो अभी छापे के अक्षरों से भी बाहर नही निकला है। स्त्रियों के लिये रोजगार-धंधों का खुल जाना, समान उत्तराधिकार पर लगी हुई बाढ़ों का हटा दिया जाना या विवाह के नियमों का पुनर्गठन ही वर्त्तमान नारी की अवस्था को नहीं बदल देंगे। इन कार्यवाहियों का तो यही अर्थ होगा कि कुछ और स्त्रियां धंधों में लग जाएंगी। कुछ और धनी हो जाएंगी और एक बहुत कम संख्या सुखविहीन गृहस्थियों से अलग हो कर, यदि संभव हुआ तो, नवीन विवाह सम्बन्ध स्थापित करेंगी। अवरोधों के रहते हुए भी जो स्त्रियां इन चीजों से लाभ प्राप्त करेंगी वे औसत स्त्रियों से अधिक सुविधा-पूर्वक अपना जीवन बिता सकेंगी। किंतु एक सामाजिक विज्ञानवेत्ता का काम कुछ व्यक्तियों के रहन-सहन के तरीकों में परिवर्तन करना नही है, बल्कि सभी के लाभ के लिये समाज का पुनर्गठन करना है।

स्त्रियों की तमाम मुसीबतों की जड़ पुरुषों पर उनकी निर्भरता है। जहाँ तक उनके जीवन यापन का सम्बन्ध है, यदि स्त्रियों को आत्मनिर्भर बनाया जा सके, तो सामाजिक सुधार के लिये बहुत कम काम शेष रह जाएं। किन्तु समस्या तो यही है कि उन्हें आत्मनिर्भर कैसे बनाया जाए?

आने वाली प्रत्येक समाज संगठन प्रणाली में स्त्रियों के लिये रोजगार की अनिवार्यता नीति के रूप में अपनाई जानी चाहिए। पुराणपंथी अर्थशास्त्री तर्क करेंगे कि यह कैसे हो सकता है। यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि

पुराणपंथी अर्थशास्त्र की सीमाओं के भीतर राज्य संगठन इतना भी भार नहीं उठा सकता कि वह तमाम इच्छुक और काम करने के लिये प्रस्तुत वयस्क पुरुषों को ही काम दे सके। लेकिन एक बार यह स्वीकार कर लेने पर कि सेक्स का विचार न करते हुए तमाम वयस्क जनसंख्या को पूर्ण और अनिवार्य रोजगार देना किसी भी राज्य का उचित और आवश्यक कर्त्तव्य है, केवल योजना की बारीकियां भर शेष रह जाती हैं, कि लोगों को इस प्रकार काम पर लगाने के सब से अच्छे ढंग क्या क्या और किस किस प्रकार हो सकते हैं। समाजवादी अर्थव्यवस्था में, उन साधनों को छोड़ कर जो सरकार के कब्ज़े में हैं, नौकरियों और सामान के उत्पादन की कोई सीमा निर्धारित नहीं है। व्यक्तिगत वस्तुओं और सेवाओं के बारे में तो आवश्यकता की सीमा हो भी सकती है, किन्तु जनता की साधारण इच्छाएं कभी पूरी नहीं होतीं। उत्पादन में होने वाली प्रत्येक बढ़ोतरी के साथ जन-जीवन का मापदंड और ऊंचे चढ़ जाता है।

स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता के लिये सब से पुराना तर्क जॉन स्टुअर्ट मिल का है: [1] "यदि नारी के पास अपनी स्वतन्त्र संपत्ति नहीं है, तो उस के मानसंभ्रम के लिये उस में कमाने की शक्ति का होना अनिवार्य है।" किन्तु अपने इस विश्लेषण में मिल महोदय सरकारी हस्तक्षेप से रहित व्यक्तिगत व्यापार के सिद्धान्त पर ही अटल रहे, और इसी कारण वह स्त्रियों के लिये केवल समान उत्तराधिकार और संपत्ति की व्यवस्था के समानाधिकार का उपचार ही बता सके। आज का समाज संपत्ति पर तो कठिनाई से ही गुज़रबसर करता है। जनता की बड़ी संख्या को अपनी रोजी कमाने के लिये काम करना पड़ता है, और आज के समाज की रूपरेखा भी श्रम को ही जीवित रहने का साधन मान कर तैयार की जानी चाहिए।

मिल महोदय के इस तर्क में सच्चाई है कि घर का प्रबन्ध करने और बच्चों के पालनपोषण के काम के साथ साथ यदि स्त्रियों को कमाने के लिये भी काम करना पड़े, तो उन पर यह एक अतिरिक्त भार थोपना होगा। किन्तु इस मामले में तो बहुमत को इन दो चीजों के बीच ही चुनाव करना है: अनवरत अत्याचार और निठल्ले रहन-सहन का भूत।

१. एवरी मैंस लाइब्रेरी से प्रकाशित जॉन स्टुअर्ट मिल की पुस्तक 'स्त्रियों की दासता।'

एक अधिक आधुनिक विद्वान के शब्दों में : [1]"आर्थिक स्वतन्त्रता के होते हुए विवाह पूर्ण साझेदारी का रूप ले सकता है, जिस में स्वतन्त्र चुनाव होगा और जो सीधीसादी ईमानदारी और साझीदार के व्यक्तित्व के प्रति निश्छल सम्मान पर आधारित रहेगा। अपनी न्यायपूर्णता को प्रकट करता हुआ ऐसा जीवन चिल्ला चिल्ला कर कहता है कि इच्छित संतान उत्पन्न करने के लिए संसार एक पर्याप्त आनंदपूर्ण स्थान है। तब एक समान योग्यता और रुचि रखने वाले स्त्री-पुरुषों के बीच विवाह में कोई अड़चन खड़ी नहीं होगी और उत्कृष्ट व हीन दोनों ही प्रकार के अनमेल व्यक्तियों के चरित्रों को निकम्मा बनाता, गिराता और छिन्नभिन्न करता हुआ कोई मानसिक कुमिलन नहीं होगा। अत्याचारियों और अनुत्तरदायी व्यक्तियों के हाथों में कमजोरों को दबाने के लिए कोई हत्था नहीं होगा। बिना आर्थिक स्वतन्त्रता के विवाह, डाक्टर मैकडुगाल के शब्दों में : "बच्चों और स्त्रियों की सुरक्षा का भार ढोने के लिये एक बहाना मात्र रह जाता है। ये स्त्रियां और बच्चे आर्थिक अनिश्चितता की ओर से इस प्रकार के विवाह पर निर्भर रहते हैं, और यदि इस में भी कोई जालसाजी हो जाती है, तो नैतिकता ही उन का आधार रह जाती है। संक्षेप में यह कुछ ऐसी संस्था रह जाती है, जो संरक्षण और ठेके की हैसियत से आगे नहीं बढ़ी है। समाज के नाम पर मर-मिटने के बहाने किया गया प्रत्येक व्यक्ति का अपनी व्यक्तिगत योग्यता नापने का यह काम मानवता के साध्य यन्त्र के नाम पर उसे जर्जरित करने वाला काम है।"

पूर्ण रोजगार के सिद्धांत में जोर उस की अनिवार्यता पर दिया जाता है। स्त्रियों के लिये पूर्ण रोजगार की सीधीसादी स्वीकारोक्ति सामाजिक ढांचे में कोई शीघ्रगामी परिवर्त्तन नहीं ले आएगी। नारी संख्या का एक विशाल बहुमत परम्पराओं के बंधन से बांध कर डाल दिया जाएगा। एक बड़ी तादाद में पुरुष अपनी पत्नियों के द्वारा घर में आने वाली आमदनी को धता बतायेंगे और वह भी इस दलील पर कि वे अपने अपने पति का पोषण करने के धंधे में पूरी तरह व्यस्त रहें और उन्हें अपनी पत्नियों पर अधिकार होने का अभिमान एवं आनन्द प्रदान कर सकें। यह एक निश्चित संभावना है, जिसे नारी स्वतन्त्रता की योजना बनाते समय राज्य को ध्यान में रखना पड़ेगा।

शरीर से समर्थ जो स्त्रियां लाभप्रद या उत्पादक धंधों में काम न

---

१. प्रो० बी० ई० जी० काटलिन की प्रस्तावना। एवरीमैंस लाइब्रेरी की पुस्तक 'स्त्रियों के अधिकार'।

करें उन पर जुरमाना होना चाहिए। यदि वे अपने पति या परिवार के अन्य किसी सदस्य के इशारे पर काम न खोजें, तो उन सब पर बराबर बराबर जुरमाना होना चाहिए। भविष्य की अर्थ व्यवस्था इस सिद्धांत पर आधारित होनी चाहिए कि जीवन का अधिकार पूर्ण रूप से काम करने पर ही आश्रित है. और समाज के बच्चों, बूढ़ों, बीमारों तथा मोहताजों को छोड़ कर जो अन्य व्यक्ति काम नहीं करते उन्हें उस के परिणाम में जीने का भी कोई अधिकार नहीं है। जो औसत लोग सामाजिक संगठन के वर्तमान विचारों की शिक्षादीक्षा में पले हैं उन्हें यह सुझाव कडुआ लग सकता है, लेकिन जो लोग आंखें रखते हैं उन के सामने यह भी स्पष्ट होगा कि आर्थिक और सामाजिक शोषण के जुए से नारियों को मुक्त करने के लिए ये ही साधन शेष रह गए हैं। प्राकृतिक क्षेत्र में परिश्रम करने वाले स्त्री-पुरुष मानसिक व आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का लाभ प्राप्त करेंगे और जीवन का आनन्द लेने के लिए उन्हें एक पूर्ण निरावरोध व अबाध स्वतन्त्रता मिलेगी। इस आनन्द प्राप्ति में केवल वे ही सीमायें रहेंगी, जो राज्य या राष्ट्र की आवश्यकताओं के कारण लागू होंगी। ये अवरोध भी उस सामूहिक ढांचे में व्यक्ति का विकास करने के लिए ही निर्मित होंगे।

फिर भी स्त्रियों के पूर्ण रूप से काम-धंधों में लग जाने से राज्य के ऊपर कुछ अधिक उत्तरदायित्व तो आ ही जायेंगे। बच्चों के पालन-पोषण के लिए पर्याप्त सुविधायें देनी होंगी, विशेषतः उन घंटों में जब उन की मातायें अपने धंधों में रत होंगी। इन बच्चों को उस समय रखना भी ऐसे स्थानों पर होगा, जो उन की माताओं के काम करने के स्थानों से निकट ही हों, ताकि वे अपने बच्चों की चिंता से मुक्त रहें। यदि बच्चे छोटे छोटे हों, तो यह और भी ज्यादा जरूरी हो जाता है। काम के जो घंटे पुरुषों के लिए उपयुक्त होंगे वे ही स्त्रियों के लिए नहीं होंगे। उदाहरण के लिए साधारणतः फैक्ट्रियों में सुबह के प्रारम्भिक घंटों में काम आरम्भ होता है, कहिए कि आठ बजे। इस काल में स्त्रियों को बच्चों की देखभाल करनी पड़ती है, उन्हें खिलाना-पिलाना, बनाना-संवारना आदि रहता है। साधारणतः समय पर उपस्थित होने में उन्हें काफी दिक्कतें होंगी। इस कारण उन के काम के घंटे इस प्रकार रखने पड़ेंगे कि वे अपने घर के काम की ओर भी ध्यान देने की सुविधा पा सकें, बच्चों की देखभाल भी कर सकें, और एक-दो बार बीच के अवकाश में भी उन्हें देख सकें, और स्वयं उन्हें भी बीच बीच में कुछ आराम व मनोरंजन मिल सके।

स्त्रियों के लिए अधिक सुविधाओं का प्रबंध करने में यह हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि वे किसी पक्षपात के कारण इन सुविधाओं की अधिकारिणी

नहीं हैं, बल्कि प्रकृति ने बच्चे पैदा करने का जो अतिरिक्त काम उन के सिर पर डाल दिया है, यह उस का मुआवजा है। साथ ही साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि यह अतिरिक्त शारीरिक कर्त्तव्य उन्हें किसी प्रकार का उत्पादक श्रम करने की आवश्यकता से मुक्त नहीं कर देता। यदि यह विचार, जो आजकल है, मान लिया जाए कि स्त्रियों को बच्चे पैदा करने पड़ते हैं, इसलिए उन्हें ऊपर से और कामधाम नहीं सौंपना चाहिए, तो इस से स्त्रियों का पक्ष नहीं लिया जाता, बल्कि उन्हें पुरुषों की प्रभुता के नीचे असहनीय कष्ट सहने के लिए बाध्य किया जाता है।

इस बात की भी संभावना है कि सब कुछ करकरा कर एक लम्बे समय के विचार से स्त्रियों का काम पुरुषों के काम के बराबर उत्पादक न हो सके, कारण कि जहां तक शारीरिक परिश्रम का संबंध है, प्रसव से पूर्व और पश्चात् काल में स्त्रियों को आराम की आवश्यकता रहती है। लेकिन साथ ही यह भी इस के लिए कोई समुचित तर्क नहीं है कि स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा कम पारिश्रमिक मिलना चाहिए। चाहे समय के हिसाब से वेतन मिले चाहे काम के हिसाब से, स्त्रियों और पुरुषों के लिए भिन्न भिन्न पारिश्रमिक देने की नीति को बल देने के लिए न ही कोई आर्थिक कारण है और न ही कोई नैतिक आधार है। यदि सामाजिक उच्चता को विशेष योग्यता के विचार से ही तौला जाए, तो स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा अधिक वेतन मिलने का प्रत्येक कारण है, और वह भी अधिक समय तक आराम की सुविधा, और प्रसव से पूर्व और उस के पश्चात् काल की सवेतन छुट्टियों के साथ। ऊंचे वेतन देने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं हैं, जिन से जातियों के पुनरोत्पादन और पालनपोषण के रूप में समाज के प्रति की जाने वाली स्त्रियों की सेवाओं का बदला दिया जा सके।

जच्चाबच्चा अस्पतालों, बच्चों के लिये शिशुगृहों, स्त्रियों के लिए मनोरंजन केन्द्रों की स्थापना और संचालन उसी प्रकार राज्य का सामान्य काम होना चाहिए, जैसे वह अपने नागरिकों के लिए सार्वजनिक अस्पतालों, स्कूलों और न्यायालयों की व्यवस्था करता है। इन विशेष सुविधाओं पर किया गया व्यय इस प्रकार स्त्रियों के कार्य का श्रम-मूल्य नहीं माना जा सकता। स्त्रियां भी राज्य की उतनी ही उचित स्तम्भ हैं, जितने कि पुरुष। जो अर्थशास्त्री यह कहते हैं कि इन विशेष सुविधाओं का मूल्य भी स्त्रियों के श्रम-मूल्य के साथ अवश्य जुड़ना चाहिए, वे या तो स्त्रियों की दासता के ऊपर आधारित वर्त्तमान समाज व्यवस्था के अस्तित्व की ओर से क्षमा-प्रार्थी हैं या उन धंधों में साझीदार हैं, जो स्त्रियों की प्रतिस्पर्द्धा को अपने

से दूर रखने का प्रयत्न करते हैं और अपने वर्तमान एकाधिकार को ज्यों का त्यों कायम रखना चाहते हैं।

जिन धंधों में आम तौर पर स्त्रियों को लगाया जा सकता है वे उन की शारीरिक विशेषताओं के कारण कुछ हद तक सीमित हैं। विशेष विशेष समयों में स्त्रियां भारी शारीरिक श्रम के अयोग्य होती हैं, यद्यपि आजकल तो वे खतरनाक या भारी सभी प्रकार के धंधों में काम करती पाई जाती हैं। आज उन का काम दो चीजों से निर्दिष्ट होता है: काम देने वाले की लाभ की भावना और काम पाने वाले की हीनता व गरीबी। यदि श्रम का नियमन इन दो बातों की सीमा से बाहर हो, तो फिर काम के प्रकार के लिए व्यक्तियों की उपयुक्तता, उन की योग्यता और नैतिक सिद्धांत ही ऐसी वस्तुएं रह जायें, जिन पर ध्यान दिया जाएगा। यह सामान्यत: मानी हुई बात है कि स्त्रियों के अन्दर सहन-शक्ति अधिक होती है और वे पुरुषों की अपेक्षा अधिक लम्बे समय तक कड़ी मेहनत कर सकती हैं। साथ ही चाहे यह बात तथ्य पर आधारित हो चाहे न हो, स्त्रियों के ऊपर भारी शारीरिक श्रम या खतरनाक काम डालना अनैतिक ही होगा।

एक विशाल संख्या में आसान धंधे, जिन में आजकल पुरुष लगे हुए हैं, स्त्रियों के जिम्मे सौंपे जा सकते हैं। क्लर्की, शिक्षण, कानून, स्थापत्य, डाक्टरी के धंधे, इंजीनियरिंग की सलाहकारी, हिसाबकिताब, नर्सिंग, शासन और शिक्षण संबंधी काम, ट्रैफिक पुलिस का काम, फैक्टरी, विक्रय विभाग का काम, सांस्कृतिक और नाटकीय कलाएं, पत्रकारिता, रेडियो इंजीनियरिंग और ब्राडकास्टिंग, संवादवहन, शिशुगृहों की देखभाल, ये उन बहुत से धंधों में से कुछ ही हैं, जिन में स्त्रियों को लगाया जा सकता है। रूसी अनुभव के अनुसार तो व्यावहारिक रूप से कोई भी काम ऐसा नहीं हैं, जिस में स्त्रियों ने पुरुषों की बराबरी न की हो। वास्तव में कुछ ऐसे कामों में तो वे पुरुषों से भी बाज़ी मार ले गई हैं, जो अब तक केवल पुरुषों के ही धंधे समझे जाते थे। रूसी स्त्रियों ने कृषि ट्रैक्टर ड्राइवरों, टैंक तथा मशीनगन चालकों, वायुयान चालकों, हवाई इंजीनियरिंग, पैदल और घुड़सवार सिपाहीगीरी और गुरिल्ला लड़ाई के कामों में वीरता, योग्यता और धैर्य के विचार से अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

इस कथन में रंच मात्र भी तथ्य नहीं है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की बुद्धिमानी में कुछ कमी है। यह तर्क उसी समय से उठा है, जब से पुरुषों की अधिकार शक्ति के लिए सुरक्षित कामों में स्त्रियों को लगाने का प्रश्न खड़ा हुआ। इस बारे में जॉन स्टुअर्ट मिल महोदय के इस उत्तर से अच्छा कोई उत्तर नहीं है: [१]"हर तरह से यही मान्यता आज स्थापित है कि

स्त्रियों का मस्तिष्क पुरुषों से छोटा होता है। यदि यह आरोपण केवल इसलिए है कि सामान्यतः स्त्रियों का शारीरिक ढांचा आयतन में पुरुषों से छोटा होता है, तो इस से विचित्र परिणाम निकलेंगे। इस हिसाब से तो एक लंबेचौड़े ढांचे का आदमी एक ठिगने आदमी से बुद्धिमानी में आश्चर्यजनक रूप से बढ़ा हुआ होना चाहिए, और हाथी या व्हेल मछली तो मानव से लाख दर्जे बेहतर होने चाहिए। "केन्द्रिक भौतिक शास्त्र सहित आधारभूत विज्ञान की खोजबीनों में लगी हुई स्त्रियों की संख्या, और मैडेम क्यूरी का उदाहरण इस आरोप के विरुद्ध किसी भी शरीर शास्त्रीय अथवा जीव विज्ञान के आंकडों से अधिक प्रामाणिक साक्षी हैं।

एक और समस्या है, जो भविष्य के आयोजकों की कल्पना को विचलित करेगी, कि अशिक्षित और अपढ़ औरतों की विशाल संख्या को किस तरह काम पर लगाया जाए। भारत में सदियों से स्त्रियों को घरों में बंद रखा गया है, जिसका परिणाम यह हुआ कि संसार का सामना करने का उनका आत्मविश्वास जड़ से उड़ गया है। इन मासूम, उत्पीड़ित, भय से आक्रांत स्त्रियों के मस्तिष्क में, जो किसी बाहरी आदमी की सूरत तक देख कर कांप जाती हैं, उत्साह और आत्मविश्वास की ज्योति फिर से जगाना एक भारी काम है। योजना के प्रारंभिक चरणों में स्त्रियों की इस विशाल संख्या को विशेष रूप से इस प्रकार के कामों में लगाना पड़ेगा : शिशुगृहों की देखभाल, खेतीबाड़ी के हल्के काम, भोजन उद्योग, जातीय भोजनालय की व्यवस्था, वस्त्रों की धुलाई, अन्य देखभाल का कौशलरहित काम, उन फैक्टरियों में सीखने का काम, जहां स्त्रियों को एक-दो या सभी विभागों में काम दिया जाता है। वे स्त्रियां, जो बुद्धिमान और योग्य निकलती हैं, उन्हें अधिक कौशलपूर्ण कामों की शिक्षा दी जा सकती है, जैसे दर्जीगीरी, नर्सिंग, फ़ार्म की मशीनों की मिस्त्रीगीरी, डेरी फ़ार्म का काम, मुर्गी पालना और तरकारियां उगाना। जब एक बार शारीरिक रूप से योग्य वयस्क स्त्रियों को अनिवार्यतः काम पर लगाने का सिद्धांत स्वीकार कर लिया जाएगा, तो उनके लिए उपयुक्त कामधंधों के चुनने में बिल्कुल भी मुसीबत नहीं पड़ेगी।

वयस्क स्त्रियों को पढ़ाना और उन्हें जीवन का सामना करने के लिए शिक्षित करना, और पुरुषों के बराबर ही उनका काम करना राज्य के लिए कुछ वर्षों तक एक बड़ा प्रोग्राम रहना चाहिए, जिस में शिक्षकों, समाज विज्ञानाचार्यों और स्त्री बुद्धिजीवियों की एक विशाल संख्या काम पर लगाई जाए। अग्रगामी विचारों की स्त्रियों के चरित्र की प्रशंसा, उनके जीवन और कार्यों के मूर्त्तीकरण की महानता दर्शाना, और प्रचार के प्रत्येक संभव साधन

द्वारा नवीन नैतिकताओं और धार्मिक मूल्यों को प्रचारित करना, ये सब काम परंपरा के सभी चिह्नों, संस्कारगत नीचता और भावनात्मक विरोधों को मिटाने के लिए किए जाने चाहिए। यह भी संभव है कि विभिन्न स्थानों से पागलपन की सीमा तक विरोध उठें, जिन में स्त्रियां भी शामिल हों, और बहुत सों को दीवार के सहारे खड़ा करके गोली भी मार देनी पड़ें, इस से कहीं बड़ी संख्या को जेलों में ठूंसना पड़े और मुकदमे चलाने पड़े। इस तरह की कार्यनीति में बच्चों की तरह बहलाने-फुसलाने के तरीके आत्मघातक होंगे। प्रत्येक पग के साथ निश्चित उद्देश्य की ओर आगे बढ़ने से ही स्थायी परिणाम निकलेगा।

तमाम विवाहित या अविवाहित वयस्क स्त्रियों को अनिवार्यता: काम पर लगाने से जो सामाजिक क्रांति होगी, उसके साथ जीवन और भोजन की आदतों में भी भारी परिवर्तन आ जाएगा। स्त्रियों का एक काफी बड़ा भाग अपने लिये, बच्चो के लिये, पति सहित परिवार के अन्य सदस्यों के लिये, यदि वे सब साथ रहते हैं, घर में खाना पकाना असुविधाजनक और भारपूर्ण समझने लगेंगी। ऐसी दशाओं में भोजन व्यवस्था या तो राष्ट्रीय उद्योग का रूप धारण करेगी या सहकारी जातीय भोजनालयों का रूप लेगी, जिन में उनके सदस्य स्वयं चंदा देंगे और उन्हीं के द्वारा पूरे समय काम करने वाले कार्यकर्त्ता नियुक्त होंगे ओर स्वास्थ्य विज्ञान से युक्त यंत्र लगाए जाएंगे। स्त्रियाँ जो थोड़ा बहुत खाना-पकाना घर पर करेंगी भी वह उनकी विशेष रुचियों के अनुकूल होगा, जैसे चाय बनाना या शराब आदि के लिये चिखौनी बनाना। जिन परिवारों में छोटे छोटे और असमर्थ बालबच्चे होंगे वे अपने आप ही खाएंपकायेंगे, किन्तु एक स्थायी समाज के हित में आवश्यक रूप से उनके काम हल्के करने पडेंगे।

घरेलू काम इसलिये भारपूर्ण नहीं होते कि उन में मेहनत करनी पड़ती है, बल्कि उनका तौरतरीका ही कष्टप्रद होता है। पानी खींचना, लकड़ी चीरना, धोने के लिये कपड़ों का पटकना, बरतनो का माँजनाधोना आदि काम गाँव की या शहर की किसी भी गृहवधू के लिए, वर्त्तमान सुविधाओं के रहते हुए, न ही सुखप्रद हैं और न ही सहनीय हैं। गाँव के परिवारों में इन कामों को करने के लिये मशीनें पहुंचाना बड़ी दूर की बात होगी, लेकिन कम से कम शहरों में उनकी व्यवस्था अपेक्षाकृत आसानी से हो सकती है। खाना पकाने के चूल्हे, घरेलू कपड़े धोने की मशीन, बरतन धोने की मशीन जैसे आवश्यक श्रम और कष्ट बचाने वाली मशीनें तो शहरों तक में नहीं सुनी गई। जिन घरों में गैस और बिजली से पकाने के साधन लगे हुए हैं उनकी संख्या बहुत सीमित है।

आज उनका प्रबन्ध करना एक मोटरकार रखने से भी अधिक विलासितापूर्ण है।

यह भी सभ्यता का मजाक ही है कि राष्ट्रीय सरकारें हवाई जहाज और मोटर बनाने के कारखाने तो चलाती हैं, लेकिन अपनी पंदरह करोड़ गृहवधुओं के लिए ईंधन बचाने वाले सस्ते चूल्हों का उत्पादन नहीं करती। जब तक वायुयानों का उपयोग बमबारी और लड़ाई को छोड़ कर नागरिक और डाक यातायात के रूप में पूर्ण रूप से नहीं होने लगता, तब तक उन्हें केवल बदला लेने के हथियार ही समझा जाएगा। इस प्रकार की सम्भावना आज भी दूर ही है। इस बीच राष्ट्र का अधिक मानवतापूर्ण कार्यक्रम यह होगा कि राष्ट्रीय पैमाने पर ऐसे चूल्हों का निर्माण किया जाए, जो गरीब से गरीब घर में भी पहुंच सकें। तीन व्यक्तियों के परिवार के लिए आजकल सस्ते से सस्ता चूल्हा उतना ही महंगा है, जितना कि एक ग्रामोफोन या सिलाई की मशीन, जब कि औसत दरजे के परिवारों के लिए बड़े चूल्हों की कीमत तो रेडियो अथवा पुरानी मोटरकार की कीमत से कम है ही नहीं।

गांवों के घरों में पर्याप्त वायु और पानी के प्रबंध सहित उन का पुर्ननिर्माण कुलवधुओं के बोझ को काफी हल्का कर देगा। जहाँ पाइप के नलों की व्यवस्था नहीं है वहां मशीन पम्प से पानी खींचने के साधन और गांवों के लिये बिजली की रोशनी की व्यवस्था ऐसी आवश्यक सुविधायें हैं, जो भारतीय स्त्रियों के जीवन में एक शीघ्रगामी परिवर्तन ला सकती हैं।

हिंदुस्तान की आबादी का अधिकांश भाग अन्धकारपूर्ण, गंदे घरों में वास करता है, जहां बदतर से बदतर स्थान में एक छोटी से छोटी जगह रसोई के काम के लिए नियत कर दी जाती है। इन्हीं रसोईघरों में वायु प्रवेश से वंचित, पसीने में लथपथ, बच्चे पालती, गालीगलौज देती, फुंकारती, झाड़ती-पोंछती, मांजती-धोती, सफाई करती और गप्पें हांकती भारत की नारियां अपने जीवन का तीन चौथाई अंश बिताती हैं। बम्बई योजना के निर्माताओं के अनुसार प्रति वयस्क व्यक्ति के लिए १०० वर्ग गज निवास स्थान नियत कर के जन संख्या को कुछ अधिक सहनीय ढंग से बसाने के लिए चौबह करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी। इस धन के चौथाई और आधे के बीच का एक भाग प्रकाशवान और खुशगवार रसोईघरों के बनाने के लिए सुरक्षित रखना चाहिए और इतना ही धन आधुनिक सुविधाओं के लिए रखना चाहिए। हम घरों को अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ नारी के गढ़ का नाम देते हैं। सत्य के अधिक निकट होने के लिये हमें जरा आगे बढ़ कर उन्हें लाल किलों या पथरीली गुफाओं का नाम देना चाहिए। आज की नारी के

लिए घरों का यही अर्थ है।

मेरा विचार है वह श्री जे० सी० कुमारप्पा थे, जिन्हों ने गांधी जी के इस सिद्धांत का अनुमोदन करते हुए 'हरिजन' में एक बचकाना लेख लिखा था कि घरेलू कर्त्तव्यों का अपेक्षित भार हटाने के लिये परिश्रम बचाने वाले साधनों या मशीनों की स्थापना घरों में सुख-शांति के स्थान पर मुसीबत ही ले कर आती है। श्री कुमारप्पा के तर्क को संक्षिप्त करने पर यह परिमाण निकलता है : वर्त्तमान दशाओं में यदि एक स्त्री का स्वास्थ्य या काम का परिमाण सहायता की आवश्यकता दर्शाता है, तो वह कुछ रुपए मासिक पर झाड़ू देने, बरतन माँजने और कपड़े-लत्ते धोने के लिये एक बूढ़ी औरत को काम पर लगा सकती है। इस प्रबन्ध के द्वारा गृहवधू और सहायिका दोनों चिंतामुक्त हो जाते हैं और आपस में एक-दूसरे की प्रसन्नता का कारण बनते हैं। दूसरी ओर, यदि गृहवधू कोशिश कर के, कुछ सौ रुपए बचा कर एक-एक झाड़ू देने, कपड़े धोने और बरतन मांजने की मशीन मंगा लेती है, तो सहायिका को तो उसे अलग करना पड़ेगा और मशीनों की सेवा स्वयं करनी पड़ेगी। परिणामस्वरूप उसे स्वयं ही झाड़ू देनी, बरतन मांजने और कपड़े धोने पड़ेंगे और साथ में घर के अन्य काम भी करने पड़ेंगे, जो वह पहले भी करती थी। मशीनें काम को केवल हल्का कर देती हैं, लेकिन गृहवधू को काम से बिल्कुल मुक्त नहीं करती। घरेलू सहायिका के मामले में वह जो काम पैसे दे कर उस से कराती है उस में स्वयं उसे कुछ करने को नहीं रह जाता, लेकिन जब वह मशीनें लगाती है, तो उसे उतना ही धन, जितना सहायिका को देती, ज्यों-त्यों कर के एकमुश्त व्यय करना पड़ता है और साथ में काम भी स्वयं ही, मशीनों के द्वारा ही सही, करना पड़ता है। यह भी संभावना है कि मशीन गाहे-बगाहे ख़राब होती रहे। इस दशा में समय समय पर जब तक वह मशीन की मरम्मत, सफाई आदि करा कर और इस प्रकार उस पर और व्यय कर के वापस नहीं मंगा लेती, तब तक उसे सारा काम उसी पुराने ढंग से स्वयं ही करना पड़ेगा, जैसे वह पहले करती आ रही थी। मशीन उसे काम की या चिंता की ओर से मुक्त करने की अपेक्षा उन्हें और बढ़ा देती है और घरेलू सहायिका अलग बेरोजगार हो कर दीनता के कारण काल का ग्रास बन जाती है।

कुमारप्पा और इस प्रकार गांधी जी का आरोप वर्त्तमान सभ्यता के विनाशकारी प्रभाव पर है। शल्य चिकित्सा का कोई चाकू मनुष्य की जान लेने के काम भी आ सकता है और उस के जीवन को बचाने के लिये भी। मशीनें मानव जीवन के लिये अनिवार्यतः उपयोगी हैं, लेकिन यदि

मनुष्यों का धंधा छीनने और एक के द्वारा दूसरे का शोषण करने में उन का दुरुपयोग किया जाए, तो दोष मशीनों को नहीं, बल्कि मनुष्य को ही दिया जायेगा। मशीनों को फांसी देने के बजाए हमें उन इनसानों को फांसी देनी चाहिए, जो उन का दुरुपयोग करते हैं। चालू सभ्यता के भौतिक उत्पादनों और मशीनों को जीवन की भलाई के लिए प्रयोग करने की वकालत करने के स्थान पर गांधी जी ने उसी पुराने समय में लौट चलने की वकालत की, जब मशीनों के उपयोग से होने वाले दुष्परिणामों का अस्तित्व ही न था। पहली बात तो यह है कि किसी ऐतिहासिक व्यवस्था की पुनरावृत्ति बिना किसी हिंसात्मक प्रलय के हो नहीं सकती, जिस से बजाए इसके कि मनुष्य अपने पूर्व स्तर पर पहुंच जाए उसके लिए कोई नई मुसीबत न खड़ी हो जाए। आपरेशन के चाकू को नष्ट कर के हम जीवन को अधिक सुखमय नहीं बना सकते। हम इन चाकुओं के बनाने वाली खरादों को नष्ट करें, कीटाणु-नाशक द्रव्यों को बनाने वाले कारखानों को नष्ट करें, इन साधारण से कारणों से कि खरादों से मारक राइफलें बन सकती है और कारखानों की भट्टियों से शराब बन सकती है? बुद्धिमानी किस में है, जीवन की उपेक्षा करने में या उसको नियमित बनाने में?

वर्त्तमान संसार में एक छोटी सी आत्मनिर्भर जाति के विचार को पूर्ण करना उस समय तक असंभव है, जब तक कि उसकी आधी या इस से भी अधिक जन-संख्या को समाप्त कर देने के साधनों का निर्माण न हो। इसके साथ ही उसके तमाम वैज्ञानिक ज्ञान और सिद्धांतों को मिटाने के लिए कुल कारखानों और मशीनरियों को विनष्ट करने और लोगों को सोचने-विचारने से रोकने के साधन भी खोजने होंगे। गांधी जी भी मान लेते कि आज इन सब को पाना असंभव है। इसके मुकाबले में मात्र विकल्प यही रह जाता है कि वर्त्तमान समय के समस्त ज्ञान और सभ्यता का बेहतर से बेहतर उपयोग करने के लिए जीवन को नियोजित किया जाए।

हम जीवन को भविष्य में दो कक्षाओं के आधार पर, जिन में एक समृद्ध हो और दूसरी अभावग्रस्त हो, नियोजित नही कर सकते। गांधी जी ने इन्हीं आधारों पर एक ऐसे समाज की कल्पना की, जिस में भूखों मारने वाले वेतन के स्तर पर ऐसे पर्याप्त स्त्री-पुरुष मिल जाएंगे, जो विभिन्न घरेलू काम कर सकें। युद्ध ने स्वयं ही स्थिति के इस रूप को बदल दिया है। युद्धपूर्व के मापदंड से मुकाबला करने पर घरेलू सेवक आज बहुत कम मिलते हैं। परिणामस्वरूप वेतन का स्तर भी बढ़ गया है और कुछ मध्यमवर्गीय परिवार ही घरेलू सेवक रख सकते हैं। समाज व्यवस्था का हमारा आधार मध्यमवर्गीय जीवन पर नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत उस बहुजन की

दीनता हमें मिटानी है, जो संयोग से गरीब हैं; और इस नियोजन में यह भी संभव है कि हमें राष्ट्र की अधिक समृद्ध कक्षाओं के जीवन स्तर को नीचा करना पड़े। यह सब कष्ट उत्पन्न करने के लिए नहीं, बल्कि सभी लोगों की साधारण सुखसमृद्धि का स्तर ऊंचा करने के लिए होगा। कुमारप्पा जी की घरेलू सहायिका चार रुपए मासिक पर पतला दलिया और भूखों कांपते हुए हाथों से मैदानों की पत्तेदार भाजियां नोच नोच कर खाने से ही संतुष्ट हो जाएगी। फिर वह पूर्व जन्म के कर्मो के परिणामस्वरूप इनका भी त्याग कर देगी और अगले जन्म में मुक्ति की बाट जोहेगी। गांधी जी और कुमारप्पा जी दोनों उस गृहवधू के सुखसौभाग्य के प्रति तो खूब सजगहैं, जो एक घरेलू सहायिका रख सकती है, लेकिन दोनों के दोनों ही उस घरेलू सहायिका के अनवरत कष्ट की ओर से बड़े प्रेम से आंखें मूंद लेते हैं।

पूर्ण अनिवार्य नियुक्तिकरण बहुत से लोगों को स्वप्नवादी लगेगा। इस आदर्श को एक या दो वर्ष में पाना चाहे सम्भव न हो सके, लेकिन दो क्रमिक पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से यह आदर्श निश्चयपूर्वक दस साल के भीतर भीतर प्राप्त किया जा सकता है। "भारत के लिये आर्थिक विकास की एक योजना" के दूसरे खंड से ली गई निम्न तालिका सन् १९३१ ई० और सन् १९६२ ई० में धन्धेवार विभाजन दर्शाती है :

सन् १९३१ और १९६२ ई० का धन्धेवार विभाजन:—

	१९३१ लाख	प्रति शत	१९६२ लाख	प्रति शत
कृषि	१०६३	७२	१२९७	५८
उद्योग	२२१	१५	५७९	२६
नौकरियां	१९२	१३	३४७	१६
कमेरी जनसंख्या	१४७६	१००	२२२२	१००
कुल जनसंख्या	३३८१	——	४९४०	——

ऊपर की योजना के निर्माताओं के अनुसार सन् १९६२ ई० में ४९४० लाख लोगों की जनसंख्या में से २२२२ लाख व्यक्ति काम पर लग जाएंगे। २७१८ लाख जो बचेंगे उन में बच्चे, पचास से ऊपर के बूढ़े, और स्त्रियां होंगी। पुराने हिसाब के अनुसार, यदि कुल स्त्री-पुरुषों को अनिवार्य काम मिले, तो दस करोड़ लोगों को काम देना पड़ेगा। अर्थशास्त्र या गणित में गहरे न पैठ कर यदि मोटे तौर से हिसाब लगाया जाए, तो काम के घंटों की संख्या एक तिहाई कम कर देने से काम हो

जाएगा। यह भी ध्यान रखना होगा कि बम्बई योजना के निर्माता ऊपर के आंकड़ों पर समूहवादी अर्थशास्त्र के आधार पर नहीं पहुंचे हैं, बल्कि ऐसा अर्थशास्त्र उनका आधार रहा है, जिस में व्यक्तिगत व्यापार का भी स्थान है। समूहवादी योजना के अन्तर्गत तो घरेलू नौकरियां भी राष्ट्रीय उद्योग के आधार पर संगठित होंगी, जिस में खाना, शराब और इस विषय के भीतर समाने वाली अन्य सैंकड़ों वस्तुएं उपजाने के लिये भारी संख्या में व्यक्तियों को लगाया जाएगा। खाना पकाना उसी प्रकार एक धंधा होगा, जैसे वस्त्र उत्पादन।

सभी वयस्क स्त्री-पुरुषों के लिये अनिवार्य कामकाज के संगठन में एक और भी गंभीर अड़चन इसके प्रारम्भिक चरणों में आ सकती है, और वह है मुद्रास्फीति की आशंका। वस्तुओं और नौकरियों का उत्पादन राष्ट्रीय व्यय से होड़ नहीं कर सकेगा, जिसका परिणाम यह होगा कि वस्तुओं के दाम अनुपात से ऊंचे हो जाएंगे। चालीस करोड़ लोगों की कूती गई जन संख्या में एक समूहवादी राज्य का राष्ट्रीय व्यय तीस खरब रुपये के आसपास होगा। प्रारम्भिक चरणों में एक साल में उत्पन्न वस्तुओं और नौकरियों का मूल्य इस संख्या के आसपास कहीं भी नहीं रहेगा। रुपये की क्रय-शक्ति को साथ ही साथ घटना पड़ेगा। यदि एक व्यक्ति की औसत आय (राष्ट्रीय वेतन) छः सौ रुपये निश्चित कर दी गई और कुल वस्तुएं तथा नौकरियां राष्ट्रीय व्यय का छटा भाग ही रहीं, तो उसका निश्चित परिणाम यह होगा कि औसत नागरिक को जीवन के उसी मापदंड से संतुष्ट होना पड़ेगा, जो साधारण अवस्था में सौ रुपये साल की आय से बन जाता। फिर भी, जहां भारतवर्ष में लोग वर्षों इस से भी कहीं नीची राष्ट्रीय आय में गुजारा करते रहे हैं, इस रूपरेखा से बहुत अधिक हतोत्साह होने की आवश्यकता नहीं है।

सुदूर और अन्धकारपूर्ण भविष्य को न खोद कर हमें वर्तमान स्थिति की प्रशंसा कर के ही संतुष्ट हो जाना है। एम० एन० राय के शब्दों में: [१] "खोजपूर्ण प्रश्न फिर भी यही है कि आधुनिक भारत में ऐसी कितनी स्त्रियां हैं, जिन्हें पुरुष की दयापूर्ण सुरक्षा की संशयरहित सुविधा हो? ईमानदारी और विश्वासपूर्वक कितने पुरुष इस प्रकार की सुरक्षा प्रदान कर सकते हैं? दोनों ही मामलों में बहुत कम। यह एक तथ्य है और अकेला यही तथ्य स्त्री और पुरुष के बीच के सम्बन्ध में क्रांति करने और पुरुष से किसी भी दशा में नारी की स्थिति को कम स्वीकार न करने

१. रिनासाँ पब्लिकेशन की पुस्तक 'भारतीय नारीत्व का आदर्श'?

को बाध्य करने के लिये काफी है। ये व्यक्तित्व पुराने परिवार के उन खंडहरों के ऊपर एक नवीन परिवार का ढांचा खड़ा करेंगे, जिन का अन्त इतिहास ने निश्चित कर दिया है और जो सीधेसादे आदर्शों की पैरवी करने से बच नहीं सकता।"

विभिन्न स्थानों से स्त्रियों को कामकाज में लगाने के विरोध उठेंगे ही। इन सब की वृत्ति स्त्रियों की स्वतन्त्रता के विचार से घृणा करने की रहेगी। स्त्रियों को आर्थिक रूप से पुरुषों पर आश्रित बना कर उन्हें हीन बनाया गया है और यदि उन के स्तर को ऊंचा उठाया जाता है, तो उन्हें अनवरत दासता में रखने का और कोई उपाय शेष नहीं रह जाता। स्त्रियों की आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध सब से बड़ा तर्क है उत्पातों से उन की रक्षा और उस परिवार की अटूटता, जो स्वयं संदेहास्पद गुणों की संस्था है। दो व्यक्तियों के बीच अच्छा सम्बंध रहना प्रशंसनीय है, और यदि बिना किसी विशेष कानूनी गिरह से उलझे वह रहा चला आए, तो गनीमत है। लेकिन जिस क्षण भी किसी के मन में यह विचार आ जाए कि उस सम्बंध में किसी बाहरी गिरह को कस कर बांधे बिना उस का कायम रहना कठिन है, तो उस सम्बंध के खोखलेपन पर केवल आश्चर्य भर किया जा सकता है।

दूसरा तर्क है कि किसी एक की शासन सत्ता के बिना कोई व्यवस्था स्थायी नहीं रह सकती। इस मामले म प्रभुता पुरुष को दी गई है, लेकिन क्यों? इस प्रश्न का कभी कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया गया। मात्र यही तथ्य कि कोई एक रोजी कमाता है, उसे दूसरे के ऊपर अधिकार करने का हक नहीं दे देता; और यदि दोनों को ही रोजी कमाने के लिए उत्तरदायी बना दिया जाए, तो एक को दूसरे के अधिकार में रखने के लिये और भी कम औचित्य रह जाता है। दोनों सेक्सों की शारीरिक विभिन्नता भी इस विचार को बदल नहीं देती कि जो जीवन दे वह उस की दासता में रहे, जो जीवन का पालन करता है। यह तर्क भी उचित नहीं है कि स्त्रियां अपने शारीरिक ढांचे की बनावट के कारण शारीरिक श्रम करने के लिए कम से कम उपयुक्त हैं। अनुभव से यह देखा गया है कि जिन परंपरानुकूल धंधों में स्त्रियां लगी हुई हैं वे पुरुषों के धंधों से किसी भी दशा में कम श्रमसाध्य नहीं हैं। यदि आसान काम को चुनने की आजादी दी जाये, तो मुझे विस्मय होता है कि कैसे बहुत सारे आदमी घरेलू धंधों को चुन लेंगे!

नवीन परिवार का आधार बराबरी है। यदि परिवार में एक संस्था की हैसियत से टिकने का कोई भी गुण है, तो वह नवीन आधार के नीचे कहीं अधिक अच्छी तरह टिक सकेगा। यदि नहीं, तो किसी को इस के

अंतिम संस्कार पर आंसू टपकाने की आवश्यकता नहीं है।

पवित्र और निःस्वार्थ प्रेम उन्हीं दो व्यक्तियों के बीच पैदा हो सकता है, जिन के मस्तिष्क स्वतन्त्र हों। संपत्तिजनित सम्बंध अलगाव पैदा करते हैं। अपने साध्य देव के प्रति पुजारी के प्रेम की नकल सेक्स सम्बंधों में नहीं होनी चाहिए और न ही सेवक और स्वामी के बीच वाले प्रेम को यहां लागू करने की आवश्यकता है—यदि वास्तव में सेवक और स्वामी के बीच कोई प्रेम होता भी हो।

स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता बिना राजनीतिक प्रतिनिधित्व के कायम नहीं रह सकती। सार्वभौमिक मताधिकार का सिद्धांत स्त्रियों को पुरुषों के बराबर ही मत देने का अधिकार देता है, लेकिन यह काफी नहीं है। सभी निर्वाचित सभाओं में स्त्रियों के हितार्थ उन के ही द्वारा निर्वाचित स्त्रियों से भरने वाली सीटें सुरक्षित रखनी होंगी। यह विचार कि नीतियों और विचारधाराओं को राजनीति पर नियन्त्रण रखना चाहिए, तभी अच्छा रहता है जब एक ही जाति का प्रश्न हो। जहां भिन्न भिन्न जातियां हैं वहां आनुपातिक प्रतिनिधित्व ही एक स्थायी हल है। इस से पूर्ण राजनीतिक मामलों में विचारधारा की एकता खंडित नहीं होती।

इन सब बातों से दोनों सेक्सों के बीच किसी प्रकार के युद्ध का आभास नहीं मिलता। सेक्स-युद्ध का तो विचार ही अकल्पनीय है। दोनों सेक्सों के बीच का आपसी आकर्षण तमाम वर्गीय हितों से ऊपर उठ जाता है। यही कारण है कि इतिहास में पुरुषों के प्रति अपनी दासता के विरुद्ध स्त्रियों के किसी हिंसक विद्रोह का सर्वथा अभाव मिलता है। सेक्स का विचित्र प्रभाव शत्रुता की कुल भावनाओं को दबा देता है। साथ ही साथ इस का यह अर्थ भी नहीं है कि अंदरखाने भी सब लोग प्रसन्न ही रहते हैं। सेक्सों के बीच का युद्ध अन्य सभी प्रकार के युद्धों से भिन्न होगा। इस में लड़ाई घर के मोर्चों पर होगी और दोनों पक्षों में से कोई भी एक-दूसरे से बच नहीं पाएगा। सम्भवतः यही एक वजह है कि इस प्रकार के युद्ध का सूत्रपात आज तक नहीं हुआ है और यही एक गारंटी है कि आगे भी कभी ऐसा नहीं होगा। यही सब से बड़ा तर्क है कि स्त्रियों को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दी जाए क्यों कि उस स्वतन्त्रता का कभी दुरुपयोग नहीं होगा।

● ● ●

बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व

मानव विवाह का इतिहास उन लोगों की विचारधारा से रंगा हुआ है, जिन्हों ने उस का अध्ययन करने की चेष्टा की है। इतिहासज्ञों की विचारधारायें भी बराबर युगों के द्वारा प्रभावित होती रही हैं। डारविन के पदचिह्नों पर चलते हुए उन्नीसवीं सदी के दार्शनिक विश्वास करते थे कि एकपत्नीत्व विकास–प्रक्रिया का चरमोत्कर्ष है। उन्नीसवीं सदी में एक ऐसे पैमाने पर सम्पत्ति एकत्र की जा सकती थी, जो इस से पहले कभी देखने में नहीं आया। संपतिशाली वर्गों को अवकाश के समय का उपभोग करने की सुविधाएं थीं और व्यापारिक साहस के लिए प्रगति की प्रत्येक राह खुली हुई थी। आत्मसम्मान की संतुष्टि और संपति की वसीयत के लिए परिवार ही एक आदर्श संस्था प्रतीत होती थी, जिस से वंश परम्परा की गारंटी मिलती थी। 'योग्यतम का जीवित रहना' ही वह सिद्धांत था, जो प्रत्येक कार्य की प्रेरणा देता था और जो लोग संपति या जनता पर प्रभुता रखते थे वे ही जाति के श्रेष्ठ व्यक्ति समझे जाते थे। यदि किसी का इन दोनों में किसी पर भी स्वामित्व न हो, तो उसे अपने परिवार पर ही स्वामित्व रखने में सन्तोष रहता था। उन्नीसवीं शताब्दी के विचारक के लिए प्रत्येक वह विचार, जो परिवार के एकपत्नीत्व के विचार में फिट न बैठता हो, प्रारंभिक संस्कृति का विचार था।

मानव विवाह का प्रथम इतिहास जोहन जेकब बाचोफन का 'दास मटरेट' था, जो सन् १८६१ ई० में प्रकाशित हुआ। अधिकतर प्राचीन शास्त्रीय साहित्य के अध्ययन तक ही सीमित रहने के कारण बाचोफन इस परिणाम पर पहुंचा कि मानव सम्बंधों का सब से प्रारम्भिक प्रकार यौन-स्वच्छंदता का था और इसी के अन्तर्गत मानव जीवन की उठती हुई बेला में स्त्री और पुरुष रहा करते थे। क्यों कि जीवन की इस तरह की अवस्थाओं में पिता से वंश की पहचान सम्भव नहीं थी, अतः माता की ओर से वंश के चलन को मान्यता दी गई और परिणाम यह हुआ कि नारी एक सुविधा और आदर का स्थान पा गई। माता और पिता दोनों में से केवल माता ही ऐसी थी, जिसे निश्चयपूर्वक पहचाना जा सकता था और इसी कारण संतान के प्रति प्रेम रखने में माता बाज़ी मार ले गई। इस अवस्था से पिता का प्रभाव अधिक बढ़ने के साथ साथ समाज का एकपत्नीमूलक परिवार में बड़ी कठिनाई से संक्रमण हुआ, क्यों कि यह एक स्वीकृत प्रणाली का उल्लंघन था।

संक्रमण भी सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ा। प्रथम सीढ़ी पर एकपत्नीत्वके प्रति स्त्रियों का आत्मसमर्पण सीमित था। इसी में कुछ कुछ फैलाव के साधन के रूप में, स्त्रियों को अपने पतियों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के सम्मुख या तो विवाहशादियों के अवसरों पर अपने को सौंपना होता था या उसके बाद कुछ निश्चित अवसरों पर।

विवाह के इतिहास में अगला महत्वपूर्ण अध्ययन जे० एफ० मैक्लीनान का रहा, जिसकी पुस्तक सन् १८६३ ई० में प्रकाशित हुई। कुछ जातियों में उस समय भी प्रचलित बंदीकृत विवाह प्रथा से मैक्लीनान अभिभूत हो गया। इस प्रथा की व्याख्या करते हुए उसने यह सिद्धांत निर्धारित किया कि यह कुछ जातियों में माने जाने वाले स्वगोत्रवर्जित विवाह प्रथा का ही परिणाम है, जिसके अनुसार किसी जाति के स्त्री-पुरुषों को अपनी ही जाति में से अपने जोड़े चुनने का अधिकार नहीं था। जातिगत शत्रुताओं के कारण विवाह केवल बंदीकरण से ही संभव थे, और यह प्रथा उस समय तक भी चलती रही, जब कि जातिगत शत्रुताएं समाप्त हो गईं। कुछ ऐसी भी जातियाँ थी, जिन में अपनी जाति से बाहर विवाह करना वर्जित था। इन जातियों को मैक्लीनान ने स्वगोत्रविवाहमूलक जातियों की श्रेणी में रखा।

स्वगोत्रविवाह और परगोत्रविवाह मूलक जातियों के बीच अनवरत शत्रुता के मामले में ही मैक्लीनान ने भूल की। मैक्लीनान के अनुसार केवल तीन विवाह-प्रथाएं उस समय प्रचलित थीं: बहुपत्नीत्व, बहुपतित्व, और एकपत्नीत्व। इस के अध्ययन का विस्तार तथा एक ऐसी प्रथा को प्रकाश में लाने का काम मोरगन पर छोड़ दिया गया, जिस में कहा गया कि प्रारंभिक लोगों में स्वगोत्र विवाह इस से पहले सार्वभौमिक रूप से प्रचलित सामूहिक विवाह प्रणाली का ही विकसित रूप है।

आज के अमेरिकन मानव-रचना-विज्ञान के जनक के रुप में प्रतिष्ठित लेविस हेनरी मोरगन मानव विवाह के इतिहास के अध्ययन में अपने किसी भी पूर्वाधिकारी से अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण एवं विश्लेषणात्मक मस्तिष्क का परिचय देते हैं। मोरगन महोदय की पुस्तकें 'स्वजाति विवाह प्रथा व मानव परिवार की एकसूत्रता' (सन् १८६१ ई०) तथा 'प्राचीन समाज' (सन् १८७७ ई०) इतिहास की उतनी ही अधिक दिशानिर्णायक पुस्तकें थीं जितनी की डारविन की पुस्तक 'नस्लों की उत्पत्ति'। मोरगन के इस अन्वेषण ने कि पितृसत्तात्मक कबीलों की उत्पत्ति इस से पहले के मातृसत्तात्मक कबीलों के संगठन से हुई, कुछ ऐसी पहेलियों को हल कर दिया, जो अब तक बहुत से नृतत्त्व-विज्ञान-शास्त्रियों के दिमागों को परेशान कर रही थीं।

अग्रगामियों ने मोरगन के अन्वेषणों का हर स्थान पर स्वागत किया

और फ्रेडरिक एंगेल्स ने अपनी पुस्तकें 'परिवार की उत्पत्ति,' 'व्यक्तिगत संपत्ति और राज्य' पूर्ण रूप से मोरगन की पुस्तकों के आधार पर ही रचीं। संभवत: यही कारण था कि हर स्थान पर कट्टरपंथियों ने मोरगन के सिद्धान्तों को बदनाम किया और एंगेलस ने 'परिवार की उत्पत्ति' (१८९१) की प्रस्तावना में लिखा: "इंग्लैंड में वे लोग उसकी पुस्तकों की हत्या चुप्पी से करना चाहते हैं और उसकी पूर्व रचनाओं के लिये रचयिता की निरन्तर प्रशंसा कर देते हैं। वे छोटी छोटी बातों की तो निरंतर और खूब टीकाटिप्पणी करते हैं, लेकिन वास्तव में उसके महान् अन्वेषणों पर प्रकट रूप से चुप्पी साध लेते हैं। 'प्राचीन समाज' का प्रारम्भिक संस्करण समाप्त हो चुका है। अमेरिका में इस तरह की पुस्तकों की कोई बिक्री नहीं है, और मालूम होता है कि इंग्लैंड में इस पुस्तक को व्यवस्थित रूप से दबा दिया गया। इतिहास की दिशा मोड़ देने वाली इस पुस्तक का मात्र संस्करण जर्मन भाषा में रह गया है, जो पुस्तकों के व्यापार जगत में अब भी घूम रहा है।"

मोरगन के विश्लेषण में किसी तरह की गलती नहीं थी। लेकिन विक्टोरियन नीतिज्ञों को वास्तव में इस विचार से भारी धक्का लगा कि उनके पूर्वज लैंगिक स्वच्छंदता में विचरण करते थे और यह कि मानव सम्बन्धों का सब से पूर्व रूप लैंगिक साम्यवाद था। फिर भी मोरगन का विचार विकास के सिद्धान्त में फिट बैठ गया।

तत्कालीन मध्यम वर्ग की नैतिकता का बचाव करने और मोरगन का विरोध करने का बीड़ा उठाने का काम एडवर्ड वेस्टरमार्क के जिम्मे सौंपा गया। वेस्टरमार्क की पुस्तक 'मानव विवाह का इतिहास' १८९१ ई० में प्रकाशित हुई और तुरन्त ही यह घोषणा कर दी गई कि इस विषय में इस का एक एक शब्द अंतिम प्रमाण है। इस के बाद की उसकी रचना 'नैतिक विचारों की उत्पत्ति और विकास' ने तो इस बात को ले कर उसकी प्रतिष्ठा को चार चांद लगा दिए कि वह अखंडनीय है।

वेस्टरमार्क के विशेष निष्कर्ष ये थे: [1] "विशेषत: हमारे सब से पहले मानव पूर्वजों में एकपत्नीत्व अखंड रूप से प्रचलित था। परिवार मनुष्य से भी पहले मौजूद था, और यदि समस्त संभावनाओं का विचार रखा जाए, तो भी यही परिणाम निकलता है कि मानव विवाह किन्हीं एप बन्दरों के आकार प्रकार के पूर्वजों का उत्तराधिकार है। "उसके विचारों ने

---

१. : मॉडर्न लाइब्रेरी से प्रकाशित 'मानव की रचना' की प्रस्तावना में वी० एफ० कालवर्टन।

उन्नीसवीं शताब्दी के नीतिज्ञों के विश्वासोंकी इस प्रकार किलेबंदी कर दी कि परिवार व एकपत्नीमूलक विवाह मानव जाति की पूर्वानुगत व प्राकृतिक संस्थाएं हैं, और इन्हें कभी बदला ही नहीं जा सकता।

लंदन यूनिवर्सिटी में मानव शरीर रचना विज्ञान के प्रोफेसर ब्रौनिस्लाव मैलिनोवस्की ने भी वेस्टरमार्क का पदानुसरण किया। उनकी पुस्तकें 'आस्ट्रेलियन आदिवासियों में परिवार' (१९१३), 'प्रारम्भिक मनोविज्ञान में पिता' (१९२७), और 'जंगलियों का लैंगिक जीवन' (१९२९। वेस्टरमार्क के मानसिक द्वंद्व का निकट अनुसरण करती हैं।

आज तो वेस्टरमार्क के सिद्धान्तों के पैर ही नहीं रह गए हैं। वेस्टरमार्म के बहुत से निष्कर्षों को, जो टिके ही गलत आधारों पर थे, झूठा सिद्ध करने का श्रेय राबर्ट ब्रिफाल्ट को है। उनकी पुस्तक 'माताएं' १९२७, वेस्टरमार्क के तर्कों के चिथड़े चिथड़े उड़ा देती है। यद्यपि उन्होंने मोरगन के निष्कर्षों की पुनर्स्थापना नहीं की, फिर भी उनके अनुसंधान मेलिनोवस्की और कट्टरपंथी नीतिज्ञों की अपेक्षा मोरगन तथा अग्रगामियों के दृष्टिकोण से निकटतर हैं। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि मोरगन ने अपने किसी आधारभूत निष्कर्ष में भूल की या इसी कारण एंगेल्स ने मोरगन की खोजों पर जो आर्थिक व्याख्या की वह सत्य से दूर है। यदि मोरगन ने विकास के विचार के बारे में भूल की, तो आज राबर्ट ब्रिफाल्ट और कालवरटन सापेक्षतामूलक व्यवहार के बारे में भूल करते हैं।

मैक्स ईस्टमैन ने जो कुछ भी लिखा है उसके बावजूद इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या का आधार अभी तक सही है। इसी कारण परिवार के प्रारम्भ और विकास, और नैतिक विचारों ने धार्मिक या सांस्कृतिक दिशाओं की अपेक्षा जीवन की आर्थिक अवस्थाओं का छायानुसरण किया।

स्तनपायी तथा अन्य प्राणियों के निरीक्षण से भी यह सिद्ध होता है कि मैलिनोवस्की ओर वेस्टरमार्क के इस कथन में तनिक भी सच्चाई नहीं है कि परिवार मानव जाति से भी पहले से चला आता है। 'आदिवासियों के लैंगिक व्यवहार के कुछ तत्त्व तथा मानवीय सामाजिक विकास के प्रारम्भ पर उनका संभव प्रभाव' नामक रचना में गैरिक एस० मिलर का कथन निम्न लेख में स्पष्ट हो जाता है: "बंदर या विशाल एप, किसी भी अमानवीय आदिवासी के व्यवहार के बारे में जो कुछ भी में ने पुस्तकों में पाया है, उस में से कुछ भी तो इस मान्यता को न्यायोचित नहीं ठहराता कि जंगल के किसी स्वतन्त्र समूह के सदस्यों की लैंगिक

प्रवृत्तियों में उन प्रवृत्तियों से कोई मूल विभिन्नता है, जो डा० हैमिल्टन ने मोंटिसिट्ज के ओक वृक्षों में बड़ी संख्या में विचरण करते हुए मैकाकुओं (एक प्रकार के बुद्धिमान् बंदर जो बाबूनों और अफ्रीकन मंगाबियों के बीच की किसी कड़ी में से हैं) में पाई, यानी लैंगिक स्वच्छंदता। इसलिये साधारण आदिवासियों की प्रवृत्तियों से ली गई ज्ञात साक्षी के आधार पर पुरातन मानवीय अवस्थाओं की संभावनाओं में से लैंगिक रूप से स्वच्छंद समूह के अस्तित्व को मिटाया नहीं जा सकता।

असभ्य जातियों के बीच सामूहिक विवाह प्रणाली बहुत प्रचलित है। मैलेनेशिया के गिप्सलैंड में, न्यूगिनी और अफ्रीका के कबीलों में, दक्षिणपूर्वी आस्ट्रेलिया के क्वींसलैंड के कुरनाइयों में, एक बहन से विवाह कर लेने पर रुष को सभी बहनों पर वैवाहिक अधिकार प्राप्त हो जाता है। केन्द्रीय और दक्षिणी अमेरिका में पुरुष साधारणतः सभी बहनों से विवाह करता है। प्राचीन जापानियों में एक पुरुष दो या अधिक बहनों से विवाह करता था। चीनी और मंगोल भी इस प्रथा के अपवाद नहीं थे। चंगेजखां ने दो बहनों से विवाह किया।

सभी देशों की पिछड़ी हुई जातियों में सार्वभौमिक रूप से इस प्रथा का प्रचलन होने की बात तो दूर रही, भारत के हिन्दू आज भी एक ही व्यक्ति से अनेक बहनों का विवाह करते हैं। [1] "यही प्रथा हमें तिब्बत में मिलती है। इंडोचीन के प्रारम्भिक मोईयों में पहली पत्नी की तमाम बहनों को उपपत्नी बना लेने का रवाज है, और यही प्रथा कंबोडिया में मिलती है। स्याम में भी ऐसा ही प्रचलन है। पातानी राज्य के मलायों में भी बहुत सी बहनों को एक साथ ब्याह लेने के आम रवाज में बहुपत्नीत्व का चलन है। ऊपरी वरमा और मनीपुर में भी इस प्रथा का विस्तार मिलता है। आसाम के गरो भी उसी का पालन करते हैं। प्राचीन हिन्दू आर्यों में बहनों बहनों का बहुपत्नीत्व खूब जोरों से प्रचलित था। महानतम ऋषियों में से एक के बारे में तो पता चला है कि उन्होंने एक साथ ही कम से कम दस बहनों से विवाह किया। पंजाब में इसका चलन आम है। राजमहल पहाड़ी की जातियों, गोंडों में उसका रवाज है और मध्य भारत की बहुत सी अन्य जातियों में यह चलन है। इसी प्रकार मैसूर और दक्षिणी भारत में इसका विस्तार है। याकूब की शादी की कथा बताती है कि पुराने यहूदियों में भी यह एक मानी हुई प्रथा थी।"

---

१. राबर्ट ब्रिफाल्ट ('अंगरेजी), मैकमिलन एंड को० 'न्यूयार्क' और जार्ज एलेन एंड अनविन लि०, लंदन।

कुरान के अनुसार मुसलमानों को एक समय में दो पत्नियों के रूप में दो बहनों का रखना हराम है, लेकिन कुरान का निम्न वाक्यखंड स्पष्ट संकेत करता है कि यह प्रथा उस समय अरबों में भी थी :[१] "और (तुझे मना है) दो बहनों को साथ साथ (पत्नी की तरह) रखना। लेकिन जो बीत गया (वह बीत गया)। निश्चय ही खुदा माफ करने वाला है, रहीम है।" मुस्लिमों में बहुपत्नीत्व बहुत प्रचलित है और धर्म की ओर से इसका अधिकार दिया गया है। कुरान के चौथे भाग के चौथे अध्याय की यह तीसरी आयत है : "यदि तुम्हें भय है कि तुम उन अनाथाओं (लड़कियों) के प्रति (उन से विवाह कर के) न्याय करने के योग्य नहीं हो, तो अन्य स्त्रियों में से जिन से तुम चाहो, एक से, एक ही समय में दो से, तीन से, चार से, विवाह कर लो।" इस से फतवा मिलता है कि जितनी बीवियों की संख्या एक मर्द रख सकता है वह अन्य किन्हीं विचारों की अपेक्षा स्वयं उन के साधनों से ही सीमित होती है।

यह प्रथा तो सभ्य लोगों में भी है कि जब तक बड़ी बहन का विवाह नहीं हो जाता, छोटी बहनों का विवाह भी नहीं किया जाता। इस बात की पूर्ण संभावना है कि यह उसी प्रारम्भिक नियम का अवशेष है, जिस में बड़ी बहन से विवाह कर लेने पर पुरुष को तमाम छोटी बहनों पर वैवाहिक अधिकार प्राप्त हो जाता था। क्योंकि छोटी बहन का विवाह किसी अन्य से करने के लिए उसकी अनुमति की आवश्यकता पड़ती थी, इसलिए जब तक बड़ी बहन का विवाह न हो जाए छोटी का विवाह करना असम्भव हो जाता है। जिन जातियों में कन्या का मूल्य लिया जाता है, उन में उसके मर जाने पर यदि वे उसके स्थान पर विधुर व्यक्ति को कोई छोटी बहन देने में असमर्थ रहते हैं, तो पूर्व कन्या पर लिया हुआ धन भी लौटा दिया जाता है। ओरगेन जातियों में यदि छोटी बहन किसी अन्य व्यक्ति से ब्याही हो और बड़ी बहन मर जाए, तो उसे अपने पति को छोड़ कर विधुर बहनोई के पास चले जाना पड़ता है। फिर भी इस से उल्टा व्यवहार कहीं प्रचलित नहीं है। मध्य भारत के काकेरियों में : "कोई मनुष्य अपनी मृत पत्नी की छोटी बहन से तो विवाह कर सकता है, लेकिन बड़ी बहन से नहीं।" (ब्रिफाल्ट की 'मातायें' शीर्षक पुस्तक)।

मैलेनेशियनों के बारे में डा० कोडरिंगन के निरीक्षण महत्वपूर्ण हैं : "साधारणतः कहा जा सकता है कि किसी मैलेनेशियन पुरुष के लिए सभी स्त्रियां, कम से कम अपने वंश की स्त्रियां या तो बहनें हैं या पत्नियां। किसी मैलेनेशियन स्त्री के लिए सभी पुरुष या तो भाई हैं या पति हैं... इस से यह

१. कुरान पाक, भाग ४, अध्याय ४, २३वीं आयत।

नहीं समझ लेना चाहिए कि कोई मैलेनेशियन पुरुष वास्तव में उन सभी स्त्रियों को भी अपनी पत्नियां समझ लेता है, जो उसके वर्ग की नहीं हैं, या उन स्त्रियों के बारे में जो अविवाहित हैं वह अपने को उन अधिकारों का उपभोग करने का हकदार समझता है, जो वह कर सकता है। बल्कि वे स्त्रियाँ विवाह के बाद उस की पत्नियाँ हो जाती हैं और जो नहीं हो सकती उन से उस का बहुत दूर का सम्बंध रहता है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि वे सभी स्त्रियां, जो विवाह के बाद उस की पत्नियां बन सकती हैं और अभी उन पर उस का अधिकार नहीं हुआ है, उस से कम या अधिक कुछ सीमा तक मेलजोल रख सकती हैं। वास्तव में कुछ विशेष स्त्रियों पर उन के पतियों का अधिकार चाहे प्रत्येक देशी प्रथा से सम्मत हो, किंतु देशी समाज में वह अधिकार इतना जबरदस्त नहीं है। न ही निश्चयपूर्वक यहां की जनता के इतिहास में उस की कोई ऐसी गहरी नींव है, जैसी कि उन वर्गों में पाई जाती है, जो एक सेक्स के ऊपर दूसरे सेक्स के कठोर अधिकार स्वरूप स्त्री और पुरुष के मिलन को उन वर्गों तक ही सीमित कर देते हैं, जिन से स्वयं उन का कोई संबंध नहीं है।"[१]

फिर भी यह विश्वास कर लेना न्यायोचित नहीं है कि एक व्यक्ति के साथ कुल बहनों का विवाह कर देने की प्रथा में कोई मनोवैज्ञानिक कारण है, जैसे, उदाहरण के लिये, उन स्त्रियों की अपेक्षा, जो एक-दूसरे से पूरी तरह अनजान हैं, बहनें बहनें उपपत्नियों के रूप में अधिक सुविधा के साथ रह सकती हैं। और भी अधिक निश्चय से कहा जा सकता है कि यह प्रथा प्रारम्भिक सामूहिक विवाह प्रथा की ही उपज है, या "उन सिद्धांतों का स्वचालित प्रभाव है, जो उस सामाजिक संगठन की नींव रखते हैं, जिन्हें अंतर्वैवाहिक समूहों के बीच विवाह का नियम कहा जाता है।" आर्थिक साधनों के पुरुष के हाथों में केंद्रित हो जाने के साथ साथ एक संस्था की हैसियत से भाईचारे का बहुपत्नीत्व विलीन हो जाता है, और यह सिद्धान्त गिर जाता है कि "जब कोई स्त्री दूसरे परिवार से विवाह सम्बंध स्थापित करती है तो उस का अर्थ है कि वह उस परिवार के सभी विवाह योग्य पुरुषों से विवाह कर लेती है।" पुरुषों के मामले में यह सिद्धांत फिर भी लागू रहा कि एक बहन से विवाह कर लेने पर वह दूसरी सभी बहनों का अधिकारी हो जाता है। यदि किसी संयोग से आर्थिक क्षेत्र में स्त्रियाँ अपनी स्थिति सबल कर लेती, तो सार्वभौमिक सामूहिक विवाह की प्रारम्भिक प्रथा से भाइयों के बहुपतित्व की ही उत्पत्ति होती।

---

१. राबर्ट ब्रिफाल्ट की पुस्तक 'माताएं' से उद्धृत।

कुछ उत्तर एशियाई जातियों में बहुपतित्व अब भी चलता है। एक गिल्याक स्त्री बहुत से पति रखती है। एक लड़की का दूसरे परिवार के तमाम भाइयों से विवाह होना साधारण रवाज है। डा० लियो वाई० स्टर्नबर्ग के अनुसार, "वे सभी लोग. जो 'पू' और 'आंगेज' से सम्बंधित हैं, व्यक्तिगत विवाह से पूर्व ही नही, वल्कि बाद में भी मैथुन का वास्तविक अधिकार रखते हैं।" 'पू' और 'आंगेज' उन समूहों में विवाह की योग्यता के सूचक हैं। याकूत लोग, कमचादाल लोग और लुंगु लोग बहुत से मामलों में बहुपतित्व का उपभोग करते हैं, जैसे दो भाइयों का दो बहनों से विवाह, जबकि दूसरे लोगों में देवर–भाभी का सेक्स सम्बंध चलता है।

मलाबार के ईजुवासों में अभी तक बहुपतित्व का प्रचलन है। एक परिवार के सभी भाई एक ही लड़की से विवाह करते हैं। कभी बड़ा भाई या छोटों में से कोई एक उसे हथिया लेता है, तो शेष भाईयों के लिये दूसरे विवाह का प्रबंध करना पड़ता है। यह ढंग उस समय तक चलता रह सकता है, जब तक कि प्रत्येक भाई की एक एक पत्नी न हो जाए, लेकिन पुराने खानदानों में यह कोई नियम न हो कर अपवाद ही है। जो छोटे भाई उस समय तक वयस्क नहीं होते वे भी लग्न में भाग लेते हैं और जब वे वयस्क हो जाते हैं, तो समान पत्नी में भी बराबर का भाग बंटाते हैं।

पौराणिक कथाओं के हवालों से प्रारम्भिक भारतीयों में भी बहुपतित्व एक स्वीकृत संस्था सिद्ध होती है। पांचालि पांच भाइयों की पत्नी थी और क्रमवार प्रत्येक भाई के पास रहती थी। यह भी कहा गया है कि उन में से एक भाई को इस पाप के कारण वनगमन भी करना पड़ा कि उस ने अपने बड़े भाई के साथ पांचालि को उस समय देख लिया, जो उस से बड़े भाई से मिलने के लिये नियत था। पाँचों भाइयों में यह आपसी समझौता था कि जब वह किसी एक के पास हो, तो अन्य चारों न उसे देखेंगे और न ही उस से भेंट करने के लिए जायेंगे। यह प्रथा कहां तक सार्वभौमिक थी इस के बारे में अब सही सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

फादर केनियामिनोफ के अनुसार चुकची स्त्रियों के अनेक पति होते थे और वे सब उस के निर्वाह के लिए धन देते थे। ये दूसरे पति 'सहायक' या 'साझीदार' कहलाते हैं। "इस तरह की दुहरी शादियों में रहती हुई स्त्रियां किसी भी तरह से अनैतिक नहीं समझी जाती थी, बल्कि इस के विपरीत अपने बच्चों के साथ साथ दो पुरुषों की देखभाल करने के उन के उद्यम का सम्मान किया जाता था।" प्राय: विवाहों का विनिमय भी होता था, जिस के अनुसार दो व्यक्ति अपनी अपनी पत्नियों का कुछ निर्धारित समय के लिए आपस में विनिमय कर लेते थे।

लैंगिक आतिथ्य–सत्कार अरबों में तथा अन्य बहुत सी जातियों में धार्मिक कर्त्तव्य ख्याल किया जाता था। "अरब विद्वान विधानवेत्ता अता इब्न अबी रबाह बयान करता है कि अपनी पत्नी को अतिथि की भेंट करने की प्रथा पुराने ऐतिहासिक समयों में रही आई प्रथाओं में से एक सार्वभौमिक रूप से सम्मत तथा मान्य प्रथा है, और वास्तव में, अब से कुछ पीछे के काल तक, दूसरे शब्दों में बिलकुल आधुनिक काल तक भी इसका अस्तित्व मिलता है। बाहावाइतों के समय तक असीर जाति के लोग अपनी बीवियों को मेहमानों की नज़र करते थे, और इसी प्रकार धाहावान लोग भी करते थे। यमन की एक जाति मेरकेवस लोगों में रवाज का तकाज़ा है कि मेहमान की रात मेज़बान की बीवी के साथ गुज़रनी चाहिए, चाहे उसकी आयु और अवस्था कैसी भी हो। यदि वह उस स्त्री को संतुष्ट कर देता है, तो सम्मान-पूर्वक उसका सत्कार किया जाता है, अन्यथा उसके 'आबूबा' या चोग़े के नीचे का हिस्सा काट कर अपमान के साथ धक्का दे दिया जाता है।" इस प्रकार व्यक्तिगत विवाह के तरीकों के बारे में उन लोगों के विचार आज के दिनों में भी हम लोगों के विचारों से साधारणतः अधिक कट्टर हैं। उनके सभ्यतम प्रतिनिधि भी अपनी स्त्रियों को बुर्का ओढ़ा कर हरम के भीतर बंद रखते हैं। उनके कबीलों के संगठन आज भी उन्हीं विचारों ओर व्यवहारों को पूंछ से बांधे फिर रहे हैं, जो उत्तरी अमेरिका या आस्ट्रेलिया के आदिवासी जंगलियों में बरते जाते थे।" १

ब्रिफाल्ट महोदय इतने असंख्य प्रमाण संग्रह करने में सफल हुए कि उन से इसी निष्कर्ष पर आना पड़ता है कि बहुपत्नीत्व और बहुपतित्व आदि-वासियों में पूर्णतः सार्वभौमिक थे और यह प्रथा दुनिया भर में आज भी विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और जातियों में मान्यता पाए हुए है।

न्यू गिनी के बनारों समाज के चित्रण में रिचार्ड थर्नवाल्ड उनकी विवाह प्रथाओं पर मनोरंजक प्रकाश डालते हैं। वह कहते हैं: "जैसे जैसे समय बीतता है, प्रत्येक स्त्री निम्न तीन पुरुषों से नियमित मैथुन करती है: १. अपने ससुर के अंतरंग मित्र से, २. अपने पति से, ३. अपने पति के अंतरंग मित्र से। प्रत्येक पुरुष भी निम्न तीन स्त्रियों से कानूनसम्मत मैथुन करता है: १. अपनी पत्नी से, २. अपने अंतरंग मित्र की पत्नी से, ३. अपने मित्र की पुत्रवधू से। फिर भी इस लिस्ट में वधू के ससुर को छोड़ दिया गया है, जो वधू को रीतिरिवाज से अवगत करता है, और वर के दादा के अंतरंग मित्र की बुढ़िया पत्नी भी इस में नही है, जो वर को व्यवहार से

१. राबर्ट ब्रिफाल्ट, 'माताएं', मैकमिलन।

परिचित कराती है। वरों को उस समय तक वधुओं को छूने की अनुमति नहीं है, जब तक कि वे इस प्रकार के परिचयोत्सव के परिणामस्वरूप एक एक संतान की प्राप्ति नहीं कर लेते। "कहा नहीं जा सकता कि इस विवाह प्रथा का विकास स्त्रियों के बांझपन की ओर से निश्चित होने के लिए तो नहीं हुआ है, लेकिन उनके समाजीकरण का प्रभाव तथा मनोवैज्ञानिक आधार थर्नबाल्ड के निम्न शब्दों में भली प्रकार चित्रित है :

"विनिमय प्रणाली समाजीकरण के भारी प्रभाव को कायम रखती है, क्योंकि इसके द्वारा जाति के सभी सदस्य एक-दूसरे से संबंधित और आपस में एक-दूसरे पर आश्रित हो जाते हैं।

"विवाह के नियम सामाजिक जीवन पर भावनाओं के विनाशकारी प्रभाव के विरुद्ध बीमे के साधन के तौर पर हैं, क्योंकि सामाजिक जीवन भावना और बुद्धि के बीच एक प्रकार के सामंजस्य पर टिका हुआ है। यदि इस कारण बुद्धि भावनाओं से भिड़ जाती है कि वह उनका साथ देने में असमर्थ है, तो सामाजिक जीवन अंतरीय विभेद के कारण अस्तव्यस्त हो जाता है, जिसका कारण उस सामाजिक समूह के सदस्यों की बड़ी बड़ी भूलें होती हैं। अब चाहे यह इस कारण हो कि किसी विशेष मामले में भावनायें सापेक्ष तया अधिक बलवान हैं, चाहे इस कारण हो कि बुद्धि अधिक कमजोर है, और इसी लिए अप्रत्याशित स्थितियों को ग्रहण करने में मस्तिष्क की एकाग्रता की कमी पड़ जाती है, तो भी उन्हें नियमित करने वाले तरीकों और रीति-रवाजों की स्थापना की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के जितने भी सिद्धांत जीवन में फैलते जाते हैं उतना ही हम भावनाओं से सुलझने में बुद्धि की कमी पड़ने की आशा कर सकते हैं। सामाजिक समूह सुनिश्चित धाराओं में भावनापूर्ण जीवन का नेतृत्व करने के लिए भद्दी बाढ़ें खड़ी कर देता है। विशेष रूप से तमाम सेक्स जीवन और जाति के पुनरोत्पादन के सिद्धांतों पर यही बात लागू है। इसी कारण इस प्रकार की प्रथाओं को लागू करने में किसी बाहरी दबाव की आवश्यकता नहीं पड़ती। उन पर विचार तो खूब किया जा सकता है, किंतु आलोचना नहीं की जा सकती।"

हालैंड में, बवेरिया, आस्ट्रिया, नार्वे और स्विटजरलैंड के ग्रामीण जिलों में, लिस्बन और इटली के कुछ भागों में जो कन्यायें वयस्क हो जाती हैं उन में कौमार्य को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। विवाह के लिए उन लड़कियों को कुमारियों पर तरजीह दी जाती है, जिनके गर्भ काफ़ी बढ़ चुके होते हैं।

नीदरलैंड में ठीक पंदरहवीं शताब्दी तक और आयलैंड में सतरहवीं शताब्दी तक लैंगिक आतिथ्य-सत्कार का व्यवहार या मेज़बान की पत्नी से

मेहमान का मनोरंजन विस्तृत रूप से प्रचलित प्रथा थी। पेंसिलवेनिया के डच किसान इस व्यवहार को सर्वथा नैतिक मानते थे। लगभग सोलहवीं शताब्दी तक अंगरेज और स्कॉट लोगों में भी इसी प्रकार के रीतिरवाज थे।

जॉन मिल्टन ने बहुपत्नीत्व के बचाव में लिखा और लाइसर इसे नीतिसम्मत बताता था। तीस वर्षीय युद्ध के बाद जर्मनी के कुछ राज्यों ने बहुपत्नीत्व को कानूनी बताते हुए डिग्रियाँ पास की। एकपत्नीक परिवार की वर्त्तमान ईसाई विचारधारा का तो तब तक जन्म ही होना था।

अब तो लगभग सभी जगह बहुपत्नीत्व ओर बहुपतित्व को किसी न किसी प्रकार से नापसंद किया जाने लगा है। यूरोपियन देशों में दकियानूसी जनमत इन संस्थाओं का विरोध करता है, जब कि एशिया में अग्रगामी लोग इनके विरोधी हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही पुराणपंथी धर्म बहुपत्नीत्व की अनुमति देते हैं। हिन्दुओं के कुछ ऐसे सम्प्रदाय भी हैं, जिन में बहुपतित्व चलता है।

बहुपत्नीत्व के बारे में विरोध करने के लिये अग्रगामियों के पास दो तर्क है : पहला तो यह कि इसकी अनुमति धर्म की ओर से है, और इसी कारण यह प्रथा आपत्तिजनक है। दूसरा यह कि जहाँ तक स्त्रियों का सन्बन्ध है, यह प्रथा असमानता पर आधारित है। पुरुषों के लिये एक से अधिक पत्नियां रखने का अधिकार तो इस में मान लिया जाता हैं, लेकिन स्त्रियों के लिये अनेक पति रखने का अधिकार नहीं है। स्त्रियों के लिए सम्पूर्ण जीवन में एक बार भी किसी अन्य का विचार ऐसा पाप है कि जिसकी पूर्ति ही नहीं हो सकती। फौजदारी कानून ओर धर्म दोनों में परस्त्रीगमन ऐसा अपराध है, जिसके सामने हत्या का भी कोई महत्त्व नहीं है।

बहुपत्नीत्व के बारे में कैथोलिक निर्देश अधिक तर्कसम्मत हैं। कम से कम एकपत्नीत्व को वह स्त्री और पुरुष दोनों पर तो लागू करता है। यह एक बिल्कुल दूसरी चीज है कि व्यवहार में पुरुष इसको तोड़ देते हैं। व्यवहार में न सही, उपदेश में तो समानता का विचार रखा ही गया है।

बुद्धिमत्ता के दृष्टिकोण से बहुपत्नीत्वं अथवा बहुपतित्व में घृणा करने योग्य कुछ भी नहीं है। यदि दो या अधिक मनुष्य एक स्त्री को बांटने के लिये आपस में राजी हो सकें, तो न ही यह समाज के लिये हानिप्रद है और न ही स्वयं उनके लिये। यही बात बहुपत्नीत्व के बारे में भी है। प्रेम में एक विशेष प्रकार की छूट होती है, लेकिन यदि

परिस्थितियों के अनुसार कोई अपने प्रेम की वस्तु को अपने तक ही सीमित रखने का बंधन ढीला कर दे, तो ऐसे जन-वर्ग के रीतिरवाज के पीछे, जो अपने इच्छित मार्ग में ही सुखशांति का अनुभव करता है, लाठी ले कर पड़ना किसी भी नैतिक सिद्धांत से न्यायोचित नहीं है।

बहुपत्नीत्व में आपत्तिजनक चीज तो उस का वह ढंग है, जिस में स्त्रियों को केवल पुरुषों की वसनातृप्ति के लिए उन की दासता स्वीकार करनी पड़ती है। यदि स्त्रियां आर्थिक विचार से स्वतन्त्र हों, तो बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व समाज की स्वाभाविक अवस्था के सब से अधिक निकट होंगे। स्त्री और पुरुष दोनों की प्रवृत्ति इस प्रकार की है कि वे एकात्मक विवाह से पर्याप्त प्रसन्न नहीं रह सकते, यद्यपि ज्यादातर लोग प्रसन्न रहने का प्रदर्शन करते हैं। कम से कम इसी कारण से बहुपत्नीत्व के विरुद्ध कोई कानूनी बाधा नहीं रहनी चाहिए।

वर्त्तमान ईसाई नीतिशास्त्र बहुपत्नीत्व का विरोध करता है और सभ्य देशों के कानून स्त्री और पुरुष दोनों के लिए एक समय एक से अधिक विवाह सम्बंध स्थापित करने को जुर्म करार देते हैं। ये कानून जनमत के कितने विरुद्ध हैं इस की नापजोख करने के लिये आज के विज्ञानवेत्ताओं की बातों को सुनना ही पर्याप्त होगा। डाक्टर नॉरमन हेयर विवाह के भविष्य का तार्किक लेखाजोखा करते हुये लिखते हैं: "विधानसम्मत बहुपत्नीत्व से बहुत से लाभ होंगे...ऐसे बहुत से पुरुष और कुछ स्त्रियां हैं, जिन्हें अपने जीवन को पर्याप्त सुखी बनाने के लिए साफ तौर से विरोधी सेक्स के एक से अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। विवाह से पहले ही स्त्री और पुरुष बता देंगे कि वे उस एकता को एकात्मक रखेंगे या बहुआत्मक।"[1]

इस कथन में डाक्टर हेयर ने काफी संयम से काम लिया है कि बहुत से पुरुष और कुछ स्त्रियां साफ तौर से एकात्मक विवाह से प्रेम नहीं रखते। किंतु एक सामाजिक विज्ञानवेत्ता के लिए यह उचित नहीं है कि वह केवल लेखनी के शिष्टाचारवश एक पूर्ण सार्वभौमिक व प्राकृतिक स्वभाव को कम कर के देखे। यदि यूरोपीय देशों की स्त्रियां कठोर एकपत्नीत्व के लिये शोर मचाती भी हैं, तो इसलिए नहीं कि वे इसे अपने लिए चाहती हैं, बल्कि उन की यह मांग उन पुरुषों के प्रति घृणा के चिह्नस्वरूप है, जो उन्हें तो सारी उमर के लिये एकपत्नीत्व में बांध लेते हैं और स्वयं खुले आम इस नियम को तोड़ते फिरते हैं। एकपत्नीत्व को कठोरता के साथ पुरुषों से पालन कराने से सम्भवतः उन का यह अर्थ है कि पुरुष इस से घबरा कर एक नई नैतिकता

---

१. डा० नॉरमन हेयर द्वारा रचित 'विवाह का देवता' केगानपोल।

को मुकाबले पर ले आयें, जो स्त्री और पुरुष दोनों के लिए उदार होगी। और आस्तिक अंधविश्वासों के स्थान पर जिस के विधिविधान जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं को सुखचैन में बदल देंगे।

बहुपत्नीत्व से लोगों को हिन्दुओं व मुसलमानों के बहुपत्नीक विवाह अथवा नवाबों और राजाओं के हरमों व अन्त:पुरों का बोध होता है। इस प्रकार के विवाह संबन्धों में स्त्रियाँ साधारणत: इच्छुक साझीदार नहीं होती। वे इन विवाह संबन्धों में दीनता, प्रथा, धार्मिक आदेशों और धमकियों से दब कर जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर होती हैं। जहाँ तक स्त्रियों का संम्बन्ध है, कठोर एकपतित्व उन पर लागू किया जाता है। अधिकतर मामलों में उन्हें उन्हीं पुरुषों से संतुष्ट होना पड़ता है जो कुचरित्र और पुंसत्वहीन होते हैं। आज सामाजिक सुधार इन पुरुषों के लिए एकपत्नीत्व लागू करने का यत्न तो करता है, लेकिन वह इस में कहां तक सफल होता है यह अभी देखना है। इस विधान का यह असर होगा कि बहुपत्नीत्व गुप्त रूप से चलता रहेगा और स्त्रियों का अवैध व्यापार करने पर दण्ड दिया जाता रहेगा। विवाहित स्त्रियों की दशा फिर भी नहीं सुधरेगी। वे कभी अपने पतियों के प्रेम पर पूर्ण एकाधिकार प्राप्त नहीं कर सकती।

मेरे तर्कों पर अवश्य ही अग्रगामियों की ओर से विरोध का तूफ़ान उठेगा। हिन्दू और मुसलमानों में बराबर अग्रगामी लोग बहुपत्नीत्व को मिटाने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। उनका यह सुधार आंशिक है और इससे असली समस्या पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। वे स्त्रियों की भलाई का तो प्रयत्न कर रहे हैं, लेकिन साथ ही साथ सेक्स के आधारभूत सिद्धान्तों को ताक पर उठा कर धर देते हैं। जब तक वर्त्तमान आर्थिक व्यवस्था चलेगी, जिस में लाभप्रद धन्धों में साधारणत: स्त्रियां कोई हिस्सा नहीं ले रही हैं, तब तक अग्रगामियों द्वारा प्रस्तुत हल भी कायम रहेगा, यानी दोनों सेक्सों के लिए एकात्मक विवाह का बन्धन कुछ थोड़ी बहुत भलाई कर सकता है। आर्थिक हीनता के अर्थ हैं एक पर दूसरे का स्वामित्व और स्वामित्व ही ईर्ष्या की भावनाओं को उभारने का सब से बड़ा कारण होता है। पब्लिक पार्क में बेंच पर किसी दूसरे के आ बैठने पर कोई आपत्ति नही करेगा, किन्तु बिना अनुमति कोई अपनी बैठक में किसी अन्य को नहीं बैठने देगा। यदि एक की पत्नी किसी दूसरे के साथ जाती है, तो स्वभावत: वही भावना उत्पन्न होती है, यानी अपने स्वामित्व के अधिकार का हनन होने पर क्रोध का आना। यह भावना पुरुषों में ही नहीं उठती (स्वामी होने के नाते यह उन्हीं में अधिक बलवती होनी चाहिए) बल्कि स्त्रियां भी इसी प्रकार की भावनाओं से ग्रस्त हो जाती हैं। यदि उनके स्वामी उनकी अपेक्षा किसी दूसरी स्त्री को

तरजीह देते हैं, तो उन में ईर्ष्या की आग भड़क उठती है ।

यह तर्क भी न ही मानवों के बारे में सही है और न ही पशुओं के बारे में कि ईर्ष्या सेक्समूलक प्रेम का आधारभूत तत्त्व है । पशुओं में सेक्स की ईर्ष्या ऐसी भावना नहीं होती, जो टिकाऊ हो । इस प्रकार की ईर्ष्या का प्रकटीकरण बहुत अस्थाई होता है । सम्भवतः प्रेमक्रीड़ा और वास्तविक मैथुन तक ही यह भावना रहती है । उस के बाद सेक्स के आकर्षण की तरह ईर्ष्या भी विलीन हो जाती है । सेक्स की ईर्ष्या ही वह आधारभूत भावना है, जिस पर एक संस्था की हैसियत से एकपत्नीत्व टिका हुआ है । लेकिन साधारणतः यह मानना भूल है कि ईर्ष्या सारे जीवन स्थिर रहने वाली भावना है । यदि वैवाहिक संबंधों पर से स्वामित्व हटा लिया जाये, तो ईर्ष्या उसी प्रकार अस्थाई और महत्वहीन भावना हो जाएगी, जिस प्रकार पशुओं के बारे में होता है ।

इसी के साथ लोग तर्क करते हैं कि मानव संबंधों की योजना पशुओं के आधार पर नहीं बननी चाहिए । मानव बुद्धि, तर्क शक्ति और आध्यात्मिक योग्यताओं से विभूषित है और इसी कारण उस के संबंधों में पशुओं की नकल नहीं चलनी चाहिए । लेकिन मनुष्य इन में से किसी भी गुण से इसलिये अलंकृत नहीं है कि वह बराबर अपनी आंतरिक भावनाओं के साथ संघर्ष करता रहे और जीता रहे । जीवन के समूहीकरण का उद्देश्य सामूहिक भलाई होना चाहिए और उस सामूहिक लाभ का अपना हिस्सा व्यक्ति को मिलना चाहिये । सेक्स संबंध उस श्रेणी में नहीं आते, जिस में दूसरी अनुभूतियों का संतुष्टीकरण आता है, क्योंकि इस की पूर्ति से दो व्यक्तियों का संबंध है । इसी कारण एक व्यक्ति का सुख दूसरे व्यक्ति के सुख पर ही पूर्ण रूप से आश्रित है और इसी प्रकार इस का जाल संपूर्ण समाज पर आच्छादित है ।

स्पष्टता के विचार से पहले हम एक सन्तोषप्रद सेक्स-संबंध की प्रारम्भिक आवश्यकता को लें । पहले दो व्यक्तियों को राजी होना और एक-दूसरे की ओर आकर्षित होना चाहिये । दूसरे, संबंध उतने ही समय तक स्थापित रहना चाहिये, जब तक दोनों पक्ष रखना चाहें । दोनों पक्षों का राजीनामा अनिवार्य है और एक की नाराजी सम्बंध को असंतोषजनक करार देने के लिये पर्याप्त है, दूसरे शब्दों में अनैतिक और नीतिशास्त्र तक से असम्मत है । यदि एक की सम्मति भी हो और मान लो कि वह संबंध उसे लाभ भी पहुंचाता हो, तो भी कानून को इस प्रकार के साथ को चलते रहने के लिये बाध्य नहीं करना चाहिए । एक कदम और आगे बढ़ा जाये, तो कानून को इस प्रकार के मिलन को निश्चित रूप से हतोत्साह करना चाहिए और कानून तोड़ने वालों को सजा देनी चाहिए । यदि इन आधारभूत

सिद्धांतों को बहुपत्नीत्व पर लागू किया जाए, तो निम्न परिणाम निकलते हैं : यदि दूसरे सेक्स के व्यक्तियों से विवाह सम्बन्ध करते समय दोनों पक्षों में से एक पक्ष राजी नहीं हो पाता, तो पीड़ित पक्ष दूसरे के साथ संबंध तोड़ देने के लिए स्वतन्त्र होना चाहिए। साथ ही दूसरों के साथ सम्बंध रखने में उस पीड़ित पक्ष को दूसरे पक्ष का बाधक भी नहीं बनना चाहिये। कानून और नैतिकता पीड़ित पक्ष के कष्ट का केवल यही उपचार कर सकते हैं कि उसे उस की पूर्व अवस्था में लौटा लायें। जब तक दूसरे पक्ष को अपराधी न समझा जाये, तब तक पीड़ित पक्ष के कष्ट के लिये उसे कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता। इस के विपरीत दूसरे पक्ष पर पीड़ित पक्ष के साथ सम्बंध स्थापित रखने के लिए और उस की अपनी इच्छा के विरुद्ध दूसरे सम्बंध तोड़ देने के लिये जोर डालना कानून और नैतिकता के निकट और भी बड़ा अपराध है, चाहे उस पीड़ित पक्ष का प्रेम दूसरे पक्ष से कितना ही गहरा क्यों न हो। इस का मतलब होगा एक की इच्छा को दूसरे के ऊपर थोपना। इस तथ्य से भी कि एक दुखी है, दूसरे को दुखी बनाना न्यायोचित नहीं ठहरता।

यह पूछा जा सकता है कि प्रकांड अग्रगामियों का एकत्रित मत भी क्यों एकपत्नीत्व के पक्ष में है। सामाजिक विचारक अपने को सम्पतिमूलक विचारों से ऊपर नहीं उठा पाए और उन के नैतिकता से सम्बंधित विचार उन की सामाजिक पृष्ठभूमि से रंगे हुये हैं। यदि शांति से विचार किया जाये, तो बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व स्वयं में बुरे नहीं हैं। न ही इन दोनों संस्थाओं में कोई वस्तु अनीतिपूर्ण या नीतिशास्त्र से असम्मत है। यह कि एक सम्पतिमूलक समाज में इन संस्थाओं का अस्तित्व खराबियां पैदा करता है और एकपत्नीत्व समय के विचार से अधिक सहनीय हल प्रस्तुत करता है, उन कार्यों के निषेध के लिये पर्याप्त सबल तर्क नहीं हैं, जो क्रूर एकपत्नीत्व की प्रवृत्तियों की अपेक्षा आंतरिक मानवीय भावनाओं के अधिक समीप और समस्वर हैं।

● ● ●

धार्मिक विवाह

यद्यपि प्रारम्भिक विवाह रहस्यपूर्ण मन्त्रों व आध्यात्मिक देवताओं की पूजा से सम्पन्न होते थे, फिर भी उन्हें आजकल के धार्मिक विवाहों की तमाम विशेषताओं से पूर्ण नहीं समझा जा सकता और न ही इस मामले में वे पितृसत्तात्मक समाज के विवाहों से पूर्णतः मिलतेजुलते।

[1] "धर्म का एक महान् तत्त्व, वह नैतिक तत्त्व जो उन्नतर जातियों में धर्म का एक मार्मिक अंग है, वास्तव में निम्नतर जातियों के धर्म में मामूली तौर से ही मिलता है। यह बात नहीं कि ये जातियाँ कोई नैतिक बुद्धि या नैतिक मापदंड नहीं रखती। दोनों ही वस्तुओं का उन में बहुत अधिक मान है। व्यावहारिक रीतिनीति में चाहे वह मान दिखाई न दे, किन्तु समाज के उस परम्परागत राजीनामे में, जिसे हम जनमत कहते हैं और जिसके अनुसार किसी कर्म विशेष की अच्छाई-बुराई, औचित्य-अनौचित्य नापे जाते हैं, नैतिक बुद्धि व नैतिक मापदंडों के विचार गहरा स्थान रखते हैं। बात यह है कि नीतिशास्त्र की एकसूत्रता और आध्यात्मिक दर्शन का, जो उन्नतर संस्कृति के अभिन्न और बलशाली अंग हैं, निम्नतर संस्कृति में अभी कठिनाई से प्रारम्भ ही होता दिखाई पड़ता है।"

इस निष्कर्ष की सच्चाई का प्रमाण आजकल भी चालू कुछ मातृसत्तात्मक समाजों में प्रचलित विवाह सम्बन्धी विचारों से मिलता है। भारत के अन्य भागों में पितृसत्तात्मक परिवारों के धार्मिक विवाहों की अपेक्षा तो मलाबार के नायरों में कोई धार्मिक विवाह व्यावहारिक रूप से मिलता ही नहीं। नायरों के विवाह की न ही कोई पादरी साक्षी करता और न ही कोई ब्राह्मण। विवाह के समय किसी प्रकार का धार्मिक उत्सव या तो मनाया ही नहीं जाता या बहुत मामूली सा होता है। विवाह कार्य एकता को पवित्र बनाने की अपेक्षा अधिकतर जनमत की सहमति और उसे लागू करने के विचार से ही संपन्न होता है।

नैतिकता के दकियानूसी विचार और धार्मिक रीतिनीतिमूलक विवाहों का अस्तित्व सभी समाजों में साथ साथ मिलता है। पितृसत्तात्मक संस्थाओं के उद्भव के साथ ही साथ इन दोनों का भी प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भिक संस्कृति में प्राचीनतम धार्मिक चिह्न कन्याओं के यौवनोत्सव और लड़कों के प्रथम संस्कारोत्सव के रूप में मिलते हैं। कैलिफोर्निया के

१. सर एडवर्ड ई० टेलर, 'प्रारंभिक संस्कृति', लंदन, मुरे, १८७३।

इंडियनों में पाए जाने वाले कन्याओं के यौवनोत्सवों के बारे में ए० एल० क्रोयबर्ग का कथन नीचे देखिये :

"इतना निर्णायक यह क्षण था कि यह ख्याल किया जा रहा था मानो वह उस वातावरण के ऊपर बेहद काबू रखती थी, जिस में आने वाला खतरा छिपा हुआ था। यदि वह कहीं इधर-उधर देख लेती, तो ओक के वृक्ष झड़ जा सकते थे ओर हो सकता था कि उनके फलों की अगली फसल भी न आती या सुनहरी सालमन मछलियां नदियों में ऊपर चढ़ना छोड़ देती। इसी लिए बहुत से कबीलों में वयःप्राप्त कन्या को कंबल से ढांक एक बड़े टोकरे के नीचे छिपा देते थे या उसकी आँखों पर परों का कनटोप बांध देते। अन्य लोगों में उसके बालों को चेहरे पर डाल कर सिर नीचा रखा जाता था। उसे यह लाभ दिया जाता कि उसके लिए प्राचीन धार्मिक गीत गाए जाते थे और हर रात को उसके चारों ओर नृत्य किया जाता था। उत्सव के कुछ अतिरिक्त विकसित रूप स्थानीय तौर से निषिद्ध थे। इस प्रकार यह रवाज केवल दक्षिण में था कि लड़की को एक गड्ढे में रख कर गरम रेत में पकाया जाता था। राज्य के उत्तर से दक्षिण तक कितने ही विशेष कृत्य इस में सम्मिलित किए जाते थे। इन में नीचे दिये नियम भी थे : वह अपने सिर को अपनी उंगलियों से खुजा नहीं सकती थी, बल्कि उसके स्थान पर इस काम के लिये विशेष रूप से बनी एक लकड़ी या हड्डी की छड़ी का प्रयोग कर सकती थी। वह लोगों की और देख नहीं सकती थी, और उसके निकट गीत गाए जाते थे।"

क्रोयबर्ग के कथनानुसार यद्यपि कन्या का यौवनोत्सव सभी आदिवासियों में खूब प्रचलित था, किन्तु सभी लोगों में इस के कारण एक समान नहीं थे। जिस तरह वह कॅलिफोर्नियन इंडियनों के बारे में बताते हैं वैसे भी कारण हो सकते हैं : "ये विशिष्टतायें इस विश्वास पर आधारित हैं कि बचपन से कौमार्य में पैर रखती हुई कन्या अवश्य ही एक निर्णायक परिवर्तन से गुजर रही होगी।" किन्तु दूसरी जातियों में किसी और ख्याल की अपेक्षा यह रीति इस बात की घोषणास्वरूप पालन की जानी है कि लड़की ने अब ऐसी परिपक्व आयु में पैर रखा है, जो लैंगिक पुनरोत्पादन के लिए उपयुक्त है।

मानव-शरीर-रचनात्मक प्रमाण तो यह सिद्ध करते हैं कि खतना वगैरह के रूप में लड़कों के प्रथम संस्कारोत्सव का प्रारम्भिक भारतीय कबीलों में अभाव था। यह तो सच है कि इस्लाम के आविर्भाव से पूर्व ये प्रथाएं इस विशाल प्रायद्वीप में कोई नहीं जानता था, लेकिन इस से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिस प्रकार ये प्रथाएं पिरामिड युग से पूर्व मिश्र में,

फोनेशिया, आस्ट्रेलिया, अमेरिका और अफ्रीकन कबीलों में काफी फैली हुई थी, इस से इन्हें विवाह या सेक्स सम्बन्धों से सीधे संबन्धित किया जा सकता है या धार्मिक विवाहों से पूर्व की वस्तु मानी जाए। बाल्डविन स्पेंसर और एफ० जे० गिलेन, जिन्होंने मध्य आस्ट्रेलिया के उत्तरी कबीलों में इस प्रथा की खोज की, लिखते हैं: [1]"खतना आदि के संस्कारों के बारे में कोई संतोषप्रद व्यवस्था हमें नहीं मिल सकी, बल्कि जहां तक हम खोज कर सके, देशी लोगों को कुछ भी मालूम न था कि इन संस्कारों का मतलब क्या है? एक चीज बिल्कुल साफ है कि इन लोगों में अपने कबीले की जनसंख्या को कम रखने के किसी इरादे का कोई हवाला नहीं मिलता। इस बारे में हमेशा यह बात दिमाग में रखनी चाहिए कि इन तमाम कबीलों में जब तक कोई खतना आदि के संस्कार में से हो कर न गुजर ले, तब तक वह कोई पत्नी नहीं रख सकता, और वास्तव में औरतें भी उन लोगों को घृणा की दृष्टि से देखती हैं।"

यदि बाचोफन के दृष्टिकोण को स्वीकार किया जाए, तो स्वयं विवाह भी धार्मिक आज्ञा का हनन ही है और धार्मिक सुधारों के उपायों से अवश्य ही धार्मिक अधिकारों की हत्या पहले होती है।

[2] "जो लोग स्थायी लैंगिक एकताओं की प्रारम्भिकता में विश्वास करते हैं वे एक आश्चर्य कर के अवश्य ही हीनता का अनुभव करेंगे कि पुरातन काल का जो सर्वप्रधान विचार है वह उनके विचार से भिन्न ही नहीं, बल्कि पूर्णत: उसका प्रतिवाद है। (विवाह का) डेमेट्रियन सिद्धान्त अपने से एक बिल्कुल विपरीत, अधिक प्रारम्भिक सिद्धान्त का सीमित रूप बन कर आया। विवाह स्वयं एक धार्मिक आज्ञा का हनन प्रतीत होता है। यह बात चाहे आज हमारी विचारधारा के सम्मुख समझ में न आने वाली प्रतीत हो, किन्तु ऐतिहासिक प्रमाण इसके पक्ष में हैं। मात्र यही उन विचित्र सिद्धान्तों के एक क्रम की संतोषप्रद व्याख्या दे सकती है, जिनकी कभी सही रोशनी में प्रशंसा नहीं की गई। मात्र यही इस विश्वास का कारण बता सकती है कि विवाह के लिए उसी प्राकृतिक दैवी शक्ति की पूजाअर्चना की आवश्यकता है, जिसका विधान इसके विशिष्ट गुणों से खंडित हो जाता है। प्रकृति ने नारी को सब आकर्षणों से इसी लिए अलंकृत नहीं किया कि

---

१. 'केन्द्रीय आस्ट्रेलिया के उत्तरी कबीले', 'लंदन', मैकमिलन एन्ड को०।

२. 'दास मटरेट' जे० बाचोफन, फ्राइडा लाइमर द्वारा अनुवादित।

वह पुरुष की बहुओं में सिमट कर बेहोश हो जाए। भौतिकवादी विधान सभी तरह के बंधनों से घृणा करता है, सभी तरह की सीमाओं को ठुकराता है ओर किसी प्रकार के एकांगीपन को अपनी दैवी शक्ति के विरुद्ध पाप समझता है। तब यह तथ्य उन सभी प्रथाओं की व्याख्या कर देता है, जिनके कारण स्वयं विवाह भी धार्मिक वेश्यावृत्ति के संस्कारों से मिल गया। यद्यपि उनके रूपों में विभिन्नता है, किन्तु अपने आधारभूत विचारों में वे एक हैं। विवाह के द्वारा जो प्रकृति के विधान की अवहेलना की जाती है, अस्थाई वेश्यावृत्ति से उसका पश्चात्ताप कर लिया जाता है, जिस से फिर ईश्वर की कृपा को हस्तगत किया जा सके। वेश्यावृत्ति और विवाह के कठोर विधान की दोनों संस्थाएं, जो एक-दूसरे से अलग प्रतीत होती हैं, अब आपस में निकटतम सम्बन्धों से जुड़ी दिखाई देती हैं। स्वयं वेश्यावृत्ति वैवाहिक सतीत्व की रक्षक हो जाती है, और इस सतीत्व की पूजा एक ऐसी शर्त बन जाती है, जिसका पालन कर के ही कोई नारी को पत्नी के नाम से पुकार सकता है।

प्रारम्भिक समाज में धर्म सामाजिक सम्बन्धों को नियमित करने के लिए वैधानिक व्यस्थापक का काम करता था। सम्पति को ले कर किये जाने वाले सम्बन्ध धार्मिक हस्तक्षेप के अन्तर्गत आते थे और प्रारम्भिक सम्बन्धों में विवाह भी शारीरिक अथवा लैंगिक इच्छाओं की पूर्ति का साधन बनने की अपेक्षा सम्पतिमूलक विचार के रूप में विकसित हो गया और इसलिये कठोर धार्मिक रीतियों के द्वारा नियमित और व्यवस्थित होने लगा।

[1] "पहले तो यही जानना महत्त्वपूर्ण है कि ऐतिहासिक दृष्टि से विवाह प्रारम्भिकतः सामाजिक संस्था है या वैधानिक। समय समय पर विवाह की भिन्न भिन्न व्याख्याएं की जाती रही हैं, लेकिन साथ ही साथ अब तक कोई ऐसी व्यवस्था सामने नहीं रखी गई, जो इतनी लचीली और फिर भी इतनी निश्चित हो कि विवाह के सभी रूप उस में समा जाएं। मानव-शरीर-रचना-शास्त्रियों के सम्मुख जो काम है वह यह समझना है कि जो लोग इस प्रकार की विभाजन रेखा खींचते हैं वे विवाह को दूसरे सेक्स सम्बन्धों से अलग कर के क्या अर्थ निकालते हैं। प्रारम्भिक जातियों में विभाजन मुख्यतः इस तथ्य पर टिकता दिखाई पड़ता है कि इस एकता से सन्तान उत्पन्न होती है या नहीं। एकता के स्थायीत्व के परिमाण का प्रश्न इस मामले में नहीं आता। समय बीतने के साथ साथ दूसरी शर्त

---

१. जनवरी सन् १६३१ ई० के 'कोलम्बिया ला रिवीव' के 'कानून और नृतत्त्व-शास्त्र' में एच० केयर्न्स।

भी लदती चली गई और यहाँ तक कि वह अवस्था भी आ गई कि सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक उत्सव की आवश्यकता पड़ने लगी। पहलेपहल तो जो संबंध वैधानिक नहीं थे उन्हें न ही अनियमित ख्याल किया जाता था और न ही उन में कोई बदनामी की बात थी। लेकिन एक अवश्यंभावी प्रवृत्ति उन में थी, जैसा कि ब्रिफाल्ट का कथन है : वैधानिक रूप से स्थापित सम्बन्ध में (दूसरे निहित कारणों एवं विचारों को दूर रखते हुये) उन संबंधों के मान में घटोतरी उत्पन्न करना, जो वैधानिक रूप से स्थापित नहीं हैं, किंतु सम्मानित हैं। "लेकिन सर्वोच्च महत्त्व की बात जो हमें स्वीकार करनी चाहिए वह यह है कि अधिकतर उपजातियों में सेक्स सम्बंध के बहुत से रूपों में से एक वह रूप अलग है, जो वैधानिक देन से युक्त है।"

यद्यपि धर्म ने कानून की उद्देश्यपूर्ति की है और विवाह को वैधानिक व आध्यात्मिक स्वीकृति भी प्रदान की है, लेकिन इस का काम कभी स्त्रियों के पक्ष में नहीं रहा। सदा से ही इस का खास काम 'साधारण यौन कार्यशीलता को दबाना' रहा है। इस का विशेष दबाव स्त्रियों पर और उस से कुछ कम पुरुषों पर रहा। साथ ही इस के भाषा और प्रतीक ऐसे रहे, जो "कामुक उत्तेजना को व्यक्त करने में प्रयोग किए जाते हैं।" इस अपवित्र योग से सर्वत्र चर्चाप्राप्त इस सिद्धांत को काफी बल मिलता है कि "गहरे पैंठने पर धर्म कामुक भावनाओं की गलतफहमी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" किंतु यह सिद्ध करने के लिए कि धर्म विकृत 'यौनानुभूति' ही है निर्णायक प्रमाणों का अभाव है।

इस रोशनी में इस सर्वमान्य सिद्धांत पर भी ध्यान देना तुलनात्मक रहेगा कि स्त्रियों की धार्मिक भावनायें पुरुषों की धार्मिक भावनाओं से कहीं अधिक जोरशोर से प्रकट होती हैं।

[1]"यदि हम से पूछा जाए कि स्त्रियां अधिक धर्मीकर्मी हैं या पुरुष, तो हम में से अधिकतर लोग बिना हिचकिचाहट के स्त्रियों का पक्ष लेंगे और संभवतः कारण बताने के लिये स्त्रियों के अधिक भावनापूर्ण होने की लोकोक्ति का ही हवाला देंगे। इस संपूर्ण महाद्वीप में, उदाहरण के लिये स्पेन को ले लें, यह रोजमर्रा की जानीपहचायी बात है कि स्त्रियां सामूहिक प्रार्थना में जाती हैं, जब कि उन के स्वतन्त्रमना भाई और पति कभी चर्च का द्वार भी नहीं देखते। आंग्ल-सेक्सन देशों में धार्मिकता या कोई दूसरा स्पष्ट धार्मिक *या नैतिक सुधार आंदोलन अधिक निश्चयपूर्वक नारी मनोविज्ञान के साथ जोड़*

१. राबर्ट एच लोवी, 'आदि धर्म', न्यूयार्क, हैरेस लिवराइट इन्कारपोरेशन।

दिये जाते हैं और वह भी इस तथ्य के बावजूद कि अधिकतर पदवियों में स्त्रियां पुजारी या मंत्री के स्थान को पाने की अधिकारिणी नहीं हैं। लेकिन जब हम अधिक असभ्य संस्कृतियों में इस के बराबर के सिद्धांत की छानबीन करते हैं, तो यह तथ्य प्रकट होता है कि विभिन्न धर्मों में स्त्रियां पदवियों से ही वंचित नहीं हैं, बल्कि मालूम होता है उन्हें सभी धार्मिक कृत्यों में निषिद्ध करार दे दिया गया है।

धार्मिक कार्यों में स्त्रियों का निषेध और यह विश्वास कि स्त्रियां अपवित्र हैं, विशेषतः स्त्रियों के एक शारीरिक स्वभाव, मासिक स्राव के विरुद्ध प्रारम्भिक लोगों का बचाव है। [१]"स्त्रियों की 'अपवित्रता' से बचाव आरम्भ में स्त्रियों की लज्जा और उन की शारीरिक हीनता की अनुभूतियों को ले कर चला। असंख्य धार्मिक विश्वासों में ये अनुभूतियां पलती रहीं, जैसे वे दूध नहीं बिलो सकती, फलों का अचार नहीं डाल सकती, सिरके का मांस आदि नहीं छू सकती, न ही गुलदस्ते को हाथ लगा सकती। इन सब के पीछे यह भय था कि कहीं उन के छूने से ये चीजें गलसड़ न जायें या बेकार न हो जायें। इस में से बहुत से और इसी प्रकार के अन्य विश्वास आज भी लोगों के दिमागों में भरे हुये हैं। यहाँ तक कि चिकित्सा विज्ञान भी मासिक स्त्राव की समस्या को एक रहस्यपूर्ण रोग समझ कर परम्परागत भय के साथ देखता था, और इस अवस्था में स्त्रियों को 'प्राकृतिक रूप से असमर्थ" ख्याल करता था।" गिलियानी अपने 'डायलॉग सर लेस फीमस' में कहता है : "एक निरन्तर रोग के बीच बीच में स्त्रियों को स्वास्थ्य के कुछ अवकाश ही मिल पाते हैं।"

ऋतुवती स्त्री से भय या घृणा एक पूर्ण सार्वभौमिक प्रथा के रूप में आज तक भी विद्यमान है। [२]"पेलियो साइबेरियन, अंडमानी व बुशमैन जैसे गंवार से गंवार लोगों में और अमेरिका के असभ्य लोगों में इस प्रथा के चलन से, तथा कुछ ऊंचे दरजे के लोगों में भी इस के फैलाव से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ऋतुकालीन अवरोध मानव संस्कृति के इतिहास की महान् प्राचीन से प्राचीन प्रथाओं में से हैं, यद्यपि सम्भव है उस अतिरेक के साथ ये प्रारम्भिक संस्कृति में न हों, जिस प्रकार कनाडा और संयुक्त राज्य अमेरिका की बहुत सी इण्डियन जातियों में इन का पालन होता है।"

संसार के प्रत्येक भाग में संगठित धर्म स्त्रियों के प्रति कठोर रहा है

---

१. 'नारी चरित्र' अं०, वायोला क्लेन, लंदन, केगान पोल' १९४६।
२. राबर्ट एच० लोवी, 'आदि धर्म', न्यूयार्क।

और ईसाई धर्म भी इस का अपवाद नहीं है। क्रिश्चियन पादरियों के अनुसार : [1]"नारी नरक के द्वार और सभी मानवीय कष्टों की प्रतिनिधि बन कर आई। उसे इसी विचार से लज्जा आनी चाहिये कि वह एक स्त्री है। संसार के ऊपर जो अभिशाप वह लाई उसी के कारण उसे अनवरत प्रायश्चित्त की अवस्था में रहना चाहिये। उसे अपनी वेशभूषा पर लज्जा आनी चाहिये, क्योंकि यही उसकी गिरावट की निशानी है। विशेष रूप से उसे अपने सौंदर्य पर लजाना चाहिए क्योंकि यही शैतान का सब से अधिक मारक अस्त्र है।"

प्रेम के प्रति धार्मिक व्यवहार केवल मध्य युग में ही सब से अधिक कठोर रहा। [2]"प्रारम्भिक पुरुष के लिये सेक्स एक अंधविश्वास था और प्राचीन पुरुष के लिए एक धार्मिक संस्कार था। सेक्स के प्रति प्रारम्भिक लोगों का व्यवहार गोपनीयता अथवा कामुकता से रहित था। सेक्स के अंग शक्ति और सौंदर्य की वस्तुयें थीं। यहां तक कि निर्जीव वस्तुओं को भी सेक्स-संपति की भेंट दी जाती थी। देवताओं के प्रारम्भिक स्वरूपों में संसार के लैंगिक आरम्भ की कल्पना की जाती थी। उदाहरण के लिये, यूरेनस (आकाश) गीया (पृथ्वी) के साथ अनंत मैथुन में रत था और इस आलिंगन में मानवता की अवस्था निरन्तर उत्पत्ति की अवस्था ख्याल की जाती थी। बाइबिल के यहूदियों में फैलस (लिंगाकृति) एक पवित्र चिह्न था, जिस के ऊपर कसमें खाई जाती थीं और औरतें उसे बांझपन के तावीज के रूप में पहनती थीं। यूनानियों और रोमनों में लिंगाकृति की पूजा विस्तार के साथ प्रचलित तथा स्वीकृत प्रथा थी। यूनानी धर्म सेक्स से अतिरंजित है। यहूदी धर्म में भी इसी प्रकार लिंगपूजा के ठोस प्रमाण मिलते हैं। बाइबिल के प्रमाण के अनुसार, यहूदी लोग फैलस की कसमें ही नहीं खाते थे, बल्कि 'आस्कर' और 'बाल' (फोनेशियनों का प्रमुख नर देवता) को साक्षी मान कर उन के नाम पवित्र शपथ उठाना लिंगपूजा का दूसरा अकाट्य प्रमाण है। ईसाई मत में भी इसी तरह की लिंगपूजा पद्धति का प्रयोग किया गया। प्रारम्भिक स्थापत्य, जो अपने ढांचे और मूर्त्तियों में नर और नारी के लिंगाकारों को चिह्नित करता था, क्रिश्चियनों के द्वारा उन के गिरजाघरों और वेदियों के डिजाइनों में प्रयोग किया गया।"

जैसा कि पहले भी कहा गया है, प्रारम्भिक समाज में धर्म ने विधान

१. बर्ट्रेन्ड रसेल, 'विवाह और नीतियाँ' अं०, लंदन।

२. वी० एफ० कालवरटन, "विवाह का दिवालियापन", लंदन, जॉन हैमिल्टन।

का रूप ले लिया और सामाजिक सम्बंधों का नियमन किया । आज भी व्यक्तिगत सम्बंधों के कानून धार्मिक निर्देशों पर आधारित हैं और बहुत से मामलों में तो पूरी तरह उनका अनुगमन करते हैं। भारत की प्रमुख धार्मिक जातियों में स्त्री और पुरुष के बीच के सम्बन्ध पूर्ण रूप से धार्मिक विषय की वस्तु हैं और बड़ी कठिनाई से कुछ छोटेमोटे सुधार इन में हो पाए हैं।

हिन्दू धर्म में धार्मिक निर्देश विभिन्न प्रकार के हैं। कारण सीधा सा है कि हिन्दुओं का कोई एक पैगम्बर नहीं रहा। बंदीकृत विवाह, प्रेम विवाह, इच्छित विवाह, मंगनीकृत विवाह और धर्म विवाह ये सभी प्रकार के विवाह हिन्दू धर्म में मिल जाते हैं। स्वयंबर अथवा इच्छित विवाह के अनुसार लड़की अपना पति बहुत से उम्मीदवारों में से चुनती है। उम्मीदवार एक सभा में एकत्रित होते हैं और कन्या अपनी दासी के साथ, जो उपस्थित उम्मीदवारों का जीवन परिचय कराती चलती है, अपने हाथों में बरमाला लिए सभा में चारों ओर घूमती है और जिसे वह अपना पति चुनती है उसके गले में वरमाला डाल देती हैं। यह पहले भी निश्चय कर ले सकती है या उस पर किसी विशेष व्यक्ति को चुनने के लिये उसके माता-पिता की ओर से दबाव भी डाला जा सकता है, लेकिन ये बातें इस प्रकार के उत्सव में कोई विशेष अन्तर नहीं डालती। एक प्रथा के रूप में स्वयंबर, जिस में धर्म-विवाह के समान ही पवित्रता समझी जाती थी, जनता के सांस्कृतिक इतिहास में अपूर्व स्थान रखता है और इस से प्रकट होता है कि उस समय के नागरिकों की दृष्टि ओर सहनशक्ति कितनी विशाल थी। संभवत: इस प्रथा का जन्म मातृसत्तात्मक काल में हुआ। धर्मकथाओं में पितृसत्तात्मक युग में इस प्रथा के विस्तृत प्रचलन का वर्णन मिलता है। शासक वर्ग में विशेष रूप से इसका चलन रहा। मलाबार के हिन्दुओं में, जहां मातृसत्तात्मक व्यवस्था आज भी विद्यमान है, विवाह को अब भी स्वयंबर (इच्छित विवाह) या संबन्धम् (अच्छा संबन्ध) के नाम से पुकारा जाता है, औ उत्सव में इस प्राचीन प्रथ की वास्तविक रीति-नीति बरती जाती है। विवाह को धार्मिक बंधन की अपेक्षा सामाजिक संबंध के रूप में अधिक लिया जाता है। धार्मिक रीतियों और जादूमन्त्रों का अभाव इस आश्चर्य को और भी बल देता है।

सेक्स अनुभूति के क्रूर स्वभाव के कारण ही पहलेपहल बंदीकृत विवाह का जन्म होने से इसकी प्रकृति निश्चित होती है।[1] "नर और

---

१. राबर्ट ब्रिफाल्ट, 'माताए'', अं।

नारी दोनों ही के मामले में 'प्रेम' या लैंगिक आकर्षण प्रारम्भिक अवस्था में विशेषतः लैंगिक व पाशविक उत्तेजनाओं का मिश्रण है। इस की प्रकृति निश्चित रूप से पीड़ाजनक है। यह भूख की तरह क्रूर है। सेक्स अनुभूति से सम्बंधित यह भावना मौलिक, आधारभूत तथा सुदीर्घ काल से स्थापित है। नर-पशु स्त्री को पकड़ लेता है, उसे नोचताकाटता है, बदले में वह भी अपने दांतों और बड़े बड़े नाखूनों का स्वतन्त्रता से प्रयोग करती है, और इस प्रकार क्षतविक्षत, खून से लथपथ ये 'प्रेमी-जन' मैथुन से निवृत्त होते हैं।"

इतनी प्रारम्भिक अनुभूति से निकली हुई किसी संस्था की धार्मिक मान्यता से कोई इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुंच सकता है कि विवाह पर लागू होने वाली धार्मिक पवित्रता का उद्भव काफी बाद में हुआ, और धर्म के अध्ययन के लिये हिंदू धर्म एक ऐसी मानसिक प्रवृत्ति के बारे में, जो युगों से मानव की पूर्णतः दूसरी प्रकृति बनी हुई है, परस्पर संयुक्त और पूर्ण इतिहास प्रस्तुत करता है।

सेक्स अनुभूति के संतुष्टीकरण और मिलन के लिये प्रस्तुत दोनों पक्षों की अवस्था और प्रेमपूर्ण जीवन के लगातार चलते रहने के बीच कुछ भेद तो करना ही पड़ेगा। सेक्स अनुभूति की सन्तुष्टि तो मैथुन से हो जाती है, और आम तौर पर न ही नर और न ही नारी बाद में उस संग को निभाने की परवाह करते, जब तक कि स्त्री गर्भवती हो कर खाना जुटाने और अन्य साधारण काम करने के लिहाज से हीन अवस्था में न फंस जाये। यही वह अवस्था है, जहाँ आ कर जोड़ा बनाने की दूसरी अनुभूति दोनों के दिलों पर छानी आरम्भ हो जाती है। नर के लिये तो यह अपने पाशविक कृत्य से पीड़ित व्यक्ति के प्रति दयाभाव रहता है, जो अपराध की भावना से मिलता-जुलता है, और नारी के लिये यह उस को असहायावस्था है, जो उसे सहायता की ओर ताकने के लिए विवश करती है। सामाजिक विचारकों के दिमागों में इन दोनों अनुभूतियों को एक और समान समझने की जो भूल है वह इस विश्वास में परिणत हो गई है कि प्रत्येक यौन-कृत्य विवाह में ही संपन्न होना चाहिये, और दोनों पक्षों को इस प्रकार एक सुदीर्घ प्रेम जीवन में साथ ही साथ चलना चाहिये। इस रोशनी में यह समझना कठिन न होगा कि प्रेम-विवाह या ऐच्छिक विवाह की तरह बंदीकृत विवाह को भी यही अनुमति प्रदान करने का महत्त्व कितना है।

गंधर्व विवाह की प्रणाली आधुनिक रोमांटिक प्रेम-विवाह के समकक्ष ही है। ऐसा उसी समाज में हो सकता है, जिस में दोनों सेक्सों को निकटता बढ़ाने के लिये लम्बे समय तक एक-दूसरे से मिलनेजुलने की स्वतन्त्रता हो।

इस प्रकार के समाज को आवश्यक रूप से पूर्वगठित समाज की अपेक्षा सुविकसित और ऊंचे स्तर का होना चाहिये। गधर्व विवाह की धार्मिक अनुमति देने से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि चोरीछिपे के प्रेम व्यवहार के परिणामस्वरूप किसी पुरुष द्वारा किसी स्त्री को भगा कर ले जाने को भी गधर्व विवाह समझा जाएगा। इस का सामाजिक महत्त्व उस से कहीं अधिक है। पहली बात तो यह है कि उन स्त्री और पुरुषों में, जो नई परिपाटी चलायेंगे, एक उच्चतर बौद्धिक योग्यता अथवा मानसिक साहस की कल्पना करनी होगी। वह सब स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र भावनाओं के विस्तृत प्रभाव से ही सम्भव हो सकता है। प्रेम की महानता दर्शाने वाले एक आदर्शवादी साहित्य में स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र भावनाओं को पोषण मिलना चाहिये। उस प्रारम्भिक समाज के अनुरूप समाज में, जहां धार्मिक सिद्धाँत ही सामाजिक विचारों के लिये आधार खड़ा करते हैं, इन शर्तों का पूर्ण होना असम्भव है।

रोमांटिक प्रेम एक विषम अनुभूति है, जिस में ललित कला-दर्शन की अनुभूतियां, आदर्शवाद, संस्कृति, कल्पना, और नैतिक सिद्धांत इस प्रकार गुंथे हुये हैं कि एक विविधरूपी झरना बन जाता है। नारी के बारे में तो यह मातृअनुभूति का प्रत्यावर्त्तन या इस सुप्त अनुभूति का अस्पष्ट पूर्वाभास हो सकता है। नर में परोपकारी भावनाओं का काल्पनिक मूर्त्तीकरण, ललित कला सम्बन्धी अभिरुचियां, आत्माभिमान, भलमनसाहत और सहानुभूति की चेतना उन विद्रोही व संघर्षमयी भावनाओं को दबा देते हैं, जो परम्परा का ख्याल नहीं रखतीं। इसी के साथ जंगली मनुष्य का माता के स्नेह पर आश्रित रह कर उस के जीवन भर का अनुभव भी शामिल होना चाहिये। पशु अवस्था से मनुष्य ने एक सुदीर्घ मार्ग पार किया है, किंतु उस का मनोविज्ञान बहुत कुछ प्रारम्भिक पशु-अनुभूति का ही अंश है, और यदि मनुष्य एक स्त्री के प्रति भक्तिभावना से संतोष पाता है, तो वह उसी प्रकार एक नई वस्तु के प्रति उस के मातृप्रेम का प्रत्यावर्त्तन है, जिस प्रकार प्रेमी के प्रति प्रेम भावना में नारी की मातृअनुभूति है। लेकिन इस बात में नारी का अनुगमन वह सांस्कृतिक अवरोधों के बीच चल कर करता है। इस प्रकार उस सेक्स अनुभूति की दिशा परिवर्तित हो जाती है, जो दूसरी ओर स्त्री और पुरुष दोनों में ही अत्यधिक प्रधान है, और यदि यह समाज न होता, तो जीवन भर के लिये विवाह की अपेक्षा सेक्स सम्बंधों का पारस्परिक अस्थाई प्रतिदान ही हुआ करता।

धर्म की ओर से स्थाई विवाह के लिए दी जाने वाली स्वीकृति से ही इस बात की गवाही मिलती है कि सामाजिक विचारों के जाल में सम्पत्तिमूलक विचार किस प्रकार गुंथे हुये हैं। सामंतवादी और पूंजीवादी सामाजिक

संगठनों के विकास में विवाह की इस प्रणाली ने इस प्रकार एकाधिकार स्थापित कर लिया है कि दूसरी प्रणालियां पहले धर्मसम्मत होते हुए भी आज त्याज्य हो गई हैं। प्रेम के तत्त्व को पृष्ठभूमि में फेंक दिया गया है और उस के स्थान पर अधिकारी सेक्स के लिए उपयोगिता एवं विलासप्रियता के तत्त्वों ने मान्यता पा ली है, यद्यपि इन उद्देश्यों को चतुराई से धार्मिक भूलभुलैया और दैवी आज्ञाओं में छिपा लिया गया है।

पति से स्त्री के अस्तित्व की अलग मान्यता से इनकार कर के पुरुष पर उस के पूर्ण आश्रय का धर्म ने पूरी तरह शोषण किया है, या धर्म का इस के लिये पूरी तरह शोषण हुआ है। मनु के सिद्धांत के अनुसार : "जिस पुरुष से स्त्री की एकता नियमपूर्वक स्थापित हुई हो, चाहे उस के गुण कैसे भी हों, उसे भी वह उसी प्रकार ग्रहण करती है, जिस प्रकार सरिता सागर से संयुक्त हो जाती है।" इस में हमें स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व से साफ इनकार करने का सब से अधिक स्पष्ट ढंग मिलता है।

धर्म-विवाह के उपर्लिखित रूप का सीधा परिणाम यह हुआ कि धर्म और समाज के एक महत्त्वपूर्ण पिछलग्गू के रूप में नगरवधू का मानसंभ्रम बढ़ गया। जिस प्रकार पुजारीगण देवताओं के नंबरदार हो गए, उसी प्रकार प्रेम का लुप्त तत्त्व देवदासियों या देवपत्नियों के संसर्ग में मिलने लगा। उसी दिन से देवता के चरणों में लड़कियों की एक निश्चित संख्या समर्पित करने की प्रथा सर्वमान्य हो गई। उस समय का धार्मिक साहित्य देखा जाए, तो उस में देवदासियों के असंख्य प्रसंग मिलते हैं। इस धंधे के लिए आवश्यक शिक्षा-दीक्षा देने वाली पुस्तकों ने शास्त्र की मान्यता पाई।

उस समय की स्त्रियों के ऊपर अपनी इच्छा थोपना धर्म के लिए आसान काम नहीं था। स्त्रियों की इच्छा को पुरुषों की इच्छा की अनुगत बनाने के लिये चालाकी बरती गई। कौमार्य और यौवनावस्था स्त्री के जीवन में उत्पात के दिन होते हैं, जिन में वे तमाम अधिकार और बंधनों को भूल जाती हैं। इस अवस्था में उन पर स्थायी एकता लागू करना या इस प्रकार की एकताओं की पवित्रता में विश्वास करने के लिये दबाव डालना कठिन है। उन की स्वतन्त्र प्रकृति को दबाने का सब से सस्ता ढंग धर्म ने यह निकाला कि बचपन में ही उन्हें जीवन भर के लिये विवाह के जुए में जोत दिया, जाये ताकि उन की कौमार्यावस्था कभी अस्तित्व में ही न आए। लड़कियां विवाह के बाद हमेशा मां बन जातीं और साथ ही साथ उन की स्वतन्त्र प्रवृत्ति आगे कभी उन के मस्तिष्क में अंकुर पाने से पहले ही मर जाती।

जब भी धर्म ने अपने उद्देश्य की पूर्ति करनी चाही, तभी साधनों

के चुनाव में किसी प्रकार की हिचहिचाहट नहीं बरती गई। ईर्ष्या, प्रतिस्पर्द्धा. द्वेष की भावनायें, लज्जा, अपराध और धोखेबाजी की अनुभूतियां इन सभी का खुल कर प्रयोग किया गया। ऐसा करने से धर्म का तमाम नीतिशास्त्र खंडित हो कर वायु में विलीन हो गया इस का भी कोई ख्याल नहीं किया गया। [1]"वेदों में इस आशय का एक मन्त्र है कि प्रत्येक आर्य अपनी दुल्हन को उस के यौवनावस्था में पहुँच जाने पर अग्नि से प्राप्त करता है। वह उस का चौथा पति कहा जाता है। सोम, गंधर्व और अग्नि देवता उसे यौवनावस्था प्राप्त होने से पहले ही क्रमशः भोग चुके होते हैं।" इस मंत्र से एक ऋषि के मन में एक विचार उत्पन्न होता है। उस के अनुसार बालविवाह का विचार देवताओं को उन के अधिकारों की ओर से ठगने के लिये है। वह कहता है: "जब किसी कन्या के बाल उगने लगते हैं, तब सोम उस से तृप्त होता है, जब वक्ष उभरने लगते हैं, तो गंधर्व उसे भोगता है, और जब ऋतुकाल आरम्भ हो जाता है, तो अग्नि देवता अपनी प्यास बुझाता है। इसलिये इन तीनों वस्तुओं—बाल उगना, वक्ष उभरना, और ऋतुकाल का आरम्भ होना—से पहले ही कन्या का विवाह कर देना उत्तम है, जिस से सोम या अन्य देवता उसे न भोगने पायें।" धर्म की बेहूदगी इस से आगे नहीं जा सकती।

इन के अतिरिक्त धर्म के पथ से विचलित होने वाले लोगों का मुंह फेरने के लिये दूसरे जन्म में दण्ड भोगने की धमकी बड़ी जबरदस्त थी। पुरुष के लिये निःसन्तान और स्त्री के लिये अविवाहित रह जाना जघन्य पाप समझे जाते थे, जिन के कारण दूसरे जन्म में उन बेचारे बलिपात्रों के लिये निरंतर कष्ट भोगने का विधान था। इस ढंग से धर्म ने जन्म और विवाह के उद्देश्य निश्चित कर दिये।

इस प्रकार के संबंधों में निहित स्थायित्व धार्मिक विवाह की प्रारंभिक दिशा मानी गई। धार्मिक विचार के अनुसार विवाह संबंध स्वर्ग में सम्पन्न होते हैं, इसलिये उन में कोई सुधार करना इस दुनिया में असम्भव है। फिर भी धर्म के पक्षपातपूर्ण व्यवहार की यह व्याख्या शोकपूर्ण है कि यह बात केवल स्त्रियों के बारे में ही लागू है। मनुष्य के लिए यद्यपि प्रत्येक विवाह स्थायी संबंध है, किंतु उसे जितने चाहे उतने विवाह करने की धार्मिक स्वीकृति प्राप्त है। यह एकांगी पक्षपात इस व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियों के लिये पुरुष देवता हैं, और देवताओं के ढंग तो निराले ही होते हैं, जिन के

---

१. पी० थॉमस, 'भारत में नारी और विवाह', लंदन, जार्ज एलेन एंड अनाविन लि०।

बारे में कभी कोई सवाल उठाया ही नही जा सकता ।

इस से यह अनुमान कर लेना चाहिए कि विवाह के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण सदा एक सा रहा है। धार्मिक विक्षिप्तताएं भी उतनी ही प्रजननशील हैं, जितने कि मानवीय खब्त हैं। जब ऋषिगणों का एक समूह इधर कामसूत्र, रतिरहस्य, रत्नमंजरी, अनंगरंग, स्मरदीपिका और समयमात्रिक की रचना कर रहा था, जिन में सेक्स की टेकनीक और कामुक लोगों के लिये शिक्षाएं दी हुई हैं, उस समय दूसरा समूह इस शरीर से होने वाले पापों की भर्त्सना करने और आत्मशुद्धि के लिये शरीर को तपाने की प्रशंसाएं रचने में व्यस्त था। धार्मिक विचारों की धारा के अनुसार अखंड ब्रह्मचर्य तमाम आध्यात्मिक शक्तियों में प्रधान है। यह भी कहा गया है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य से मृत्यु पर भी विजय पाई जा सकती है। यदि कोई एक अब तक मृत्यु पर विजय प्राप्त नहीं कर सका है, तो इसका कारण यह बताया जाता है कि वह पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने में असमर्थ है ।

ऊपर का अंतिम विचार साधारणतः बौद्धों में सब से अधिक था और इस में कोई आश्चर्य नहीं है कि बौद्ध-धर्म सेक्स की चट्टान से टकरा कर चकनाचूर हो गया। इसका पुजारी वर्ग यद्यपि सेक्स की वर्जना करने में सब से अधिक उत्साही था, किन्तु उस ने अपने अनैतिक व्यवहार से बौद्ध व्यवस्था को बदनाम किया और इस प्रकार अपने विरोधियों को वह अवसर प्रदान कर दिया, जिसके कारण आज बौद्ध धर्म हिन्दुओं का एक सम्प्रदाय मात्र बन कर रह गया है। लेकिन इस के ये माने नहीं कि हिन्दू सेक्स के मामले में अधिक उदार हैं। हिन्दुत्व में सब से अधिक पवित्र अवस्था तो ऋषियों, धर्मगुरुओं और स्नातकों के लिये सुरक्षित है और 'मुक्ति-मार्ग' के अनुसार साधारण स्वस्थ गृहस्थ-जीवनमुक्ति के चार उचित मार्गों में से एक है ।

विवाह और सेक्स के बारे में धार्मिक व्यवहार में एक चक्करदार नियमितता है। कट्टरपंथी धर्म की एक लहर के पीछे लैंगिक स्वच्छंदता का एक दूसरा प्रवाह आता है, जिस में राधाकृष्ण और शक्ति की पूजाएं सम्मिलित हैं। यह देख कर ही कि लोग अपने से विभिन्न सेक्स के देवताओं के व्यक्तिगत आकर्षणों तथा उन के वासनापूर्ण क्रियाकलापों की पूजा बड़े भक्तिभाव से करते हैं, यह मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत बना है कि धर्म सेक्स प्रवृत्ति का ही विकृत रूप है, या धर्म और सेक्स दोनों का एक ही उद्गम है या एक दूसरे का ही परिवर्तित रूप है। विभिन्न सेक्स के दो व्यक्तियों के आपसी मिलन से प्राप्त होने वाले सुख की जिन लोगों के

लिये वर्जना थी उन्हें इस प्रकार की मूर्त्तिपूजा से संतोष मिलता था, जिसे आध्यात्मिक सुख का नाम दिया जाता था। साथ ही बहुत से लोगों को पूजा के बहाने खुल कर मिलने का अवसर मिलता था, जो अन्यथा समाज द्वारा वर्जित था। परम्परा ने स्त्रियों पर परिवार के नर सदस्यों के अतिरिक्त अन्य लोगों से मिलनेजुलने पर कठोर प्रतिबन्ध लगा रखा था। धार्मिक सम्मेलन ही ऐसे उत्सव थे, जिन में स्त्रियां सर्वसाधारण में दिखाई दे सकती थी। आश्रम और ऐसे दूसरे स्थान, जहां वे विवाहित जीवन के अत्याचार से घबरा कर शरण लेती थी, उन कठोर एकांतवास से शुष्क और पीड़ित स्त्रियों के लिये फिर भावनापूर्ण जीवन के प्रवेश द्वार खोल देते थे। एक प्रेमपूर्ण जीवन की मृदु प्रत्याशा और यौवनावस्था में संजोए प्रीति-स्वप्न, जब ये सब और इन से भी बहुत कुछ अधिक, स्थायी विवाह की वेदी पर बलिदान कर दिए जाते हों और उन के दिल के अरमानों को जला कर उन बलिदानों पर पवित्रता की मोहर जड़ दी जाती हो, तो इस में कोई आश्चर्य नहीं कि धार्मिक सम्मिलन के प्रति फटी पड़ने वाली भक्तिभावना से फिर एक बार प्रेम के सूखे पौदे में पानी पड़ जाए। 'प्रेम सभी वस्तुओं को जीत लेता है।'

हालांकि धर्म कभी सेक्स को पाप के साथ जोड़ने से नहीं चूका, लेकिन वह सेक्स के विज्ञापन का भी साधन रहा है। विवाह से सम्बन्धित जनोत्सव, नगाड़ों का पिटना, नफीरियों का बजना, शादीब्याह से बंधी हुई दावतें व अन्य अनेक खटराग सब धर्म की उपज हैं। सभ्यता की प्रगति के साथ साथ लिंगपूजा विवाह के देवता की पूजा और विवाह के विशाल उत्सव में परिवर्तित हो गई। सेक्स सम्बन्धी इस प्रारम्भिक रीति का इस इस प्रकार खुला विज्ञापन इस बात की धमकी तथा गारन्टी है कि इसके द्वारा जो अधिकार मालिक को मिले हैं उन्हें छीनने का साहस कोई विरला ही कर सकता है।

विवाह संबन्ध स्वर्ग में सम्पन्न होते हैं और एक धार्मिक विवाह सूत्र में बंध जाने पर स्त्री–पुरुष न ही इस जन्म में अलग किए जा सकते और न ही अगले जन्म में, यह धार्मिक कल्पना सती प्रथा यानी पत्नी के मृत पति की चिता पर जल मरने के पीछे भी है। कम से कम प्रारम्भ में तो इसे स्वेच्छापूर्वक ग्रहण नहीं कर लिया गया। धार्मिक आदेशों से उन स्त्रियों के ऊपर जाति बहिष्कार के दंड लादे गए, जिन से मजबूर हो कर बहुत सी स्त्रियों ने ऐहिक प्रतारणाओं व कष्टों से जान छुड़ाने के लिये पति के साथ साथ जल मरना ही अच्छा समझा। एक ऐसे समाज में, जहाँ लड़कियों को दस वर्ष की आयु के भीतर ही भीतर ब्याह दिया जाता

हो, विधवाओं की संख्या विवाह योग्य कन्याओं से भी बढ़ जाने की पूरी पूरी संभावना थी। धर्म के लिये और किसी तरह उन के पतिव्रत धर्म को कायम रखना मुश्किल हो गया, सिवा इस के कि उन के विरुद्ध आत्मबलिदान की डिग्री जारी कर दे या जन्म भर के लिये एकांतवास की दण्ड व्यवस्था करे। प्रथम विकल्प मूर्खता से अधिक बचा हुआ था, इसलिये धर्म ने इसी के पक्ष में निर्णय दे दिया। जीवन की तात्कालिक अवस्थाओं में (अब भी दशा कुछ सुधरी नहीं है) इन युवा स्त्रियों के विशाल बहुमत के लिये अपने पति की मृत्यु को विवाह के अत्याचारपूर्ण बंधन से छुटकारा पाने का साधन समझ लेना स्वाभाविक था, और यदि सती की प्रथा न होती, तो वे समाज और उस के द्वारा स्थापित रीतिनीति के लिये समस्यायें ही बनी रहतीं। सती प्रथा के विलीन हो जाने के बाद भी धर्म ने चैन नहीं लिया, बल्कि उस के स्थान पर उस ने अगला विधान स्त्रियों की सुन्दरता को हर लेने के रूप में प्रस्तुत किया। उन के सिर मूंड दिए जाने, उन्हें अच्छे वस्त्राभूषण और भोजन न दिये जाने, साधारणत: उन्हें अनाकर्षक और घृणित बनाए रखने की व्यवस्था की गई। ये धारायें उस विधान की धाराओं में से कुछ ही हैं। अधिकांश कार्यों और निर्देशों में धर्म ने आत्मा को उभारने की अपेक्षा उसे मार डालने का ही ढंग अपनाया है और यह केवल हिन्दू धर्म की ही नहीं, बल्कि अन्य सभी ज्ञात धर्मों की मूल प्रकृति है।

सती प्रथा के धार्मिक प्रचलन की एक और भी वजह है। स्त्री पर लादी गई विषमताओं में और धार्मिक रूप से पवित्र स्थाई विवाह संबंधों के कारण असहनीय बन जाने वाले उस समय के प्रेम जीवन में यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि बहुत सी स्त्रियां अपने पतियों को ज़हर दे दें। उस समय की संभ्रांत स्त्रियों द्वारा विष को अस्त्र के रूप में प्रयोग करने का तरीका व्यापक रूप में अपना लिया जाना कौटिल्य के अर्थशास्त्र के निम्न उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है :

"रानी के कक्ष में छिपे राजा भद्रसेन के सहोदर ने ही उस की हत्या कर डाली। अपनी मां के पलंग के नीचे छिपे राजा करुष के बेटे ने ही उस का बध किया। चावलों में शहद के स्थान पर विष मिला कर काशीराज की रानी ने ही उसे मार डाला। अपनी पाजेब में विष लगा कर राजा वैरात्य की रानी ने उसे स्वर्गधाम पहुंचाया। अपनी कमरपेटी के विषबुझे हीरे से राजा सानवीर की रानी ने उसे समाप्त कर दिया। मुंह देखने के शीशे में जहर लगा कर राजा जालुधा की रानी ने उस की इहलीला समाप्त कर डाली। और अपने बालों के जूड़े में अस्त्र छिपा कर राजा विदुरथ की रानी ने उस का कल्याण कर डाला।" सती प्रथा से स्त्रियों के अपने पतियों

को मार डालने की संभावना बहुत कम थी क्योंकि यदि वे ऐसा करें, तो उन्हें स्वयं भी पति के साथ साथ जलती चिता पर चढ़ना पड़े।

वेदपाठों में प्रक्षेपण और उन की गलत टीकायें कर के सती प्रथा के लिये धार्मिक स्वीकृति प्राप्त की गई। इस प्रथा का पालन अत्यधिक क्रूर था और चेहरे पर बिना एक शिकन तक डाले हिंसात्मक उपायों से इसे पूर्ण किया जाता था। राजा राममोहनराय ने सती प्रथा के विलीनीकरण के लिए दिए गए प्रार्थनापत्र में लिखा कि ऐसे कितने ही उदाहरण हैं, जिन में स्त्रियां चिता के ऊपर जबरदस्ती धकेल दी गई और वहां उन्हें हरे बांसों से तब तक दबाए रखा गया, जब तक कि वे जल कर खाक न हो गईं। कुछ चिताओं में से कूद कर भागीं, तो उन के संबंधियों ने फिर उन्हें चिता में धकेल दिया और जला कर मार डाला।" सन् १८२९ ई० में सती प्रथा के विलीन होने से पहले चिताओं पर इस प्रकार जला कर मार दी जाने वाली स्त्रियों की संख्या कूतना असंभव है।

इन सब बातों से प्रकट होता है कि विश्वास सतीत्व को बचाने के लिए अपर्याप्त समझा जाता था। क्रिश्चियनों ने चतुरतापूर्ण सतीत्व-पेटियों का का आविष्कार किया और मुसलमानों ने अपनी औरतों को लोगों की नजरों से छिपा कर बुर्कों के भीतर रखा। पादरियों ने मंच के ऊपर से उपदेश दिया कि मनुष्य का पतन स्त्री के कारण ही हुआ और स्त्रियों को अपने अस्तित्व तक के लिए लज्जित होना चाहिए। इन उपदेशों से प्रभावित साधारण लोग औरतों का शिकार करने निकल पड़े और उन्हें जादूगरनियां घोषित कर कर के जिंदा जलाने और मारने लगे। धर्माधिकारी उस समय भी घंटे बजाते रहे, आयतें पढ़ते रहे और विवाहों को सम्पन्न कराते रहे, जैसे एक लम्बी झाड़ू से वे इन तमाम विषमताओं का सफाया कर देंगे।

● ● ●

एकपत्नीत्व

एकपत्नीत्व सभ्यता की अनिवार्य उपज है। साथ ही एकदम इस परिणाम पर भी नहीं कूदा जा सकता कि यह एक सभ्य संस्था है, यानी सामाजिक परिष्कृति के सर्वोच्च शिखर का प्रतिनिधित्व करती है। यहीं पर वेस्टरमार्क ने भूल की। एकपत्नीत्व सभ्यता की उपज है इस पर समाज विज्ञान और मानव-शरीर-रचना-विज्ञान सहमत प्रतीत होते हैं। डाक्टर वेस्टरमार्क भी इसे मानते हुए कहते हैं कि एकपत्नीत्व नैतिक नवजागृति के लिहाज से उत्तम होने की अपेक्षा स्वाभाविक व प्राकृतिक रूप से ही अच्छी चीज है। इस से किसी को सहज ही संदेह हो सकता है कि वेस्टरमार्क सभ्यता शब्द की अध्यात्मवादी परिभाषा की रौ में बह गए और अपने इसी अध्यात्मवादी विश्वास की रक्षा के लिये वह उपरोक्त परिणाम पर पहुंचने के लिए बाध्य हुये।

यह दिखाने के लिये कि एकपत्नीत्व जिस प्रकार मानवीय संस्था है उसी प्रकार पशु—स्वभाव भी है, डाक्टर वेस्टरमार्क ने पशुओं के व्यवहार के उदाहरण देने में काफी सिर-दर्द मोल लिया। उन्हीं के अनुगामी मेलिनोवस्की महोदय यह परिणाम निकालते हुये उनका समर्थन करते हैं: "केवल परिवार ही एक ऐसी संगठन प्रणाली है, जो मानव अपने पशु-स्तर से अपने साथ लाया है।" लेकिन मानव और पशु के बीच का अंतर निश्चित करते हुए वह अपने ही तर्क की धज्जियां उड़ा देते हैं, जिस में आदिम प्राणियों में मिलनऋतु की सार्वभौमिकता और मनुष्यों में उस के अभाव की चर्चा है। यद्यपि वेस्टरमार्क स्वयं इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करते और इस सीमा तक पहुंच जाते है कि आदिम मनुष्यों में पाई जाने वाली लैंगिक स्वच्छंदता 'अन्य पशुओं के समान आदिम मनुष्यों में मिलने वाली मिलनऋतु प्रवृत्ति का' ही अवशेष है। स्तनपायी प्राणियों और मानव के पारिवारिक व्यवहार के सम्बन्ध में वेस्टरमार्क के अधिकाँश उदाहरणों का बडे बड़े प्रकृतिशास्त्रियों की ओर से जोरदार खंडन हो चुका है। दरियाई घोड़े, ह्वेल मछली, सील और हाथी जैसे सभी प्राणी स्वच्छंद लैंगिक व संघीय जीवन व्यतीत करते हैं। पशुओं में कुछ ही ऐसे हैं, जो जोड़ों में रहना पसंद करते हैं। यदि बंदरों और बनमानुषों की लैंगिक चर्या का निरीक्षण किया जाये, तो मिलनऋतु सम्बन्धी उनका उपरोक्त अन्तिम विचार भी आधारहीन प्रमाणित होता है। इस निरीक्षण

से प्रकट होता है कि [1]"नारी मिलनऋतु के कथित नियम का पालन नहीं करती, बल्कि हर समय नर को स्वीकार करती है। नर किसी भी कुमारी या वयस्क नारी से आकर्षित हो जाता है, और स्त्री जाति के सांप, कुत्तों और मानव अवयस्कों में भी दिलचस्पी रखता है। इस दृष्टिकोण से भी मानव का दरजा पशु से ऊंचा मानने के लिये कहीं कोई स्थान नहीं रह जाता, क्यों कि जिन प्रवृत्तियों को मानवीय कहा जाता है वे आदिम मनुष्यों से भी पीछे जा कर पशु संसार में बहुत दूर तक मिलती हैं।

अपने सिद्धांत का प्रतिपादन करने में डाक्टर वेस्टरमार्क ने आदिम मनुष्यों में एकपत्नीत्व का रवाज दिखाते हुये विभिन्न भारतीय जातियों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इन के व अन्य उदाहरणों के सम्बंध में ब्रिफाल्ट के पूर्ण व सुलिखित प्रतिवादों का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है :

[2]"डाक्टर वेस्टरमार्क भारत की जातियों में से एक दर्जन उदाहरण भी ऐसे देने में सफल नहीं हो सके, जिन के बारे में एकपत्नीत्व पालन करने की बात उन्हों ने कही। इन्हीं जातियों में खासी लोग हैं। मि० गेट कहते हैं : "मैं ने एक शिक्षित खासी से बातें की, तो उस ने मुझे विश्वास दिलाया कि बहुपत्नीत्व उन के लिये कतई भी अनजानी चीज नहीं है। पहले तो किसी खासी के लिये यह बड़े गौरव की बात समझी जाती थी कि बहुत सी पत्नियों से उस की संतानें हों।" (ई० ए० गेट, भारत की जनगणना, अंगरेजी, खंड १, पृष्ठ १९९)। भारतीय एकपत्नीत्व के एक और उदाहरण स्वरूप रखे गये नागाओं में भी : "बहुपत्नीत्व अत्यन्त साधारण बात है, और केवल लोगों के व्यक्तिगत साधनों के अनुसार ही उन की पत्नियों की संख्या सीमित रहती है।" (जे० मिक्सविने, आसाम, भारत की जनगणना, अंगरेजी, खंड ३, पृष्ठ ७९)। आदरणीय एस० इन्डेल भी, जो अपने धर्म क्षेत्र में रहने वाले आदिवासियों का एक आदर्शपूर्ण परिचय देते हैं, उन में एकपत्नीत्व होने का दावा नहीं करते, बल्कि वही सामान्य कथन दोहराते हैं कि बहुपत्नीत्व साधारणतः प्रचलित नहीं है, केवल खातेपीते लोगों में चलता है। (एस० इंडेल, 'कछारी', पृष्ठ ३०)। इस से हल्का एक और कथन मिलता है : "वे अपनी प्राकृतिक भूख पर किंचित ही प्रतिबंध रखते हैं।"

नोट :— यह प्रसंग ई० वेस्टरमार्क की पुस्तक 'मानव विवाह का इतिहास' का है।

१. जर्नल आफ अमेरिकन एनीमल बिहेवियर, खंड ४, अक्तूबर १९१४।

२. राबर्ट ब्रिफाल्ट, 'माताएं'।

(दी इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया, खंड ४, पृष्ठ ४४) । जिन मिकिर लोगों के बारे में डाक्टर वेस्टरमार्क ने एकपत्नीक होना लिखा है उन के बारे में मि० स्टाक बडी तत्परता से उन के एक परिचयात्मक लेख में लिखते हैं कि वे बहुपत्नीक हैं । (ई० स्टाक, 'मिकिर लोग', अंगरेजी, पृष्ठ १६) । कूकियों को पहले तो 'कट्टर एकपत्नीक' बताया गया जो बाद में दूसरे सभी लोगों के बयानों से खंडित माना गया । इस के बाद यह दावा पुराने कूकियों के साथ जोड़ा गया कि 'बहुपत्नीत्व तथा उपपत्नियों का रखना उन में कठोरता के साथ वर्जित है,' और अन्त में, 'उन में से कुछ ही लोगों में' रह गया ।' इस शेष में, कर्नल शेक्सपीयर के अनुसार, कोहलन कबीला आता है, जिस की लैंगिक उदारता उन में सेक्स-स्वच्छंदता की स्पष्ट परिचायक है । (जे० शेक्सपीयर, 'लुशी कूकी कबीला', अंगरेजी, पृष्ठ १५५, १६६) । लुशाई हिल के भूतपूर्व सुपरिन्टेन्डेन्ट कहते हैं कि उन लोगों में बहुपत्नीत्व 'असाधारण' सा है । केवल सरदार लोग आम तौर पर मुख्य पत्नियों के साथ साथ दो दो या तीन तीन उपपत्नियां रखते हैं । (एच० डबल्यू० जी० कोल, 'लुशाई', अंगरेजी, १९११, खंड ३, पृष्ठ १३९) । मि० स्टुअर्ट के अनुसार दक्षिणी मलाबार के नयाड़ी और कावरा लोग, जिन्हें डा० वेस्टरमार्क ने कट्टर एकपत्नीक बताया है, 'स्पष्टत: एक ऐसी अवस्था से उभरे हैं जिसे यौन स्वच्छंदता से अलग करना मुश्किल है । वे 'तलाक की भारी स्वतन्त्रता रखते हुये एकपत्नीक हैं ।' (एच० ए० स्टुअर्ट, भारत की जनगणना, १८९१, खंड १३, पृ० १५१) ।

युग्म परिवार से एकपत्नीक परिवार में संक्रमण स्त्रियों की बिना पर हुआ, ताकि पूंजीवाद और श्रम विभाजन से जो आर्थिक स्वतन्त्रता का हनन हुआ था, उस के बदले उन्हें कुछ सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जा सके । उन के कार्य करने का एकमात्र क्षेत्र घरेलू परिश्रम था, जिस के साथ कोई आमदनी जुड़ी हुई नहीं थी । हां, परिवार का मुखिया घर चलाने के लिये जो कुछ देता था वह आमदनी जरूर थी । बिना एकपत्नीत्व पर जोर दिये स्त्रियों के पास उन बुढ़ापे के दिनों के लिये कोई सहारा नहीं रह जाता था, जब कि उन के तमाम यौन आकर्षण समाप्त हो चुके होते, क्योंकि लोगों को अपनी पुरानी पत्नियों की अपेक्षा अधिक आकर्षक युवा संगिनियों को चुन लेने की स्वतन्त्रता थी । यदि स्त्रियां अपने ऊपर पतिव्रत धर्म लागू करती थी, तो वह केवल इसलिये कि वे उदाहरण रख सकें और आत्मोत्पीड़न के द्वारा अपने स्वामियों की सहानुभूति प्राप्त कर सकें । दासता में जब इस बात का पक्का विश्वास हो जाता था कि स्वतन्त्रता के लिये कोई भी प्रयत्न बेकार रहेगा, तब अपने कष्टों को कम करने का मात्र यही तरीका रह जाता था

कि अपने भीतर आज्ञाकारिता की आदत पैदा की जाए। आर्थिक स्वाधीनता से हीन नारियों के पास पुरुषों की दृष्टि में ऊंचा उठने का सिवा इस के कोई हथियार नहीं था कि वे आत्मत्याग की महानता दर्शा कर अपने उत्पीड़न से ही थोड़ी बहुत पूंजी बना लें।

दासता और एकपत्नीक विवाह जीवन-साथी हैं। खेतीबाड़ी और पशुपालन द्वारा प्रारम्भिक वस्तुओं में जो धन की बढ़ोतरी होने लगी उस से परिवार और जाति के संगठनों के भीतर नवीन शक्तियों का विकास होना आरम्भ हुआ। परिवार के पूर्व संगठन में तो संपत्ति का मालिक परिवार का मुखिया होता था और क्योंकि वंश माता की ओर से चलता था, स्त्रियां सम्पत्ति के व्यय में भारी हाथ रखती थीं। नई अवस्थाओं में बढ़ी हुई संपति पुरुषों के हाथों में सिमटती चली गई, जिस की प्राप्ति और व्यवस्था में उन्हें उस प्रकार स्त्रियों के सहयोग की आवश्यकता नहीं रह गई थी, जैसे प्रारंभिक आखेट युग में रहती थी। संपत्ति के एकत्रीकरण के साथ दूसरे लोगों को युद्ध या बंदीकरण से दास बना कर और उन से विजयी पक्ष के लिये खेती करा कर उस संपत्ति को बढ़ाने के साधन खोजे गये। पहलेपहल स्त्रियां दास बनाई गईं, जिन से उन मेहनत के औजारों में, जो पहले से ही पुरुषों के हाथों में थे, और बढ़ोतरी हो गई।

संपति के ऊपर जो निर्विवाद अधिकार पुरुष चाहता था उस में माता का अधिकार एक बाधा थी। मातृसत्ता की सार्वभौमिक प्रथा के स्थान पर पितृसत्तात्मक वंशानुगमन स्त्रियों की दासता में सब से महत्त्वपूर्ण पग था। जब यह सुदूरगामी क्रान्ति अस्तित्व में आ गई, तो स्त्रियों के पास उसे चुनौती देने का कोई भी साधन नहीं रहा, क्योंकि उस समय तक संपत्ति के साधन पुरुषों के हाथों में आ गये थे। इस संक्रमण के बारे में एंगेल्स का कथन है : "मातृसत्ता का उन्मूलन स्त्री सेक्स की विश्व-ऐतिहासिक पराजय थी। पुरुष ने घर की सत्ता भी अपने हाथों में ले ली। स्त्री को हीन बना कर उसे सेविका का पद दिया गया। वह उस की वासना की दासी और सन्तानोत्पत्ति का औजार बन कर रह गई।"

कठोर एकपत्नीत्व का स्त्रियों ने चाहे जितनी सख्ती से पालन कराना चाहा हो, पुरुषों ने कभी इस प्रथा को अपने मुंह नहीं लगने दिया। पुरुष बराबर बहुपत्नीत्व का उपभोग करते रहे। प्रारम्भिक चरणों में तो पुरुष एक से अधिक पत्नियां स्वीकार करता रहा, किंतु बाद में धार्मिक नीतिशास्त्र के जोर से वह एक स्त्री को वैधानिक पत्नी की तरह रखता और अन्य स्त्रियां उस की उपपत्नियों या स्वामी की प्रसन्नता पर आश्रित दासियों की तरह रहने लगी। भारत में क्योंकि धर्म ने एक से अधिक पत्नियां रखने के लिये

पुरुषों पर कभी प्रतिबन्ध नहीं लगाया, सो यहां आज तक भी पुरुष जितने चाहे उतने विवाह कर सकता है। फिर कठोर एकपत्नीत्व स्त्रियों पर बराबर लागू रहा। तमाम धर्मशास्त्रों में सतीत्व को सभी गुणों से ऊपर चढ़ा दिया गया। सतीत्व को पवित्रता का चिह्न करार दिया गया, यद्यपि पुरुषों का चाहे जितनी स्त्रियों से सहवास हो जाए उसकी पवित्रता पर हरफ नहीं आता। यही वह बात है जिस में सेक्स और पवित्रता के विचार में किसी प्रकार का सम्बन्ध केलव बहकावा प्रतीत होता है।

एकपत्नीत्व का सीधा परिणाम एक ऐसे पूर्ण पैमाने पर सेक्सों के अलगाव के रूप में हुआ, जहां अब तक लाख कोशिश करने पर भी नहीं पहुंचा जा सका था। स्त्रियों को प्रवेशद्वार से दूर घर के एक कोने में बंद कर दिया गया, जहां उसी परिवार के दूसरे व्यक्तियों तक को जाने की मनाही थी। धनी लोगों ने जनखों, कुत्तों और दासों को उन पर तैनात कर दिया, ताकि दूसरे लोग उनके सतीत्व का अपहरण न कर सकें। बाहर जाते समय उन्हें उसी परिवार के पुरुषों अथवा दासियों को साथ लेना पड़ता था। परिवार के भीतर भी वे कुछ पुरुषों से ही सीधी बोलचाल रख सकती थी, जो सम्बन्ध की श्रेणी पर आधारित रहता था। ये अवरोध इस प्रकार आयोजित किए गये थे कि अतिरिक्त सेक्स सम्बन्ध पूर्णत: निषिद्ध हो गए। यह रीति आज भी भारत के पुरातनपंथी परिवारों में चली आती है कि स्त्रियां पुरुष सम्बन्धियों से या तो किसी को बीच में रख कर बोलचाल सकती हैं या घूंघट निकाल कर और दीवार अथवा परदे की आड़ से। ये सभी रवाज उस समय की याद दिलाते हैं, जब अपनी संगिनी पर पुरुष का अधिकार, अन्य पुरुषों द्वारा हनन किए जाने के भय से, ईर्ष्यापूर्वक बचा कर रखा जाता था, और इन विधिनिषेधों की कठोरता पूर्णत: इस तथ्य को सिद्ध करती है कि स्त्रियों ने इन शर्तों को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार नहीं कर लिया होगा। अवश्य ही इन कठोर आचरण के नियमों की बहुत सी अवहेलनाएं हुई होंगी और स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति पर्याप्त देख-भाल के साथ विनष्ट की गई होगी। धार्मिक आदेश और नैतिक विचारों को इस देखभाल की सहायता के लिये संघटित किया गया।

एकपत्नीत्व को व्यक्तिगत यौनप्रेम का विकसित रूप बताना पुराण बघारना है। इन एकताओं में कभी आपसी पसंद या प्रेम का विचार तक प्रकट नहीं हुआ क्योंकि ये विवाह लड़कियों को बचपन में ही निश्चित कर के, या सम्पति के लिये उत्तराधिकारी प्राप्त करने के लिये बहुत सी उपयुक्त कन्याओं में से खरीद कर या इच्छानुसार पसन्द कर के ही किये गये। आपसी आकर्षण अथवा प्रेम के लिये यह अवस्था सहायक नहीं

है। एकपत्नीत्व को उस युग्म परिवार का ही एक विभेद बता कर, जिस में एकता को सम्बन्धित अथवा विच्छिन्न करने का अधिकार दोनों पक्षों को रहता था, गलतफहमी में डालने का यही अर्थ हो सकता है कि एक ऐसी संस्था को अच्छी नजर से देखने के लिये बंदिश बांधी जाये, जो अन्य किसी भी प्रकार प्रशंसा के योग्य नहीं है।

एकपत्नीक विवाह के साथ सेक्सों के बीच एक ऐसे संघर्ष का सूत्रपात हुआ, जो मानवीय संबन्धों के पूर्व इतिहास में नहीं मिलता। यद्यपि यह संस्था प्राकृतिक अथवा शरीरशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रतिकूल है, किन्तु फिर भी यह केवल इसी लिये सफल हो सकी कि इस से जबरदस्ती के श्रमविभाजन को लागू कर के प्राकृतिक उपादानों का शोषण करने की प्रेरणा मिलती थी। [1] "इतिहास में प्रथम श्रेणी का विरोध एकपत्नीक विवाह में स्त्री और पुरुष के क्रियाशील विरोध के विकास के रूप में और प्रथम श्रेणी का दमन पुरुष द्वारा स्त्री-सेक्स के दमन के रूप में मिलता है। एकपत्नीक विवाह आगे की ओर एक विशाल ऐतिहासिक पग था, बल्कि दासता और व्यक्तिगत संपति को ले कर तो यह आज के दिन तक भी चलता चला आ रहा है, जिस में हर आगे बढ़ने वाला कदम सापेक्षत: एक पग पीछे हट रहा है, जिस में एक व्यक्ति की समृद्धि व विकास अन्य व्यक्तियों की दीनता और हीनता के बल पर प्राप्त किए जाते हैं।"

एकपत्नीक विवाह में लैंगिक प्रेम का जो रूप दिखाई देता है वह असम्बन्धित स्त्री के लिए पति का प्रेम और चोरीछिपे से उपस्थित प्रेमी के लिये पत्नी का प्रेम है। इसी लिए आदर्शवादी प्रेम व रोमाँस के अर्थ विशेषत: वे सम्बन्ध हैं, जो वैधानिक विवाह के दृष्टिपथ से बाहर जा कर पड़ते हैं। इस युग की कविता, कला और कहानी चोरीछिपे के प्रेम के प्रति रहने वाले अनुराग की परिचायक हैं और यदि इस युग में कोई बहुमूल्य काव्य निर्मित भी हुआ है, तो वह इन दो प्रकार के प्रेम के इर्दगिर्द ही घूमता है।

दुराचरण के सार्वभौमिक प्रचलन ने धर्म को तलाक के विरुद्ध डिग्री जारी करने के लिये मजबूर कर दिया। बिना इस के लागू किए यह संदेहास्पद ही है कि एकपत्नीक विवाह टिक भी सकता या नहीं। यदि समाज ने तिरस्कृत पत्नी के आश्रय के लिये कोई द्वार खुला नहीं छोड़ा, तो कम से कम सार्वजनिक वेश्यावृत्ति के पैरों में बेड़ियाँ तो नहीं पड़ीं। इस द्वार से एकपत्नीत्व के ऊपर बराबर कटु आघात पड़ते रहना तभी स्वीकार किया जा सकता था, जबकि वह उसी चोरीछिपे की राह चलता रहता,

१. एंगेल्स : 'परिवार की उत्पत्ति'।

जिस राह उसकी सहोदर संस्थाएं, विस्तृत दुराचरण और रखैल प्रथा चल कर मान्यताए पाए हुए हैं।

वेश्यावृत्ति एक आवश्यक भलाई ख्याल की जाती थी और अब भी की जाती है। यह पूर्णतः एक सार्वभौमिक विश्वास है कि यदि सम्मानित स्त्रियां और अविवाहित कन्याओं की नैतिकता की रक्षा अपेक्षित है, तो इस नैतिकता की कैद से बाहर भारी संख्या में स्त्रियों के रहने की आवश्यकता है। इस दृष्टिकोण का सब से महत्त्वपूर्ण पुष्टिकरण बर्नार्ड डी मैनडेविल के इन शब्दों में हुआ है : "इस सत्य का प्रमाण कि वेश्यावृत्ति एक अनिवार्य एवं मूल्यवान प्रवृत्ति है स्त्रियों की इस सूक्ति में निहित है कि कुमार्गगामी अधिकतर विवाहित पुरुष ही होते हैं।"

राज्य भी एकपत्नीत्व के बचाव में, उसे निष्क्रिय न होने देने के लिये बराबर आंखें चुराता रहा, ताकि वे असन्तुष्ट लोग, जो आर्थिक स्वतन्त्रता और इसके विरोध को तर्कसम्मत अन्त तक पहुंचाने का मानसिक साहस रखते हैं, इसे भीतर ही भीतर पलीता लगा कर न उड़ा डालें।[1] 'वेश्यावृत्ति की ओर तथाकथित नैतिक व्यवहार से आर्थिक कारण कहां तक संलग्न है इस के प्रमाणस्वरूप हेनरी द्वितीय के काल का यह कानून अत्यंत ज्ञानवर्द्धक है : 'किसी पुरुष के साथ सोने के बदले कोई भी स्त्री तब तक धन लेने की अधिकारिणी नहीं है, जब तक कि वह उस के साथ अगली सुबह तक रात भर न सोई हो।' यह आज्ञा साधारण सभा से पास हो कर लार्ड सभा तथा राजा से स्वीकृत हुई थी। यह आदेश वेश्यावृत्ति की ओर राजकीय व्यवहार को सूचना देता है, जिस में काम लेने वाले और देने वाले दोनों व्यक्तियों के प्रति कृतज्ञता की स्पष्ट स्वीकारोक्ति प्रकट होती है।"

तमाम राज्यों के शासन में राजनर्तकियों की शक्ति एक प्रधान शक्ति रही है। कानून और धर्म उसे वह स्वाधीनता प्रदान करते थे, जो उसकी दूसरी विवाहिता बहनों को प्राप्त नहीं थी। उसे अपनी रोजी आप कमाने की, अपने मस्तिष्क और आकर्षणों को विकसित करने की तथा अपने जीवन को स्वेच्छापूर्वक व्यतीत करने की स्वतन्त्रता थी। यह बात प्रारम्भिक एथेनियन या यूनानी नगर-वधुओं के बारे में तथा भारत व अन्य किसी भी देश के गांवों और नगरों में उनके आधुनिक प्रतीकों के बारे में भी उतनी ही सच है। सन् १७२७ ई० में अंग्रेजी में एक पुस्तक इस नाम से निकली : 'जन-वेश्यालयों के सुरक्षा-हित एक नम्र निवेदन'। संभवतः

१. वी० एफ० कालवर्टन, 'विवाह का दिवालियापन'।

इस से भी पहले भारत में दामोदर गुप्ता ने अपनी 'कुट्टणीमत्थम' (एक कुटनी की शिक्षायें) और क्षेमेन्द्र ने अपनी पुस्तक समयमात्रिक (वेश्या की धार्मिक सेवाओं की डायरी) लिखीं। नगरवधू की उच्च मान्यता का सीधा परिणाम विवाहिता पत्नी के मानसिक पतन के रूप में सामने आया, जो बचपन के प्रारम्भ में ही मां के संरक्षण से सास के संरक्षण में धकेल दी जाती थी और वह उसकी शारीरिक व मानसिक वृद्धि को कुचल कर उसे घरेलू सेविका की अवस्था तक ला पटकती थी। पुरुष को अपनी पत्नी में अपना स्तर नहीं मिलता था और वह संसर्ग के लिये नगरवधू की शरण ले लेता था।

औद्योगिक क्रान्ति तथा साधारण नागरिकों की बढ़ती हुई दीनता के साथ नगरवधू की अवस्था भी बिगड़ने लगी। औद्योगिक नगरों और उनकी विशाल जन-संख्या के साथ साथ वह भी आर्थिक शोषण के भंवर में फस गई और अंत में सार्वजनिक वेश्या मात्र रह गई। धर्म और नीति की कठोर शिक्षाओं ने उस के साथ संसर्ग रखने को दूषित बताना आरम्भ कर दिया और वह और भी अधिक पतन के गड्ढे में धंसती चली गई। शारीरिक स्पर्श का आनन्द लूटने के अतिरिक्त अब कोई बिरला ही उस के साथ सम्पर्क रखने का खतरा मोल ले सकता था। चूंकि उस की बुद्धि का विकास होने की अब कोई सामाजिक आवश्यकता नहीं रह गई, उस की तमाम कला और कौशल तन का प्रदर्शन करने के इर्दगिर्द केन्द्रित हो गए, जिस से शरीर को सजासंवार कर वह लोगों की कामुकता की ज्वाला को भड़का सके। नगर की असुरक्षा और सघन जीवन में उसे कुटनों की शरण लेनी पड़ी, जो पहले तो उस के व्यापार-व्यवस्थापक का काम करते रहे और धीरे धीरे उसे काम पर लगाने वाले स्वामी बन बैठे। सामाजिक प्रगति में व्यक्तिगत वेश्यावृत्ति से स्त्रियों की व्यापारिक वेश्यावृत्ति तक की पृष्ठभूमि स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

प्रत्येक नगर और प्रांतीय कस्बों में आज ऐसे क्षेत्र और गलियां हैं, जहां स्त्रियों की चमड़ी बिकने का साइनबोर्ड लगा है। बड़े बड़े धुरंधर व्यापारी इन दीनता और सामाजिक निष्कृति के भाग्यहीन शिकारों के स्वामित्व पर पूर्ण एकाधिकार रखते हैं। अधिकतर मामलों में वे स्त्रियां रंगरूट बनती हैं, जो या तो जवानी में ही विधवा हो गई हों या जीवन के प्रारम्भ में ही अपने दुर्भाग्य पर एक धब्बा ले कर अनाथ बन गई हों। भारतीय समाज में विधवाओं के प्रति जो व्यवहार होता है वह मध्ययुगीन यूरोप में उन जादूगरनियों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार से भिन्न नहीं है, जो दुर्भाग्य लाने वाली और अपशकुन का चिह्न समझी जाती थी। यद्यपि सामाजिक

स्वास्थ्य सभाओं और व्यवस्थापिकाओं के अग्रगामी विचारों से इस का कोई संबंध नहीं, किंतु बहुत से नगरों में स्त्रियों का तन-विक्रय म्युनिसिपैलिटी व पुलिस के विधान से नियमित होता है। क्रिश्चियन मिशनरियों तथा पुरानी पीढ़ी के दकियानूस गृहस्वामियों द्वारा उन प्रयत्नों को सहायता भी मिलती है, जो स्त्रियों के सामूहिक विक्रय-व्यापार को रोकने में लगे हुये हैं, किन्तु उस का प्रभाव यह पड़ा कि एक दूसरे दृष्टिकोण से हानिरहित बुराई होते हुये भी यह साधारण नागरिकों को ब्लैकमेल करने का सब से बड़ा साधन बन गया है, जिस में प्रकांड साहसी और अपराधी दलबंद लगे हुये हैं। छिपे तौर से वेश्यालय अनुभवी और खतरनाक दुराचारियों द्वारा संचालित होते हैं। वे अपराधों के अड्डे बन गये हैं और दवाओं व नशीली वस्तुओं के अवैध व्यापार वहां से सम्पन्न होते हैं। अधिकृत रूप से वर्जित होते हुए भी इस व्यापार में उन पुलिस तथा जन-अधिकारियों का मुंह बंद रखने के लिये यथेष्ट धन है, जो नकद लाभ के लिये इस बुराई को नीचे ही नीचे चलने देने के लिये बराबर प्रोत्साहन पाते रहते हैं।

बिना एकपत्नीक विवाह का आधार बदले तथा वर्त्तमान नैतिक विचारों में परिवर्तन लाये वेश्यावृत्ति को दबाने के सभी प्रयत्नों का विफल हो जाना अनिवार्य है। कुछ नगरों से 'खतरनाक क्षेत्रों' के पूर्णत: हटा दिए जाने के कारण यौन संबंधी रोगों में जो तात्कालिक कमी की सूचनायें मिली हैं उन्हें इस तर्क के रूप में उपस्थित किया जा रहा है कि वेश्यावृत्ति को कुछ क्षेत्रों में सीमित कर देने और स्वास्थ्य परीक्षा की एक प्रणाली अपना लेने के वेश्यावृत्ति संबंधी नियम को एक पूर्ण सामूहिक दमन की नीति के रूप में बदल दिया जाए। सामाजिक स्वास्थ्य समितियां इन यौन संबंधी रोगों की सूचित कमी की अल्पकालिक प्रवृत्ति को नहीं पहचान पा रही हैं। पहली बात तो यह है कि किसी भी बुराई का दमन करने में जो अधिकृत सूचनायें दी जाती हैं वे कुछ ही मामलों तक सीमित रहती हैं। लेकिन इस से यह सिद्ध नहीं होता कि रोगों की अन्य घटनायें भी इस के साथ साथ कम हो रही हैं, क्योंकि अधिकांश केस गुप्त रूप से होते हैं और बहुत से केस खुल जाने की लज्जा के कारण बिना परीक्षा के ही गुजर जाते हैं। दूसरी तरफ, बलपूर्वक दमन इस व्यापार के और भी भयंकर अवस्थाओं में पनपने की संभावना उत्पन्न कर देता है, जिस की छूत इस कदर फैल सकती है कि उस के कारणों को बस में रखने का राज्य के पास कोई साधन ही नहीं रह जाएगा। अपने आप को यह तसल्ली देना कि छूत के कीड़ों को भी इसी प्रकार दमनपूर्ण कार्यों से नष्ट कर दिया जायेगा, शुतुर्मुर्ग की तरह रेत में अपना मुंह छिपाना है। इस बारे में जॉन डेवी के इन शब्दों की याद दिलाना असंगत न होगा:

[1]"दमन ही पूर्ण विनाश [1] नहीं है। 'मनोवैज्ञानिक' शक्ति अब विनष्ट होने वाली नहीं रह गई है, जैसे वे रूप नष्ट हो जाते हैं, जिन्हें हम शारीरिक कहते हैं। यदि न तो इसे फूटने दिया जाये और न ही परिवर्तित किया जाये, तो वह भीतर की ओर ही मुड़ कर गुप्त जीवन बिताने लगती है।" सामाजिक स्वास्थ्य समितियों की हिदायत के मातहत वर्तमान प्रसंग में बिना आधारभूत कारणों का उपचार किये वेश्यावृत्ति के सामूहिक दमन का दूरवर्ती परिणाम यह होगा कि अप्राकृतिक मैथुन और मास्टरबेशन आदि यौन अपराधों की संख्या में वृद्धि हो जायेगी और शराब व अन्य जहरीली वस्तुओं का व्यापार बढ़ जाएगा। बहुत अधिक संख्या में लोग इस बुराई से हटने की अपेक्षा सिर के बल इस में कूद पड़ेंगे, जिस में संभवतः अधिक धन और समय का दुरुपयोग होगा और व्यक्तिगत खतरे बढ़ जाएंगे। वे लोग जो अपनी अनुभूतियों को संतुष्ट करने तथा उन्हें भूल जाने में कम समय लेते, तब दुराचार की ओर अधिक ध्यान देने लगेंगे, और वर्जित प्रदेश में, चोरीछिपे ही सही, घुसने के लिये सदा अवसर की ताक में लगे रहेंगे। जिन लोगों को अवसर भी नहीं मिलता और न ही उनके पास इतना धन, समय, और मानसिक साहस होता उन में स्नायुविक रोगों के चिह्न प्रकट होने लगते हैं।

पुराणपंथी आदर्शवाद और धार्मिक भक्ति किसी व्यक्ति को अच्छा सामाजिक विज्ञानवेत्ता बनाने में कोई सहायता नहीं पहुंचाते। सामाजिक स्वास्थ्य समितियां और व्यवस्था समितियां दकियानूसी दिमागों, धार्मिक रूढ़िवादियों, पुराने और कमजोर सेक्स-स्नायुओं से ग्रस्त लोगों के शरणस्थल हैं, जिनके सामाजिक विचार स्पष्ट दृष्टि तथा अनुत्तेजित तर्कशक्ति की अपेक्षा बदले की भावना से ही अधिक निर्दिष्ट होते हैं। इन संस्थाओं के संगठन में कुछेक ही सामाजिक विचारक हैं। हाल के कुछ वर्षों में जो वेश्यावृत्ति बांध तोड़ कर बढ़ी है उस के कारण की खोज करने के लिये दूर नहीं जाना पड़ेगा। विशाल संख्या में लोगों के उन नगरों में एकत्र हो जाने से, जहां स्त्रियों का संग मिलने और वयस्क सेक्स-जीवन के साधारण कार्य के लिए कोई साधन नहीं मिलते, उन्हें वेश्याओं का संग प्राप्त करने के लिये मजबूर होना पड़ता है। बहुत से लोगों के लिये विवाह एक आर्थिक विलासिता है, जिसका व्यय वे सहन नहीं कर सकते। जो लोग विवाहित हैं उनकी नन्ही सी आमदनी उन्हें अपनी पत्नियों को गांवों में

---

१. जान डेवी: 'मानव प्रकृति और आचरण' अं०, न्यूयार्क, मॉडर्न लाइब्रेरी।

छोड़ देने के लिए विवश करती है। साथ ही जो लोग अपनी पत्नियों के साथ भी रहते हैं, लेकिन सेक्स-विभिन्नता की आवश्यकता अनुभव करते हैं, वे अपनी इच्छापूर्ति इस तरीके से करते हैं।

यदि उच्च वर्ग के किसी सामाजिक स्तर पर वेश्यावृत्ति में कमी है भी, तो कारण उन लोगों में कम कट्टर नैतिकता तथा विवाहित व अविवाहित स्त्रीपुरुषों की बढ़ती हुई संख्या में आर्थिक स्वाधीनता का होना ही है। उस जाति के शिक्षित वर्ग में अतिरिक्त यौन सम्बन्धों को प्राप्त कर लेने की स्वतन्त्रता बहुत से युवकों को उन वेश्यालयों में जाने से रोकने के लिये बाधक बन जाती है, जो आज की हालतों में समय व्यतीत करने के लिये कोई आनन्दपूर्ण स्थान नहीं हैं। सतीत्वहीन लड़की पेन्ट से लिपीपुती वेश्या से कहीं अधिक सुखपूर्ण संसर्ग प्रदान करती है। वेश्या तो किसी प्रकार की घनिष्टता भी स्थापित नहीं करती। उसका व्यवहार व्यापारिक रहता है। न ही उस में कोई ऐसा बौद्धिक आकर्षण होता, जो अतीत में उसकी पूर्वजाओं में इस धंधे के लिए आवश्यक कलाकौशल के रूप में विकसित हो चुका था। साथ ही साथ वहां यौनसंबंधी रोगों का भी खतरा रहता है।

सभ्य समाजों में क्षय तया अन्य किसी भी रोग की अपेक्षा यौन-संबंधी रोग अधिक उत्पन्न होते हैं। प्रकाशित आँकड़ों से सिद्ध है कि लैंगिक रोग और वेश्यावृत्ति जन्म के साथी हैं। नब्वे प्रति शत से अधिक लिपिबद्ध मामलों में छूत का कारण वेश्यालयों में स्त्री से संसर्ग का होना है, यद्यपि ये वेश्यालय सरकारी देखभाल के अन्तर्गत चलते हैं। ये छूत के रोग उस समयांतर में लगते हैं, जब कि कोई स्त्री रोग को ग्रहण कर लेती है और फिर कुछ समय बाद मेडिकल अफसर उसे पकड़ता है। और यदि कहीं यह समयांतर हफ्ते का हो गया, तो कितने आदमी इस रोग से आक्रांत हो जाएंगे इसकी संख्या का अनुमान आसानी से हो सकता है। इसी कारण से लैंगिक रोगों की रोकथाम में नियमित वेश्यावृत्ति प्रशंसनीय सफलता प्राप्त नहीं कर सकी।

वेश्यावृत्ति के कारण आर्थिक हैं। साथ ही वर्त्तमान वेश्याओं का आर्थिक रूप से पुनर्वास भी समस्या का स्थायी हल नहीं है। पहली बात तो यह है कि लोगों के एक समूह को जब एक पेशे से दूसरे पेशे में डाला जाता है, तो वह अन्य व्यक्तियों को, जिनकी दशा कम अच्छी है, उस पेशे में जाने के लिये निरुत्साहित नहीं करेगा, चाहे वह पेशा कितना ही बदनाम या बुराई का घर क्यों न रहा हो। जब तक ऐसे लोग मौजूद हैं, जिन्हें इसी प्रकार के मनोरंजन की वास्तविक आवश्यकता

है. तब तक यह क्षेत्र बहुतों को प्रवेश के लिये आकर्षित करेगा। यह बात सभी पेशों और व्यापारियों के लिये सत्य है और वेश्यावृत्ति भी कोई अपवाद नहीं है। यदि नगरनारियों के पास जाने की जनप्रवृत्ति की रोकथाम करनी ही है, तो इस प्रवृत्ति पर प्रतिबन्ध लगाना यथेष्ट नहीं है, न ही इस व्यापार में स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध करने से काम चलेगा और न ही इस धंधे में लगी स्त्रियों का रुख जबरदस्ती दूसरे उत्पादक धंधों की ओर मोड़ना काम देगा। यदि मनुष्य वही है, जो उसे होना चाहिए था, तो सेक्स संबंधों में विभिन्नता की आवश्यकता वह अवश्य अनुभव करेगा। यही बात स्त्रियों के साथ भी है। कृत्रिम अवरोध या नैतिक निर्देश एक प्राकृतिक प्रवृत्ति या अनुभूति को पूरी तरह नहीं दबा सकते। इस अनुभूति को दबाने का यत्न करना ही मूर्खता है। इस अनुभूति को अपनी पूर्ण सामान्य धाराओं में बह निकलने की राह दे देना ही अधिक बुद्धिमत्ता का काम होगा। इस प्रकार का मार्ग तभी अपनाया जा सकता है, जब कि स्त्री और पुरुष जिस तरह चाहें, इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के विपक्ष में किसी प्रकार की सामाजिक टीकाटिप्पणी के बिना, जब और जैसे उन की आवश्यकता हो, अतिरिक्त वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकें। विवाहित व्यक्तियों के लिये ही अतिरिक्त व्यवस्था के रूप में नहीं, बल्कि अविवाहित लोगों की स्पष्ट यौन-संबंधी आवश्यकताओं को भी इसी श्रेणी में लिया जाना चाहिए। यदि यही सामाजिक परिपाटी बन जाती है, तो एक वर्ग की स्त्रियों को सार्वजनिक इच्छापूर्ति के लिये दागी बना देने के कारण बहुत कुछ कम हो जाएंगे और न ही लोगों को इन औरतों तक जाने की जरूरत रह जायेगी। इस नैतिक प्रशिक्षण के साथ यदि वर्त्तमान वेश्याओं को पुनर्वासित किया जाये, तो इस सामाजिक रोग का दाह संस्कार हो जायेगा।

लैंगिक रोगों की रोकथाम में एक और पूर्णतः समान तर्क को अपनाया जाना चाहिए : संग्रहणी, नकसीर, क्षय या कैंसर के रोग लग जाने पर किसी को शर्म महसूस नहीं होती, लेकिन लैंगिक रोग लग जाने पर लज्जा आती है। अपराध की इस भावना या लज्जा के कारण रोगी इस हद तक पहुँच जाता है कि वह डाक्टर से भी अपना रोग छिपा लेता है। इस प्रकार निरोधों के परिणामस्वरूप पहले इन रोगों की ओर से उपेक्षा चलती है, फिर इन्हीं अवरोधों के कारण इन का फैलाव भी होने लगता है। उस समय, जबकि लैंगिक रोगों को अन्य रोगों के समान ख्याल किया जाने लगेगा, छूतछात फैलने में काफी कमी हो जायेगी। साथ ही इस के भयंकर रूप धारण कर लेने के अवसर भी बहुत कम हो जायेंगे।

मध्यवर्गीय समाज की अपेक्षा कमकर समाज में एकपत्नीत्व, जीवन

भर का बंधन हो जाने के लिहाज से, कम प्रचलित है। कमकर समाज में यह इतना अनिवार्य बंधन है भी नहीं। स्त्रियों की आर्थिक स्वाधीनता पारिवारिक क्षेत्र में भी उतर आती है। यहां पर स्त्रियां अपने घर की ही स्वामिनी नहीं होती, बल्कि अपने भाग्य की भी स्वामिनी होती हैं। पारिवारिक सम्बंध धार्मिक भावनाओं से निर्धारित नहीं होते। धर्म तभी सामाजिक विचारों की टेक रहता है, जब आर्थिक साधन पूर्णत: दिवालिये हो जाते हैं। स्त्रियों की असहायावस्था मध्य वर्गों में सब से अधिक दयनीय है। इसी प्रकार एकपत्नीत्व की कठोरतायें दयनीय हैं, जो इतनी क्रूरतापूर्वक उन के सिरों पर लाद दी गई हैं।

कमकर पत्नी का चुनाव उस की आर्थिक उपयोगिता, शारीरिक गठन, और सहनशक्ति के आधार पर होता है। कमनीयता की पूंछ मध्यवर्गीय दिखावे के साथ लगी हुई है। ऐसे ही उस में आत्मत्याग की दासवृत्ति को गुण बता कर आसमान पर चढ़ाया जाता है। जो नारी अपनी रोजी के लिये स्वयं काम करना चाहती है उस के लिये ये गुण निरर्थक और अव्यावहारिक हैं।

एकता का स्थायित्व दोनों पक्षों की ओर से जब-तब प्रकट होने वाले खब्तों को सहन करने की योग्यता पर निर्भर रहता है। न ही धर्म इस में निर्णायक है और न ही कानून। वह कानूनी कलाबाजी कमकर के लिए निरर्थक है, जो अपहृत पत्नी को इस आधार पर उस के वैधानिक पति को लौटा देने की मांग करती है कि वही इस स्वयंसिद्ध तथ्य की मान्यता से पूर्व की अवस्था थी। इसी के ऊपर तलाक का पूरा ढांचा खड़ा हुआ है। अब सर्वहारा विवाह एक वास्तविक संस्था बन गई है। धर्म और बूर्ज्वाज़ी भावुकता खड़े खड़े ताकते रहे। किसी प्रकार का सुधार अथवा वैधानिक कार्यवाही का सहारा नहीं लिया गया, बल्कि जीवन की उन अवस्थाओं ने स्वयं इस संस्था को राह दे दी, जिन में स्त्रियों को आर्थिक स्वाधीनता मिलती है। यदि यही मध्यवर्गीय स्त्रियों के साथ भी हो, तो एकपत्नीत्व अपना तमाम महत्त्व खो देगा और इसी के साथ यह धार्मिक विचार भी अपना मुंह काला कर जाएगा कि 'विवाह स्वर्ग में संपन्न होते हैं'।

● ● ●

तलाक

पूर्ण एकपत्नीत्व अपने संपूर्ण इतिहास में वास्तविकता की अपेक्षा कथा-कहानी की वस्तु ही अधिक रहा है। प्रारम्भिक अवस्थाओं में इस के काम को नियमित करने वाला हत्था सार्वभौमिक मुक्ताचरण का प्रचलन रहा। जब धार्मिक शिक्षण और सदियों की नैतिक कवायद व परम्परा अधिकांश स्त्रियों को स्वेच्छापूर्वक विधिनिषेध स्वीकार कराने में सफल हो गईं, तो निकास का मार्ग विशाल पैमाने पर वेश्यावृत्ति और सार्वभौमिक बहुपत्नीत्व में मिला। जब इन स्पष्ट प्रवृत्तियों में लगाम डालने के प्रयत्न किये जाने लगे, तो एक-पत्नीत्व की अप्राकृतिक संस्था को नियमित करने वाला द्वार वैधानिक तलाक प्रथा की प्रगतिशील मान्यता के रूप में खुल गया।

ईसाइयत व हिंदुत्व जैसे धर्म, जो अब तक तलाक को स्वीकार नहीं करते थे, वे भी अब धीरे-धीरे यह अनुभव करने लगे हैं कि जो कुछ भी पवित्रता का प्रदर्शन धार्मिक विवाह में शेष रह गया है, उसे तलाक, मुक्ताचरण, व्यापारिक वेश्यावृत्ति और गुप्त बहुपत्नीत्व जैसे विराम स्थलों के साथ ही जारी रखा जा सकता हैं। यह विचार कि विवाह स्वर्ग में संपन्न होते हैं पहले से ही लुप्त होता जा रहा है और अब तो कोई बिरला ही इस पर ध्यान देता होगा।

तलाक को मानते ही एकपत्नीत्व नानी-दादी का किस्सा बन जाता है। जब तलाक विस्तृत रूप से प्रचलित हो जायेंगे, तो एकपत्नीत्व का मात्र महत्त्व यही रह जायेगा कि एक बार में एक विवाह हो और यदि मामला इस तरह से निबट जाता है, तो बहुपत्नीत्व का कट्टर से कट्टर समर्थक इसे मान लेने में तनिक भी हिचकिचाहट अनुभव नहीं करेगा। यदि कोई स्त्री अपने जीवन में कई बार विवाह करती है और कई बार तलाक देती है और फिर भी यह मान लिया जाता है कि वह एकपत्नीत्व की आवश्यकताओं को पूरा कर देती है, और इन में से प्रत्येक विवाह कट्टर धार्मिक रीतिनीतियों से सम्पन्न होता है, तो फिर यही अनुमान करना पड़ता है कि एकपत्नीत्व के आदर्शों में भी उसी प्रकार विभिन्नता है, जिस प्रकार धार्मिक विचारों में है।

उदार सिद्धांतों के प्रसार ने ही स्त्रियों के दिमागों को इतना साहस दिया है कि वे तलाक के अधिकार की मांग कर सकें और जो लोग एक-पत्नीत्व के आदर्शों को उन के ऊपर लागू करना चाहते हैं उन पर भी वे ही

आदर्श थोपने के लिये जोर दे सकें। अब तक तो नैतिकता एकपक्षी रही है, किन्तु तलाक की धार्मिक और वैधानिक मान्यता को ले कर अब वह कम से कम समानता का नकाब पहनने की कोशिश करती है। फिर भी यह तो मान ही लेना चाहिए कि वर्त्तमान व्यवस्था की अन्य असमानताओं पर सफेदी पोतने के प्रयत्नों की तरह—उदाहरण के लिये जिस प्रकार व्यक्तिगत उद्योग, सम्मिलन और ज़बान की स्वतन्त्रता के आदर्शों का उपदेश दिया जाता है—व्यवहार में लागू करने पर यह कदम भी चोट खा जाता है। कुछ ही स्त्रियां ऐसी हैं जो तलाक की स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकती हैं, चाहे उन्हें अपने पतियों की ओर से कितना ही कठोर और गिरा हुआ व्यवहार मिलता हो। अधिकांश स्त्रियों में परम्परा के विरुद्ध जाने के साहस और स्वावलम्बी जीवन की स्थापना करने के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता का अभाव स्पष्ट है। उच्च श्रेणी की कुछ स्त्रियों में ये गुण मिल भी सकते हैं, किंतु वे वर्त्तमान नैतिकता से पहले से ही बहुत कम प्रभावित हैं।

तलाक की वैधानिक या धार्मिक मान्यता से भारतीय स्त्रियों का विशाल बहुमत अप्रभावित ही रहेगा क्योंकि वे अशिक्षित हैं। उनका मानसिक पालनपोषण इस प्रकार का रहा है कि चिकने घड़े की तरह किसी भी बाहरी असर को रपटा देता है। चूंकि धर्म आज तक उन्हें अपने पति को देवता और उस के अकारण दुर्व्यवहारों को स्वयं परमात्मा की इच्छा मानना सिखाता रहा है, अब किसी प्रकार की भी धार्मिक छूट या सामाजिक विरोध उन्हें अपने पथ से विचलित नहीं कर सकेंगे। पुनर्गठन के तमाम विचारों से दूर, एकांत में पले उन के दृष्टिकोण और शारीरिक स्वभावों ने उन पर रवाज की गुलाम और अपाहिज होने का ठप्पा लगा दिया है।

जानबूझ कर अपनी पत्नियों की उपेक्षा कर के पुरुषों के लिये तो यह अपेक्षतया आसान काम है कि वे एकपत्नीत्व के पालन से छुटकारा पा जायें, लेकिन स्त्रियों के लिए इस प्रकार की स्वतन्त्रता वर्जित है। आर्थिक दिशा में अपने पतियों पर, या उन से त्याग दिये जाने के बाद मातापिता पर आश्रित रहने की स्थिति, उन्हें नवीन प्रेम का विकास करने या दूसरे सेक्स के सदस्यों से मिलनेजुलने से रोकने के लिए, किसी भी नैतिक अनुभूति से कहीं अधिक शक्तिशाली बाधक बन जाती है। भारतीय समाज की उच्च और मध्यम श्रेणियों में स्त्रियों का उत्पादक धंधों में लगना बड़ी हीन दृष्टि से देखा जाता है, जिस का परिणाम यह निकला कि स्त्रियों ने सम्मान के ऊपरी दिखावे के बदले अपनी स्वतन्त्रता को बेच दिया। यूरोपीय देशों में स्त्रियों का उठान किन्हीं नैतिक विचारों में तबदीली आ जाने के कारण नहीं हुआ। वह पुर्जा, जिस ने उन के स्तर को ऊंचा उठा दिया, प्रगतिशील औद्योगीकरण था,

जिस में प्रति वर्ष भारी संख्या में स्त्रियां उत्पादक धंधों में लगती चली जा रही थीं। स्त्रियों के अधिकारों में सुधार करने के लिये जो उहापोह वहां हुई उस का आधार उन की आर्थिक स्वतन्त्रता और उस से मिलने वाली विचारों की स्वतन्त्रता में ही निहित था।

तलाक के मामले में अनुमति देने वाला विधान उन्हीं शर्तों के बारे में गलती करता है, जिन्हें वह अधिकारों की प्राप्ति के लिये आवश्यक समझता है। भारत के या इंग्लैंड के तलाक के सभी नियमों के अनुसार यदि पति तलाक देना चाहता है, तो उसे पत्नी पर दुराचरण का आरोप लगा कर उसे प्रमाणित करना होगा। विवाह सम्बन्ध को जारी रखने के लिये दोनों की आपसी अनिच्छा को कभी भी तलाक का पर्याप्त कारण नहीं माना जाता। परिणाम यह होता है कि असन्तुष्ट पति को किसी बेकसूर प्रतिद्वन्द्वी को मामले में सानना और मुकदमे में बराबर का साझीदार बना कर अदालत में घसीटना पड़ता है। केवल यह बयान दे देना कि पत्नी वफादार नहीं है उस समय तक काफी नहीं समझा जाता, जब तक कि उसे गवाही से प्रमाणित न किया जाए और इन बहुत से गवाहों के द्वारा कभी कभी तो एक अच्छी-खासी मेमने-भेड़िए की कहानी बन जाती है। किसी सम्बन्ध को तोड़ कर उस अलगाव को पवित्र बनाने के लिए जनता में अधिक से अधिक चर्चाप्राप्त चरित्रहीनता का प्रदर्शन करना पड़ता है, और वह सब होता है जाग्रत जनमत के नाम पर।

तलाक मांगने में पत्नी की दुहाई तो सब जगह एक ही है कि पति ने उसे एक लम्बे अरसे से त्याग रखा है या उस के साथ क्रूर व्यवहार करता आ रहा है। त्याग के कारण का औचित्य तो तभी माना जाता है जब कि वह कई साल से चला आता हो। इस प्रकार यदि किसी को वैधानिक रूप से अलग होना है, तो दोनों पक्षों को जबरदस्ती वर्षों की पीड़ा और सन्देह सहन करना होगा। यदि क्रूरता की दुहाई दी जाए, तो पत्नी का सरेआम पीटा जाना जरूरी है, और यदि कोई आदमी इस तरह की बदनामी के काम में घसीटा ही नहीं जा सकता, तो उस की पत्नी का बीच-बाजार अपने पति के साथ दुर्व्यवहार कर के उस के क्रोध को भड़काना आवश्यक है। केवल अमेरिका की कुछ प्रगतिशील स्टेटों में तलाक को स्वीकार करने के लिए इन असुविधाजनक कृत्रिमताओं को तिलांजलि दे दी गई है।

कुछ ही विधानवेत्ता इस बात को अनुभव करते हैं कि विवाह व्यवस्था एक ऐसी चीज है, जो तभी तक जारी रखी जा सकती है, जब तक कि दोनों संबन्धित पक्ष आपसी तौर से इसे सन्तोषप्रद समझते हैं। किसी प्रकार की भी जोरजबरदस्ती से असन्तोषजनक सम्बन्ध बनाए रखना, चाहे वह जबरदस्ती

विधान की ओर से हो चाहे दोनों पक्षों में से किसी एक की आर्थिक आवश्यकताओं के कारण हो, अतीव अमानवीय दण्ड है, क्योंकि गहरे से गहरे संबंधों में भी किसी प्रकार का अनैक्य दिमाग को अन्दर ही अन्दर खा जाने वाली बीमारियों में अग्रणी है ।

तलाक के कानूनों को उदार करने का विरोध इस आधार पर किया जाता है कि इस से भारी संख्या में घरों की एकता विशृंखलित होने को प्रोत्साहन मिलता है । आम तौर से यह अनुभव नहीं किया जाता कि घरों की एकता तलाक की सुविधा मौजूद रहने के कारण नहीं गड़बड़ाती, बल्कि स्वभाव की अयोग्यता या एकतासूत्र में बंधे दो व्यक्तियों के इरादों से टूटती है । इस प्रकार की असंबद्ध परिस्थितियां और विधान में उन्हें चलते रहने के लिए मजबूर करना, जिन से बराबर अप्रसन्नता कायम रखने के इरादे जाहिर होते हैं, इस दयनीय अवस्था से छुटकारा दिलाने के लिए गढ़े गए अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक निंदनीय हैं । क्योंकि दुःख से छुटकारा पाने का साधन मौजूद है, इसी लिए कोई इस हद तक नहीं जा पहुंचेगा कि छुटकारे की राह को ही दुःख का कारण बता कर उसे त्याग दे या उसे विषाद की पीड़ा को बढ़ाने वाली ठहरा दे । दुःख अपने उन्मूलन के साधनों से सर्वथा स्वतन्त्र है । कोई कितना ही होम्योपैथिक आधार पर तर्क करे, दवा कभी रोग का कारण नहीं हो सकती । यदि कोई वर्त्तमान रोग किसी ऐसी दवा से दूर हो जाता है, जो स्वयं उसी तरह के आसार पैदा कर देती है, तो ये जबरदस्ती से पैदा किए गये आसार स्वयं मूल रोग नहीं हैं । निकास का कोई मार्ग इसी लिये बनाया जाता है कि भीतर की अवस्थायें बाहर की अवस्थाओं से कम लाभकारी हैं । जब तक कि विवाह स्वयं ही असहनीय न हो जाए, कोई व्यक्ति उस से छुटकारा पाने के तरीके का सहारा नहीं लेगा ।

विवाह स्वयं जितने विषादमय होते हैं, तलाक उस से भी बड़े विषाद का कारण नही है । जब कोई अतीत में बीते सुख के क्षणों को संजोता है, तो संबंध का टूट जाना विषादमय होना ही चाहिए । लेकिन वे सुख के क्षण कभी के बीत चुके होते हैं और जब किसी को यह स्पष्ट दिखाई दे जाता है कि उन क्षणों को कभी भी वापस नहीं लौटाया जा सकता, कभी भी उन जैसे दूसरे क्षण नहीं आ सकते, तभी वह तलाक का आसरा लेता है । साथ टूटने से अस्थाई पीड़ा का होना अवश्यंभावी है । गर्भ के बंधन से छूट निकलना भी इतना ही पीड़ाजनक होता है, किंतु वहां से निकलना भी इसी लिए पड़ता है कि भीतर का जीवन असहनीय हो जाता है और बाहरी दुनिया का अधिक स्वतन्त्र जीवन ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता है । एक अवस्था

से दूसरी अवस्था में संक्रमण अरुचिकर तो लग सकता है, किंतु मात्र इसी कारण से संक्रमण की निन्दा करना मूर्खता में शामिल होगा।

यह हो सकता है कि कुछ मामलों में एक पक्ष के अपने समस्त मन से न चाहते हुए भी दूसरा पक्ष सम्बन्ध को तोड़ ही देना चाहे। लेकिन सवाल यह खड़ा हो जाता है कि क्या किसी पर दूसरे की खुशियों के ऊपर अपनी खुशियां न्योछावर कर देने के लिये जोर डालना नीतिसम्मत होगा? यदि सुख के विचार में निहित नैतिक तत्त्वों को किसी तराजू में तौला जाए, तो निर्णय करना कठिन हो जाएगा क्योंकि दोनों पक्षों में बराबर का वजन होगा। किंतु एक दूसरे दृष्टिकोण से विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अधिक विषाद की संभावनाओं को कम विषाद के साधन के सामने समाप्त कर दिया जाए, यही नीतिसंबंधी तर्कना का उद्देश्य होना चाहिए। दुःख को जड़मूल से उखाड़ फेंकना तो असंभव भी हो सकता है। यही कारण है कि नीति का वजन सापेक्षता के दृष्टिकोण से तौला जाता है।

आइए, इस प्रकार तर्क करें: चाहे तो अपने स्वभाव के कारण चाहे स्नेह के कारण कोई पति यह विचार बना लेता है कि चाहे जो भी हो वह अपनी पत्नी के साथ विवाह सम्बन्ध जारी रखेगा। पत्नी उस प्रेम को अब तक भी कायम रखना चाहती है; वास्तव में यह उस की बड़ी तीव्र इच्छा है। यदि पति का निश्चय क्षणिक है, तो यही अच्छा है कि वह उसी को ले कर चले, ताकि उस के बाद दोनों एक-दूसरे के प्रति अनुरक्त रहें। यदि पति की अरुचि अधिक बलवती प्रकृति की है, तो विवाह इतना कोमल संबंध है कि पत्नी की ओर से बहता हुआ निश्चित प्रेम-प्रवाह पति की घृणा के निनाशकारी अड़ंगे में आ जाएगा और नतीजा यह होगा दोनों ही समान रूप से उस अरुचि का अनुभव करने लगेंगे।

ऐसे भी कुछ लोग हैं जो तलाक के नियमों को उदार बनाने का विरोध इसलिए करते हैं कि बहुत बड़ी संख्या में लोग जरा जरा से अस्थाई झगड़ों में भी या लचर बातों पर भी एकदम तलाक का सहारा खोजने लगेंगे। जब एक बार तलाक को मंजूर कर लिया गया, तो फिर बाद में सुधार के लिये कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती। बाद में चाहे उन के विचार एक-दूसरे से मिलने के लिये और एक हो जाने के लिए बड़े तीव्र हो जायें, किन्तु दोनों ही के मन में अलगाव से पैदा हो गया अभिमान उन्हें आपस में एक हो जाने से रोकेगा। विषाद इस तरीके से और भी ज्यादा न बढ़ जाएं और यदि उन का आपसी विभेद क्षणिक है, तो यह उचित हो सकता है कि उन्हें एक या दो सप्ताह का समय उस विभेद को दूर करने के लिये दिया जाए। इस के विपरीत, यदि साधारणतः तलाक को मानने में कठोरता बरती गई, तलाक

देना मुश्किल हो गया, तो नतीजा यह होगा कि उन जोड़ों की एक बहुत बड़ी संख्या को, जिन के पास सिवा अलग हो जाने के जीवन में खुशी भरने का और कोई साधन नहीं है, आर्थिक हानि के साथ साथ भारी मानसिक उत्पीड़न में ज्यों के त्यों चलते रहना पड़ेगा।

बहुत से लोग कानूनी काररवाईयों के विचित्र चक्कर और उस में होने वाले धन के व्यय के कारण ही तलाक का आसरा नहीं ले सकते। वर्त्तमान विधान के अनुसार जो पति अपनी पत्नी को तलाक देना चाहता है उसे उस के तथा उस के बच्चों के भरणपोषण के लिये धन देना होता है। उस की दूसरी शादियां होने में यह एक बहुत बड़ी बाधा हो जाती है। उस आदमी को एक साथ दो स्त्रियों का व्यय सहन करना पड़ेगा और इस परेशानी व कष्ट का अनुमान तब तो आसानी से हो जाता है, जब कि कुछ ही लोग ऐसे हैं, जो एक स्त्री का पालन करने की विलासिता भी बड़ी कठिनाई से सहन कर पाते हैं। यह भी एक तरह का दण्ड है, जो स्त्रियों को उन की आर्थिक स्वतन्त्रता से वंचित कर देने के बदले आज आदमी भुगत रहा है। यदि स्त्री चाहे, तो कितने ही मनुष्यों से सम्बन्ध स्थापित कर सकती है और यह पति महाशय होंगे, जिन्हें सब के बिलों का भुगतान करना पड़ेगा। इस में उस स्त्री को यह ध्यान जरूर रखना पड़ेगा कि वे सम्बंध इस प्रकार से स्थापित न किये जायें कि किसी कानूनी अदालत में सिद्ध हो सकें। केवल इन्हीं कारणों से अधिकांश पुरुष तलाक की काररवाई के झंझट में पड़ने के बजाए जानबूझ कर अपनी पत्नियों की उपेक्षा करने लगते हैं और चोरीछिपे से जितने चाहें उतने सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, जिन से उन के ऊपर कोई आर्थिक उत्तरदायित्व भी नहीं आता। इस से उल्टे मामले भी होते हैं, जिन में स्त्रियां कानूनी विवाह की सुविधाओं का अनुचित लाभ उठाती हैं।

तलाक को आम तौर से अनैतिक समझा जाता है। बहुत से जोड़े यद्यपि अलग हो जाने से ही कहीं ज्यादा खुश रहते, लेकिन वे तलाक की बदनामी से बचने के लिये छाए चले आते विषाद को सहन करते रहते हैं। तलाक को अनैतिकता के साथ क्यों जोड़ दिया गया, शायद इस का कारण यही है कि अधिकांश घटनाओं में तलाक साझीदार की अनीति के आधार पर ही दिया जाता है। सतीत्व के साथ जुड़ी हुई अच्छाई का भी इस में कुछ हाथ जरूर है।

इन तरह तरह की असमर्थताओं में फंस कर भी जो लोग आज की अवस्थाओं में तलाक देने की बात सोचें, निश्चय ही उन में भारी मानसिक साहस होना चाहिए। इसी से उन के विवाहित जीवन में विषाद की गहराई

भी नप जाती है। इन सब के बावजूद भी, यदि समाज को यह अनुभव नहीं कराया जा सकता कि इस संस्था के साथ पवित्रता का पुछल्ला लगा देने मात्र से ही प्रसन्नता नहीं लाई जा सकती, तो फिर कारण परम्परा की शक्ति में खोजा जाना चाहिये।

बच्चों की कैद भी बहुत से मातापिताओं के तलाक का सहारा लेने से रह जाने का एक दूसरा कारण है, चाहे उन के विवाहित जीवन उन की आशाओं से कितने ही नीचे क्यों न रहे हों। यह तो हो ही नहीं सकता कि इस प्रकार के मामलों में दोनों पक्षों की अनुभूतियों को पूरी तरह संतुष्ट किया जा सके। क्यों कि विवाह स्वयं ही सम्पति और ईर्ष्या के विचारों के आधार पर टिका हुआ है, माता या पिता दोनों में से किसी के पास भी बच्चों का रहना दूसरे पक्ष को अत्यन्त उत्तेजित कर देगा। कोई कोई केस ही ऐसा हो सकता है, जिस में दोनों पक्षों में एक ऐसा आपसी समझौता हो जाये, जिस के अनुसार बच्चे माता-पिता दोनों ही की समान खबरदारी रख सकें और उन का बराबर बराबर आदर सम्मान कर सकें। वर्त्तमान विवाह व्यवस्था में कुछ ही मामले ऐसे गुजरते होंगे, जिन में उत्तराधिकार स्वरूप आपसी कटुता शेष न रह जाती हो, और यही आपसी कटुता बच्चों के मन में दोनों के प्रति समान प्रेम होने में आड़े आती है। अधिकांश मामलों में बच्चों की पहुंच तक दूसरे पक्ष के पास नहीं रहती और इन अवरोधों के कारण उन का मनोवैज्ञानिक विकास मारा जाता है। इस का इलाज केवल यही है कि तलाक को अधिक आसान बना दिया जाए और माता-पिता को शिक्षा दी जाए कि वे विवाह को किसी प्रकार दूसरे के ऊपर संपत्तिजन्म अधिकार न समझें, जिस से तलाक के बाद संपत्ति छिन जाने पर उत्पन्न होने वाली बदले की भावना किसी के मन में न आ सके।

यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि कोई पुरुष या स्त्री अपने प्रथम विवाह के आरम्भ में तलाक की बात नहीं सोचते। वे इस की कल्पना तक से भागते हैं। उन के ये विचार उस समय तक रहते हैं, जब तक कि वे दुराचरणों में फंस कर मन की उच्छृंखलता और विवाह के सही अर्थ नहीं समझ जाते। विवाह के समय की आशायें-प्रत्याशायें सदा गुलाबी होती हैं, जिन में अनंत की ओर प्रयाण करती हुई अनवरत और पवित्र सुखों की कल्पना रहती है। केवल कुछ ही लोग यह अनुभव करने के लिये रुकते हैं कि स्वयं विवाह का जीवन पर इतना व्यापक प्रभाव नहीं पड़ता। यह अनुभूति उन वयस्कों में अत्यधिक होती हैं, जो सेक्स के मामले में अभी नए खिलाड़ी होते हैं। सेक्स के भूखे मस्तिष्क में ही रोमांटिक प्रेम उपजता है। सेक्स की अनुभूति जब सन्तुष्ट नहीं हो पाती, तो वह मानसिक क्षेत्र में अवतरित हो

जाता है और दिमाग उस की विषयवस्तु के चारों ओर निठल्ली कल्पनाओं का तानाबाना बुन देता है। विवाह में और वास्तविक यौन अनुभव में तुरंत बाद ही निराशा घेर लेती है और इस में तनिक भी आश्चर्य नहीं है कि जिन्हों ने विवाह के विशाल फाटक में बड़ी ऊंची आशाओं के साथ पैर रखा वे ही विवाहित जीवन में सब से अधिक निराश व्यक्ति हैं। भारत में ही आत्मसंयम का उद्भव हुआ इस का कारण इस के असंख्य निवासियों के अविवाहित वयस्क जीवन में सेक्स अनुभव की कमी होना ही है। ग्रहणशील, कवित्वपूर्ण या प्रारम्भिक मस्तिष्कों पर, या इन कोमल गुणों से भरे हुये औसत दरजे से ऊपर वाले दिमागों पर अरुचिकर अनुभवों या निराशाओं की प्रतिक्रिया उतनी ही तीव्रता से होती है, जितनी कि अभीष्ट प्रभावों के प्रति उन की प्रवृत्ति तीव्र होती है। विवाह संबंधित व्यक्तियों की यौन आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं करता। इस से किसी दूसरे काम की आशा करना ही मरीचिका है। इस तमाम निराशा के लिये अशिक्षित मस्तिष्क इस संबंध के दूसरे साझीदार को दोषी ठहराता है। पति महाशय सोचने लगते हैं कि दूसरी लड़की बड़े अद्भुत काम कर सकती थी, जो उन की वर्तमान पत्नी नहीं कर सकती। वह दूसरी लड़की स्वभावतः उन की पत्नी से बिल्कुल विपरीत गुणों की प्रतीक बन जाती है। यह और कुछ नहीं केवल असन्तुष्ट कामनाएं और दुराशायें हैं। मोटी लड़की का पति सोचता है कि पतली लड़की उस के जीवन को सुखमय बना देती। पत्नी भी इसी प्रकार सोचना आरम्भ कर देती है। कलाकार पति उस की तमाम मुसीबतों की जड़ हो जाता है। अपने दिमाग के किसी कोने में अब वह एक व्यावहारिक व क्रूर पति की कल्पना संजोने लगती है। विवाह इसी लिए अक्षय दुःखों का भंडार है कि दोनों पक्षों में से एक भी उस के सही काम की जानकारी नहीं रखता। एक वास्तविक आवश्यकता को रहस्य में लपेट देना ही दरअसल तमाम मुसीबतों की जड़ है।

तलाक के प्रति साधारण भारतीय नारी की घृणा के पीछे एक आर्थिक कारण भी साथ साथ है। जिस प्रकार की शिक्षा उन्हें दी जाती है उस से उन्हें यह स्पष्ट दिखाई देता है कि वे अपनी जीवन-व्यवस्था स्वयं नही चला सकतीं, इस लिए वे निरन्तर सहायता की ओर ताकती हैं। एक बार विवाह हो जाना ही गनीमत है, पुनर्विवाह की तो बात ही दूर रही। एकांत जीवन और दोनो सेक्सों का पूर्ण वियोग तमाम उत्साह और विचार-स्वातन्त्र्य को मार देते हैं। इस प्रकार यदि स्त्रियां तलाक को आतंक की दृष्टि से देखती भी हैं, तो कारण स्वयं प्रकट हैं। पत्नी की क्षुद्रता और अत्याचार के प्रति उस का निष्क्रिय आत्मसमर्पण नारी मस्तिष्क के दैवी गुण नहीं हैं। बल्कि

एक निराशापूर्ण समस्या के व्यावहारिक हल हैं। भारतीय नारी अच्छी तरह जानती है कि विवाहित जीवन की कढ़ाई में उबलने की अपेक्षा बाहर का जीवन नरक है। घर के भीतर तो वह चिल्ला भी सकती है। चाहे उस का कबाब ही क्यों न बन रहा हो, लेकिन रह तो सकती है। बाहर की दुनिया तो उस के लिए एक बेपेंदी का गड्ढा है, जिस की गहराई को कूतना उस के अशिक्षित मस्तिष्क के बस से बाहर की बात है। औसत स्त्री तो किसी व्यक्ति के घूरने से ही कांप जाती है। जब वह तमाम दुनिया के चेहरों को देखेगी, बिना किसी प्रकार की सुरक्षा के, बिना उस सुरक्षा के जो एक मनुष्य का स्वामित्व उसे प्रदान करता है, जब वह दुनिया के मरदों की घूरने वाली, खा जाने वाली निगाहों को देखेगी, तो उस का क्या हाल होगा ?

जो कुछ भारतीय स्त्रियाँ तलाक के अधिकारों के लिये संघर्ष कर भी रही हैं, वे पुरुषों से मिश्रित हैं और उन के पास स्वतन्त्र जीवनयापन के साधन हैं। हरम के भीतर बंद उन की दुर्भागिनी बहनों के पास वे साधन नहीं हैं। तो फिर इस में आश्चर्य क्या है कि वे अपने कष्टों के लिए वकालत करने वाली इन अपनी वकीलों को हैरानी के साथ देखती हैं, लेकिन सोचती हैं कि क्या इलाज है यह ! तलाक, जो उस के आद्यात्मिक रूप से बिल्कुल बाहर की वस्तु है, देवता का वियोग, चाहे उस के पति के शैतान के रूप में ही उस ने अवतार लिया हो, वह तलाक जो एक जम्हाई के साथ उस के सामने गड्ढे ही गड्ढे खोल देता है और स्वयं उन से बचा रहता है, स्वावलंबी जीवन के लिये जिस के पास एक भी राह नहीं, उसे वर्त्तमान सामाजिक विकास के प्रसंग में बाहर निकालना चाहता है ?

आज भी भारतीय स्त्रियों की एक विशाल संख्या के लिए तलाक विवाहित जीवन के दुःख से बच निकलने की राह नहीं है। सामाजिक सुधार का पहला काम यह है कि आर्थिक रूप से स्त्रियों को काम पर लगाए और साधारण स्त्रियों को घरों के गलाघोंटू वातावरण के बाहर निकाले। राज्य के साधन जुटा देने मात्र से ये उद्देश्य पूरे होने नहीं जा रहे हैं। इन के लिये जनमत में स्फूर्त्ति भर कर उन्हीं की ओर से पहल करानी होगी।

बौद्धिक नीतिशास्त्र के अनुसार तलाक आसान और स्वतन्त्रता से प्राप्त करने योग्य होना चाहिये। सिवा इस के कि दोनों पक्षों में से कोई एक अपनी अलग होने की इच्छा को प्रकट कर दे और कोई बनावट नहीं चलनी चाहिए, और यदि चाहिये भी, तो बहुत कम। यह आवश्यक नहीं कि तमाम तलाक आपसी समझौतों से हों। यदि दोनों पक्षों में से एक भी विवाह से असंतुष्ट है, तो उसे इस को तोड़ देने की स्वतन्त्रता है। यही विवाह के स्वयंभूपने

का स्वाभाविक परिणाम है। वर्त्तमान परिस्थितियों में केवल स्त्रियों की सुरक्षा के लिए कानून का हस्तक्षेप आवश्यक है। चूंकि उन में से अधिकांश न ही काम पर लगी हुई हैं और न ही लगने योग्य हैं, इसलिये जब तक कानून यह व्यवस्था न करे कि पति को उन के जीवनयापन के लिये अपनी संपति या आय में से बराबर उस समय तक कुछ भाग देते रहना होगा जब तक कि वे दूसरा विवाह न कर लें, जब तक कानून इस व्यवस्था को तलाक की एक अनिवार्य शर्त न बना दे, तब तक तलाक के माने होंगे कि उन्हें घर से बाहर निकाल कर बेसहारे सड़क पर खड़ा कर दिया जाये। निःसंदेह ये शर्तें पुरुष की सेक्स स्वतन्त्रता के पांव में बेड़ियां डालने के समान होंगी, किंतु वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था में इस के अलावा और कोई चारा नहीं है। यदि पूर्णतः स्त्रियों को काम पर लगाने की मान्यता दे दी जाये और राज्य की ओर से इसे लागू कर दिया जाए, तो फिर पुरुषों पर इस प्रकार के प्रतिबंध लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है—हां, यदि बच्चे भी साथ में न हों। बच्चों का पालनपोषण मातापिता के समान उत्तरदायित्व पर होना चाहिए, जिस में पिता का धनभाग अधिक रहे और उस के बदले मां की ओर से बच्चे की देखभाल होती रहे।

संक्षेप में यह डिग्री दे देना कि त्याज्य पत्नी के रहनसहन के लिए जो धन दिया जाए वह पति की आय का एक निश्चित भाग होना चाहिये यानी आधा, तिहाई या चौथाई, गलत है। इस से तलाक के अधिक स्वतन्त्र नियम का उद्देश्य डूब जायेगा। यह भाग व्यक्ति-व्यक्ति के अनुसार सभी तथ्यों को सामने रख कर किया जाना चाहिये, उदाहरण के लिये, बच्चों की संख्या, पति की आय, पेशे का स्वभाव, पत्नी की आर्थिक दशा और इन्हीं से संबंधित अन्य बातें। कानून का सामाजिक कार्य किसी प्रकार के लोगों के समूह को दण्डित करना या उन्हें किसी विशेष प्रकार के सामाजिक व्यवहार का पालन करने के लिये बाध्य करना नहीं होना चाहिये, जब तक कि उन व्यवहारों से सार्वजनिक भलाई न होती हो। सामाजिक भलाई की निर्णायक जनता को स्वयं होना चाहिये, न कि कोई नीतिज्ञ उसे निर्देशित करे। कानून का साधारण कर्त्तव्य व्यक्तिगत सुखों की उन्नति के लिये सुविधायें देना और इस प्रकार सामाजिक प्रगति में योग देना होना चाहिए। सामाजिक व्यवहार का नेतृत्व करने का काम जहाँ तक सम्भव हो शिक्षा पर छोड़ देना चाहिये। वैधानिक रोकटोक केवल इस बात में होनी चाहिये कि कोई इन नियमों की अवहेलना न करे और अपने लिये सुख-सुविधा जुटाने की होड़ में कोई दूसरे के ऊपर दीनता न थोप दे।

तलाक के बारे में इस प्रकार के विधिनिषेध, पुरातनपंथियों को छोड़

कर, चाहे वर्त्तमान में अधिक प्रगतिशील दिखाई न पड़ें, लेकिन इस से यह अन्तर पड़ेगा कि इस के साथ लगी कानूनी कारखाईयां, धन का अपव्यय, कारखाई में दोनों पक्षों का मानसिक उत्पीड़न और बेवफाई व दुराचरण के अभियोग पत्र तैयार करने की आवश्यकता, गवाहों का बुलाया जाना और अश्लील घटनाओं का जोरशोर से बयान होना, ये सब खुराफातें खत्म हो जायेंगी। तलाक के वर्त्तमान कानून एकदम नहीं सुधारे जा सकते, न ही व्यक्तियों को एक नैतिक परम्परा की बेड़ियों से मुक्त किया जा सकता, जब तक कि समाज को अधिक आधारभूत सिद्धान्तों पर पुनर्गठित न किया जाये, और वे आधार सामाजिक न हो कर आर्थिक ही अधिक हैं। तलाक पर अवरोध लगाना समस्या की पूंछ पकड़ना मात्र है, जिस का विरोध प्रायः सब से कम होता है। यदि वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था में बिना किसी भेदभाव के तलाकों की अनुमति दे दी गई तो इस का परिणाम बहुत सों के लिये घातक होगा, शांति का द्वार टूट जायेगा और फिर या तो तलाक की मनाही हो जायेगी या वे निषिद्ध करार दे दिए जायेंगे। अधिक निश्चित हल यही है कि समाज की नींव को बदला जाए और उसे इस आधार पर पुनर्गठित किया जाए, जिस में जीवन अधिक स्वतन्त्र और प्राकृतिक अनुभूतियों के अनुरूप ढल सके। परिवार पर जोर देना भी इसी प्रकार सामाजिक समस्याओं के अनिश्चित हल पेश करने का एक दूसरा उदाहरण है।

पूंजीवादी देशों के तलाक संबन्धी कानूनों का मुकाबला सोवियत संघ के तद्विषयक कानूनों में मिलता है। राज्य–विधान की एक धारा का यह उद्धरण देखिए: "पति या पत्नी की आपसी मरजी को या उन में से किसी एक की तलाक लेने की इच्छा को तलाक का आधार समझा जाएगा।" विवाह, तलाक, परिवार और संरक्षता के नए कानून पर सोवियत परिपत्र उसे लागू करने के तरीके के पूर्ण अर्थों पर प्रकाश डालता है, जैसा कि नीचे दिए गए उद्धरणों से स्पष्ट है:

"सोवियत तलाक इतना स्वतन्त्र है कि यदि दोनों पक्षों में से कोई एक भी तलाक चाहता है, तो इस्पोल्कोम में इस की घोषणा कर देना ही पर्याप्त है। दंपति में से दूसरे व्यक्ति को इस की खबर दे दी जायेगी कि तलाक संपन्न हो गया है।"

"यह कैफियत देना कि दोनों दंपति में से कोई एक तलाक क्यों चाहता है, अनावश्यक है, क्योंकि विवाहित रहना, या विवाह को तोड़ देना, पूरी तरह दंपति में से किसी भी एक व्यक्ति पर निर्भर करता है। उन पर जोर डालने का प्रयत्न करना असम्भव है, और, इसलिए किसी प्रकार की कैफियत भी अनावश्यक है।"

"विवाह बंधन को तोड़ने के लिए कोई भी दरख्वास्त या तो जबानी दी जा सकती है या लेख में और उस के आधार पर एक सरकारी रिपोर्ट बना ली जायेगी।"

स्टालिन की सत्ता के अंतर्गत तलाक तेजी के साथ लुप्त होता जा रहा है। किंतु स्टालिन की नीतियों को सदा समाजवादी आदर्शों के रूप में ही नहीं लेना चाहिए। यह एक सामान्य भूल है, जो समाजवाद के दोस्त और दुश्मन अब तक करते रहें हैं। विशेष विशेष परिस्थितियों के अनुसार स्टालिन की प्रतिक्रियायें उस के अपने निर्णय से होती रही हैं। स्टालिन का रूस अपनी जनसंख्या बढ़ाने पर तुला हुआ है, ताकि कम से कम समय में वह दुनिया की दूसरी बड़ी ताकतों के समतल आ सके। हिटलर ने भी दुनिया को जीतने के लिये और अपने शत्रुओं को मात देने के लिए जर्मनी की जनसंख्या को बढ़ाने पर कमर कसी थी। किसी समस्या का राष्ट्रीय हल और सैद्धांतिक हल समान ही हों यह आवश्यक नहीं है। अधिकांश मामलों में तो उन में जमीन और आसमान का अंतर होता है। हथियारों के जोर से क्या और जनसंख्या के जोर से क्या, हिटलर दुनिया को जीतने में असफल रहा। दोनों का जोर मिल कर भी काम नही आया। यदि स्टालिन समाजवाद को दुनिया भर में फैलाना चाहता है, तो बिना सिद्धांतों की बलि दिये ही तैयारियां होनी चाहिए। इस के विपरीत समाजवादी आदर्श और एक स्वतन्त्र समाज के आदर्श को भी अग्रिम मोर्चे पर लाना चाहिए, जिस में कि व्यक्तियों के सामाजिक व्यवहार अधिक से अधिक स्वतन्त्रता लिये हुए होंगे। कट्टरता और राष्ट्रीयना को प्रोत्साहन देने से समाजवाद की विजय नहीं हो सकती। कार्य और कारण आपस में सम्बन्धित और एक-दूसरे के पूरक होते हैं या जॉन डेवी के शब्दों में : "अंतिम उद्देश्य भलाइयां ही होती हैं क्योंकि वे ही इतनी महत्त्वपूर्ण साधन होती हैं।"

● ● ●

विवाह की व्यर्थता

विवाह एक परम्परा है और सभी परम्पराएं अवरोधात्मक होती हैं। जिन अनुभूतियों पर यह संस्था टिकी हुई है वे नीचे से नीचे दरजे की हैं। ईर्ष्या, संपतिजन्य विचार, प्रतिद्वंद्विता और स्वार्थ इस संस्था की जड़ में हैं। राज्य और धर्म ने इस परम्परा को एक कानून, विश्वास की एक ऐसी वस्तु बना दी है, जिस पर तमाम मानवीय संबंधों का ढांचा खड़ा हुआ है। पुरुष ने विवाह प्रथा नारी को दासी बनाने के लिये चलाई। अब विवाह ने स्वयं मनुष्य मात्र को अपना दास बना लिया है, जिसके तले से निकलना एक अंतहीन संघर्ष का काम है। ज्यों ज्यों स्त्रियाँ पारश्रमिक देने वाले धंधों में लगती जा रही हैं त्यों त्यों वे नियम, जिन्होंने कभी स्त्रियों को दासता में बांध रखा था, अब उनके स्वामियों को बांधने की चेष्टा कर रहे हैं। यही दृष्पिथ अब पुरुष समाज के सामने खुलता जा रहा है।

दासता और विवाह में बहुत सी समानताएं हैं। उद्देश्य दोनों के आर्थिक हैं। जब पहला विवाह अस्तित्व में आया, तो पुरुष चाहता था कि नारी अपनी मैथुन की स्वतन्त्रता को दे कर आवश्यकताओं की ओर से निश्चिंत हो जाए। इस सौदे में पुरुष को एक से अधिक वस्तुओं का लाभ हुआ। मैथुन स्वातन्त्र्य के बदले को तो उठा कर ताक पर रख दिया गया और पुरुष ने साथ साथ उसका परिश्रम, उसकी स्वतंत्रता और इन सब से ऊपर अपनी आज्ञाओं का अंधानुसरण भी प्राप्त कर लिया। इस से हमारा तात्पर्य विवाह के प्रारम्भिक रूप की अपेक्षा, जिस में मातृसत्ता भी आती है, जहाँ स्त्रियां अपनी स्वतन्त्रता स्थापित रखती थीं, आज के पितृसत्तात्मक एकपत्नीक विवाह से है।

जो लोग एकपत्नीत्व के पक्ष में अब भी तर्क करते हैं उनका चालू विश्वास यह है कि प्रेम एक अनवरत अपरिवर्तनीय तत्त्व है, जो विवाह की वेदी से उत्पन्न हो कर बराबर एक अंतहीन स्रोत में प्रवाहित होता रहता है। यदि यह बात सही है, तो इस की कोई वजह नहीं कि विवाह के विरुद्ध इस संस्था के भीतर और बाहर इतना अधिक असंतोष हो। तमाम देशों के तमाम सामाजिक क्षेत्रों में तलाकों की बढ़ती हुई संख्या स्पष्टतः ही यह बताती है कि विवाह कोई ऐसा मधुर व्यापार नहीं है, जैसा कि कथा-कहानी और लेखों में वर्णन किया जाता है।

पुरुषों के लिये विवाह बंधन इतना कटु नहीं है, जितना कि स्त्रियों के लिए है। अधिकांशतः पुरुषों को विवाह सम्बन्ध के बाहर भी जब-तब सेक्स सम्बन्ध स्थापित कर लेने की स्वतन्त्रता है और उनकी ओर से नैतिक नियमों की अवहेलना स्वभाविक ख्याल की जाती है। इस अमानवीय बन्धन के विरुद्ध अपनी अवरुद्ध भावनाओं को राह देने के लिए स्त्रियों को मन ही मन जलना और कुढ़ना पड़ता है और स्वयं उनकी और उनके पतियों की जिन्दगी हराम हो जाती है। यदि स्त्रियों में व्यापक अधिकतर रोगों का विश्लेषण किया जाए, तो कारण अधिकांश मामलों में असंतुष्ट कामेच्छाओं के भीतर मिलेगा। तमाम आधारभूत इकाइयों में संभवतः सब से बड़ी सचाई यही है कि स्त्री और पुरुष दोनों को सेक्स अनुभवों में विभिन्नता की इच्छा होती है। मानवीय प्रवृत्तियों में यही कामना सब से अधिक स्वस्थ और प्रशंसनीय कामना है, जिसके भीतर से समस्त लालित्य और कला के वे गुण उत्पन्न होते हैं, जो मानवी सभ्यता को स्थायित्व और मधुरिमा प्रदान करते हैं।

विवाह प्रेम को तो पृष्ठभूमि में डाल देता है और आर्थिक आवश्यकता, सुविधा एवं सेक्स अनुभूति के शारीरिक संतुष्टीकरण के एकपक्षीय सिद्धान्तों को सामने के मोर्चे पर ले आता है। जैसा कि भारी संख्या में समाजशास्त्री समझने में भूल करते हैं, विवाह में दंपति के बीच की अनुभूति प्रेमानुभूति नहीं होती, बल्कि एक कर्त्तव्यपूर्ण लगाव की भावना रहती है। पति और पत्नी के बीच के सम्बन्धों में इस भावना के अतिरिक्त कृतज्ञता, आज्ञाकारिता, परस्पर आश्रय, उपकार और दान की भावनाएं रहती हैं। दो सेक्सों के बीच का प्रेम अतिभावनात्मक होता है, और इसी कारण से वह स्वाभाविक भी है, जिस में कामेच्छा की उत्तेजना और ललित कला के कोमल गुणों का अधिकार रहता है। यह तभी चल सकता है, जब किसी प्रकार की भी पारस्परिक कृतज्ञता का अभाव हो।

विवाह का आदर्शीकरण एक उद्देश्यपूर्ण धोखा है। सेक्स से पीड़ित व्यक्तियों के लिये सेक्स-कर्म के हित एक सम्मानित राह प्रस्तुत करने की अपेक्षा, जो कि वह वास्तव में है, विवाह को कर्त्तव्य, भलाई और एक उच्च नैतिक आदर्श के शिखर पर चढ़ा दिया गया। इस भावना से यह तात्पर्य है कि आप एक स्त्री को बिना वेतन के काम पर लगाते हैं और उसे खाना-कपड़ा देते हैं। इस भावना में यह भलाई है कि आप उसे उसकी अनुभूतियों का आनन्द लेने से रोक देते हैं और अपने आप भलाई का तमगा लगा लेते हैं। और इस भावना में यह एक उच्च नैतिक आदर्श है कि एक आत्माहीन परिवार के गरम देगचे में आप वंश चलाने के लिये संतान

उत्पन्न करते रहते हैं।

यह पूछना स्वाभाविक है कि क्या विवाह का उन्मूलन भी हो सकता है। निश्चय ही मेरा उत्तर हाँ में होगा। एक ऐसे समाज में, जहाँ स्त्रियों को काम पर लगाया जा सकता है और लगाया जाता है, विवाह की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। पारस्परिक कामना और पूर्ण स्वेच्छा से दो सेक्सों के बीच संबंध स्थापित किए जा सकते हैं, चाहे वे जितने भी समय के लिए हों इस से कुछ बनताबिगड़ता नहीं। संबंध की अवधि का कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व इस बात का है कि दोनों पक्षों में कामनाओं की कितनी तीव्रता है और वे उस से कितना सुखलाभ करते हैं। सुख कोई शाश्वत गुण नहीं है। यदि ऐसा होता तो सुख के स्थान पर एक अविराम शांति छायी रहती।

पारस्परिक ईर्ष्या, जो आज के वैवाहिक सम्बंधों का इतना प्रधान अंग है, पूर्णत: लैंगिक नहीं है। केवल सेक्स से ही उत्पन्न होने की अपेक्षा इस की उत्पत्ति संपतिजन्य विचारों से ही अधिक है। यदि किसी की पत्नी दुराचरण करती है, तो बदले की भावना उस का उपयोग करने वाले के प्रति उठती है, जिस ने बिना अनुमति लिये ही बुरा काम किया। उन समाजों में, जहाँ पत्नियों को मेहमान की नजर किया जाता है, यह काम बड़ी प्रसन्नतापूर्वक किया जाता है। उदाहरण के लिये पुराने अरबों में ऐसा ही होता है और मेहमान की ओर से इनकारी को अपमान के रूप में लिया जाता है। उसी समाज में दुराचरण के लिए भारी दण्ड दिया जाता है। यदि सेक्सों के अलगाव से ही आचरण का नियमन होना है, तो दोनों प्रकार के आचरणों को भिन्न भिन्न प्रकार से नहीं लिया जाना चाहिये। बहुपतित्वात्मक जातियों में पतियों को एक-दूसरे को देख कर ईर्ष्या नहीं होती, बल्कि वे इस संस्था को बिल्कुल स्वाभाविक दृष्टि से देखते हैं। बहुपत्नीत्वात्मक जातियों में सहपत्नियों का भी एक-दूसरे के बारे में यही रुख रहता है। जो थोड़ी-बहुत ईर्ष्या उत्पन्न भी होती है वह दूसरे की वस्तु को अपनी से अच्छी देख कर ही। वह सर्वभक्षी उत्तेजना उन में उत्पन्न नहीं होती, जो आज एकपत्नीत्वात्मक अधिकारों का हनन होते देखने पर होती है। आप उस आदमी का कचूमर निकाल देंगे, जो आप के पढ़ने के कमरे में घुस कर, आप की गद्‌देदार कुरसियों पर बैठ कर, आप की किताबों को बिना इजाजत पढ़ने लगे। किंतु यही काम यदि वह किसी दूसरे की बैठक में करे या किसी जन-पुस्तकालय में करे, तो आप को रोष तक नहीं आयेगा। आप को इसलिए चिंता होती है कि आप इस से अपनी ठगाई अनुभव करते हैं या आप के अधिकारों पर चोट की जा रही है। यदि आप किसी ऐसी स्त्री से प्रेम करते हैं, जिस के

पास स्वतन्त्र जीवनयापन के साधन हैं और वह दूसरी मित्रतायें भी स्थापित कर लेती है, तो आप इस के लिये इस हद तक नहीं जा पहुँचेंगे कि उस को या उस के मित्रों को पीटने की बात सोचें। यदि आप उसे बुरी तरह चाहते हैं, तो उन सब को दरगुजर कर जायेंगे और उस से बराबर संबंध बनाए रखेंगे और यह भी हो सकता है कि वह भी आप को इस का प्रतिदान देती रहे। किंतु यदि वही आप पर आश्रित होती, तो आप उसे पीटते, उस के मित्रों को पीटते और धरती पर नरक उपस्थित कर देते। लेकिन इन दोनों तरह के मामलों में आप समान रूप से वही हैं, जिन्हें एक ही प्रकार से दुःख पहुंचता है। फिर भी आप की प्रतिक्रियायें भिन्न हैं और लैंगिक ईर्ष्या जैसी किसी भावना के स्थान पर उस समय आप की भेदबुद्धि ही आप के कार्यों को नियन्त्रित करती है। इसी प्रकार यदि साधारण स्त्रीवर्ग स्वाधीन हो जाए, तो लोग स्त्रियों के साथ संबंध रखने में ईर्ष्या या अलगाव की किसी भावना के स्थान पर अपनी भेदबुद्धि से ही अधिक काम लेंगे।

आत्मतुष्ट पुरातनपंथी इस तर्क को ले कर खड़े हो जाते हैं कि वर्तमान शांतिपूर्ण जीवन की अपेक्षा इस प्रकार की परिस्थितियां एक हंगामा खड़ा कर देंगी। इस बात में कोई तर्क नहीं है कि स्त्रियों को यदि उन्हीं की दशा पर छोड़ दिया जाये, तो उन के द्वारा पुरुषों पर मुसीबत आ सकती है या यदि पुरुष स्त्रियों से स्थायी रूप से संबंधित न रहें तो वे आम तौर से दुर्व्यवहार करने लगेंगे। इस के विपरीत, इन कृत्रिम अवरोधों को हटा देने से साधारण जनता के पूर्ण रचनात्मक, कलात्मक और ललित कला सम्बन्धी गुण प्रकट होंगे।

विवाह दंपति में से एक को दूसरे पर जो अधिकार प्रदान करता है, उस का केवल एकपक्षीय विकास ही नहीं हुआ है। स्त्रियां भी अपने पतियों पर ऐसा ही अधिकार रखती हैं, जैसे कि वे केवल उन्हीं की संपत्ति हों और आजकल हम जिन विवाहों को सुखमय समझते हैं उन में पतियों के कलात्मक और सांस्कृतिक आनंद प्राप्त करने के रास्ते काफी रुके हुए हैं, और उन पर उन की प्रिय पत्नियों की ओर से बराबर निगाह रखी जाती है। क्लब से देर में लौटने पर उन पर फटकार पड़ना, या वे रोकथाम जो स्त्रियां अपने पुरुषों पर दूसरी स्त्रियों से मिलनेजुलने के बारे में अदृश्य रूप से लगाए रखती हैं, और अपनी पत्नियों की ओर कम ध्यान हो जाने के भय से पुरुषों की ओर से इस प्रकार के शौक और आदतें न पालने की खबरदारी रखना, ये उन अवरोधों में से कुछ ही हैं, जो स्त्रियों की ओर से पुरुषों पर संपतिजन्य अधिकारों के मातहत चलते हैं।

मनुष्य मात्र के प्रति विवाह ने जो सब से गंभीर उपकार किया है

वह स्त्रियों के मन में ईर्ष्या की प्रवृत्ति का समावेश है। इस संस्था के द्वारा स्त्रियों के अपनी दूसरी साथिनों से मिलने पर बंदिश लगा दी गई। वास्तव में यह स्त्रियों का एक स्वभाव बन गया है कि वे दूसरी स्त्रियों के साथ रहने से कतराती हैं। यह एक बिल्कुल सार्वभौमिक सत्य बन गया है कि कोई भी दो स्त्रियां कुछ समय तक के लिए भी साथ साथ नहीं रह सकतीं, चाहे उनकी आपसी जान-पहचान अथवा संबंध का दरजा कितने ही बड़े या छोटे हों। कुछ ही समाजशास्त्रियों ने स्त्रियों की इस साधारण प्रवृत्ति के कारणों का पता लगाने की तकलीफ गवारा की होगी। कुछ तो यह वजह बताते हैं कि स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा स्वभाव से ही ईर्ष्यालु हैं, जबकि दूसरे कहते हैं कि स्त्रियों के भीतर तेजस् प्रकृति का आधिक्य है और ईर्ष्या की अनुभूति उत्पन्न करना इस तत्त्व का गुण है। यह तो स्पष्ट ही है कि ये व्याख्याएं अत्युक्तिपूर्ण हैं और इस समस्या की जड़ तक नहीं पहुंच पाती, जो शरीरशास्त्र से संबंध रखने की अपेक्षा समाजशास्त्र से ही अधिक संबंध रखती है। नारी की तमाम चेतना उसके जीवन से घिरी हुई है और जीवन में उसकी दिलचस्पी केवल जीवित रहने तक ही है। उसका जीवित रहना इसी पर निर्भर करता है कि अपने पति पर उसका कितना अधिकार है, वह उसका कितना ख्याल रखता है और वह अपने जीवन में उसके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की ओर कितनी कम दिलचस्पी दिखाती है। एक स्त्री अन्य तमाम स्त्रियों को अपनी जन्मजात प्रतिद्वंद्वी और अपने पति के प्रेम को फुसलाने वाली समझती है और इस सर्वमान्य सिद्धान्त से उसका यह विश्वास और भी दृढ़ हो जाता है कि पुरुष साधारणतः बहुपत्नीत्वात्मक स्वभाव के होते हैं और सेक्स के मामलों में विचलित होने से उन पर कोई हरफ़ नहीं आता। इसी रोशनी में स्त्रियां साधारणतः अपने सेक्स की अन्य सदस्याओं को देखती हैं, और इस भय की प्रतिच्छाया ही ईर्ष्या की भावना का पोषण करती है। यहां तक कि माताएं अपनी बेटियों को भी इसी रोशनी में लेती हैं और यदि यह सिद्धान्त मान्य हो जाता है, तो साधारण स्त्रियों के चारित्रिक व्यवहार की व्यवस्था हो सकती है। मां समझती है कि बेटी संभवतः उसके पति के प्रेम को हथिया ले, और यह भय बेटी के कौमार्यकाल में प्रतिलक्षित होता है। जब बेटी का विवाह होता है, तो मां जमाई की ओर स्वाभाविकतः खिंचाव अनुभव करती है, लेकिन इस भावना को दबा लेती है और परिणामस्वरूप बेटी की ओर से गुप्त अथवा खुली ईर्ष्या उसके मन में पलने लगती है। नवविवाहित जीवन के प्रारम्भिक काल में उत्कट प्रेम-जीवन उसकी

भावनाओं को उभार देता है, उस की अवरुद्ध अनुभूतियां जाग उठती हैं। लेकिन मां के भीतर भावनाओं की जो बाढ़ अब उठ खड़ी होती है उन के लिये कठोर नैतिक दमन ब्रेक का काम करता है। वृद्धा हो जाने के कारण वह अपनी गुप्त भावनाओं को सन्तुष्ट करने के लिये जवान उमर की ओर खिंचती है और दामाद क्योंकि अधिक सहानुभूतिपूर्ण संबंध रखता है, अतः वह उस की भावनाओं को उभार देता है। लेकिन ये भावनायें न ही प्रकट की जा सकती हैं और न उन्हें राह ही दी जा सकती है।

समाजशास्त्रीय अनुसंधान से प्रकट होता है कि सेक्स अनुभव में विभिन्नता की इच्छा एक सार्वभौमिक सिद्धांत है, जो हर उमर के स्त्री और पुरुष में समान रूप से मिलती है। उस विवाहित स्त्री के प्रति, जो पहले ही अपने प्रेम के फल प्राप्त कर चुकी है, युवा पुरुष के प्रेम में इस सिद्धांत का सब से अधिक सामान्य रूप प्रकट होता है। जिस विवाहित पुरुष की पत्नी एक बच्चे को जन्म दे देती है, सहसा ही वह उन स्त्रियों के प्रति अनुरक्त हो जाता है, जिन की अब तक कोई संतान नहीं होती। यद्यपि इस तमाम समय में उस की गुप्त कामेच्छा वयस्क स्त्रियों के चारों ओर ही केन्द्रित रहती है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को आसानी से विभिन्न सेक्सों के बीच का आकर्षण कह कर उड़ा दिया जाता है, किंतु इन कामप्रवृत्तियों पर प्रभाव डालने वाला कारण इस साधारण व्याख्या से कहीं अधिक गहराई में है। यदि यह सिद्धांत सार्वभौमिक रूप से मान लिया जाता है कि समानता-समानता से दूर रहती है और असमान वस्तुयें एक-दूसरे की ओर आकर्षित होती हैं, तो जिस पतले आदमी ने मोटी स्त्री से विवाह किया हो, उसे मोटी स्त्रियों से ही प्रेम करते रहना चाहिए। वास्तव में बात यह है कि स्त्रियों व पुरुषों के सेक्स संबंधी व्यवहार इतने छोटे से सिद्धांत में फिट नहीं बैठते। प्रारम्भिक सेक्स प्रवृत्तियों में विरोधि-समागम का नियम काम करता पाया भी जा सकता है, किन्तु यह कहना कि संपूर्ण जीवन में अन्य प्रवृत्तियों से अलग यह अपना काम करता रहता है, कुछ अवैज्ञानिक है। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि आकर्षण केवल शारीरिक ही नहीं होते, बल्कि बहुत सारे गुणों की अपेक्षा रखते हैं, जिन में मानसिक और व्यवहार सम्बन्धी विचार भी सम्मिलित हैं।

यह एक बिल्कुल दूसरी चीज है कि संतानोत्पादन के दृष्टिकोण से यौन आचरण का एक सिद्धांत स्थिर कर दिया जाए। वर्तमान वैवाहिक नियम किसी संतानोत्पत्ति के विचार से विकसित नहीं हुये। ये प्रारम्भिक जादूमंत्रों और संपति के विचारों से उत्पन्न हुये। इन सब के ऊपर, इन्हें सामाजिक विकास के विभिन्न चरणों में व्याप्त जीवन की अवस्थाओं से मेल खाने के

अनुसार ही गढ़ा गया। इस विकास में ध्यान देने योग्य मुख्य कमी यही रही कि इन संस्थाओं ने अल्पतम प्रतिरोध का मार्ग ग्रहण किया, और इसी लिये, बजाए एक निश्चित अच्छाई लागू करने के विचार से समाज के विकास को पूर्वनिर्धारित धाराओं में मोड़ देने के, इन्होंने तत्कालीन अवस्थाओं में फिट हो जाने के लिये उल्टे अपने को ही मोड़-तोड़ लिया और इस का तर्कसम्मत परिणाम यही निकला कि बिल्कुल वैसी ही अवस्थाएं उत्पन्न हो गईं। ऐसे विचार और आदर्श मौजूद हैं, जो निश्चित हैं और इस प्रकार ऐतिहासिक भी हैं कि वे विकास की धारा को उन सुव्याख्याप्राप्त मार्गों की ओर प्रवाहित करते हैं, जिन के बारे में पहले से ही मालूम हैं कि उन में ऐसे गुण मौजूद हैं, जो बड़ी से बड़ी संख्या में लोगों को सुखी बना सकें और अंत में जहां तक संभव हो कम से कम लोगों को उन से असुविधा हो। कभी कभी इस प्रकार के विकास तभी संभव होते हैं, जब कि उन के लिए इस प्रकार के हिंसक प्रयत्न हों, जो वर्त्तमान संस्कारों को खंड खंड कर देते हों और नवीन रूप में संक्रमण करने के लिए इस तरह से अग्रगामी परिवर्त्तन लाएं कि जो लोग इच्छापूर्वक अथवा परम्परा की शक्ति के वश हो कर उन का विरोध करें उन्हें वे नाखुशगवार लगें।

सभी लोगों में ध्यान से देखने पर जो सेक्स अनुभव में विभिन्नता चाहने की प्रवृत्ति मिलती है वह एक उदाहरण से चित्रित की जा सकती है: नवविवाहितों के आपसी व्यवहारों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि आरम्भ में तो वे एक-दूसरे की ओर भारी लगाव रखते हैं, और ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता चलता है यह लगाव घटता चलता है। संतानप्राप्ति के साथ साथ यह जोर बड़ी तेजी से मुड़ कर एक तीव्र गति ग्रहण कर लेता है। प्रत्येक नई संतान के होने पर पत्नी की ओर पति का झुकाव कम होता चलता है। वह पत्नी जो पति के काम पर जाते समय व लौटते समय चुम्बन के लिये मचलती थी, समय के साथ साथ ठंडी पड़ती जाती है, और इस प्रकार की उन छोटी छोटी बातों में रस लेना कम करती जाती है, जो कभी उन के प्रेम जीवन की मुख्य अंग रही थी। बहुतों को इस प्रकार का अवसर प्राप्त करने का अनुभव हुआ होगा, जबकि काम से लौटने पर उन्होंने इस बात पर क्षुब्ध अपनी पत्नी को शांत करने का प्रयत्न किया हो कि उन्हें विलग होते समय का चुम्बन ध्यान नहीं रहा, या सुख की खोज में पारस्परिक प्रयत्नों के लिए, विलग होते समय हाथ हिला कर या कनखियों से जो संकेत किया जाता था वे उसे भूल गये। आकर्षण की इस दिन-पर-दिन घटोतरी को आम तौर से मातापिता के प्रेम का बच्चे की ओर बंट जाना कहा जाता है। यदि किसी को मस्तिष्क के रहस्योद्घाटन करने योग्य आंतरिक दृष्टि

मिली है, तो उस के सामने यह साफ प्रकट हो जायेगा कि यह एक अत्युक्ति-पूर्ण व्याख्या है, जिसका अर्थ यही है कि जिन नैतिक विचारों को एक विशाल जनमत अच्छा समझता है उन से सहमति रख कर कोई अपने आत्मसम्मान को सन्तुष्ट करे। मांबाप को बच्चे से प्रेम होता जरूर है, लेकिन आपसी प्रेम को छोड़ कर नहीं। यदि ऐसी बात होती, तो दूसरी या तीसरी शादी में, जबकि बच्चे मौजूद रहते हैं, पति-पत्नी के आपसी प्रेम का कोई भी कारण नहीं बताया जा सकता। दंपति के पारस्परिक यौन आकर्षण में इस घटोतरी की वैज्ञानिक व्याख्या यही है कि विभिन्नता में अपनी सत्ता का विस्तार करने के साधन खोजती हुई प्रकृति, फैलते हुए जीवन के प्रतिरूप की पूर्णता के प्रत्येक चरण के साथ साथ नए नए अवसर प्रस्तुत करती रहती हैं—एक ऐसा प्रति-रूप, जो पहले से ही स्थापित नहीं रहता, बल्कि प्रगति के साथ साथ विकसित व पोषित होता चलता है। नारी अपने मन के अन्तर्तम भाग में नवीन संतान उत्पन्न करने के लिये नए साथी की तलाश में, और सेक्स अनुभव में विभिन्नता प्राप्त करने के लिए, मचलती रहती है। परिणामस्वरूप वह अपने वर्त्तमान बच्चे के पिता के प्रति एक स्वाभाविक उपेक्षा का अनुभव करने लगती है, लेकिन नैतिक परम्परा नए समागम विकसित करने और इस प्रकार के विचारों में विचरण करने की राह में बाधा बन कर खड़े हो जाते हैं, जो अपवित्र समझे जाते हैं। किसी अन्य वस्तु से वासनापूर्ति होने के अभाव में उस की यह नवीन कामेच्छा संतान के प्रति प्रेम में स्थानांतरित हो जाती है, जिस से भावनाओं का चक्र पूरा हो सके। कुछ विशेष स्त्रियों में यह संक्रमण भारी मानसिक आघात के साथ होता है, जो समय आने पर हिस्टीरिया की आदत में बदल जाता है या और कोई मनोवैज्ञानिक विकार उत्पन्न हो जाता है।

इसके विपरीत यदि दोनों साझीदार नवीन संबंध स्थापित कर लें, तो वे इस योग्य हो जाएं कि अपने नए साथियों के प्रति सेक्स प्रेम की वही गहराई उनके मन में उत्पन्न हो सके और वे एक नवीन प्रेम जीवन का आरम्भ कर सकें, जो कि भावनात्मक दृष्टिकोण से उतना ही पूर्ण और संतोषजनक होगा, जितना उन का प्रथम मिलन था। वर्त्तमान परम्पराएं लोगों के जीवन में जो निराशा आज बिखेर देती हैं उसकी कल्पना इसी से भली प्रकार हो जाती है। लोगों की एक बड़ी तादाद के लिये विवाह ऐसे उत्साहहीन उत्सवों से पूर्ण होने वाले संबंध रह गए हैं, जिन में भावनात्मक विषयों को संतुष्ट करने की अपेक्षा बनावट ही अधिक रह गई है। सेक्स अनुभव एक ऐसा गुण है, जो भावनाओं के लिए एक नवीन पथ का निर्माण करता है और जीवन के लिए एक नई चाह उत्पन्न कर देता है। प्रत्येक

नया अनुभव धीरे धीरे बढ़ते हुए आनन्द के साधनों का एक तरोताजा एवं विस्तृत क्षेत्र उपस्थित करता रहता है, और प्रत्येक बीता हुआ अनुभव पुनर्स्थापना के लिये एक बेदाग और मधुर स्मृति छोड़ जाता है।

उपर्लिखित सत्य को भली प्रकार समझाने के लिये लेखक के अध्ययन के अंतर्गत आया एक मामला पाठकों के सामने रखना आवश्यक हो जाता है। जिस में सेक्स विभिन्नता की स्वाभाविक इच्छा को बलपूर्वक दबाने के फल-स्वरूप स्पष्ट चिह्न, विशेषतः स्त्री के मामले में, परिलक्षित हुए। यह मामला साफ तौर से दुःख का एक ऐसा अनवरत स्रोत उपस्थित करता है, जो उस विशाल जनसख्या के जीवन में प्रवाहित होता रहता है, जो कट्टर एकपत्नीत्व की परम्परा से चिपटी हुई है। इस मामले में केवल यह अन्तर था कि दूसरे लोगों के देखने के लिए दमन के स्पष्ट चिह्न ऊपर हिस्टीरिया के रूप में उभर आए, जब कि दूसरों में ये चिह्न ऊपर नहीं आते, यद्यपि असहनीय उतने ही होते हैं। केवल तसल्ली के लिये धार्मिक शिक्षाओं और पुण्य के विचार उन के दिमाग पर छाए रहते हैं, जो दुःखों का अस्थाई निवारण करने का काम करते हैं। इस मामले में पत्नी के हिस्टीरिया के चिह्न बोल बोल कर उभरे, और जब एक दूसरे युवक को, जो उसी का कोई संबंधी होता था और जिस पर उस ने अपना प्रेम उंडेल रखा था, समय समय पर उस परिवार में साथ रहने का अवसर दिया गया, तो वे चिह्न लोप हो गये। ज्यों ही यह सुविधा हटा ली जाती उस स्त्री में वे ही चिह्न फिर प्रकट हो जाते, जो कभी कभी पागलपन की सीमा तक जा पहुंचते। जब तक दूसरा साथी उस के पास रहता वह उन तमाम विषादमय चिह्नों से मुक्त रहती, जो बिल्कुल वास्तविक होते थे और वह पूर्ण सुखी व प्रसन्नचित्त नजर आती थी। जब पति को उन कारणों का पूरी तरह पता चल गया, जिन का पता लग जाना स्त्री के व्यवहार के कारण कोई कठिन काम नहीं था, तो उस ने उस संबंधी से संबंध तोड़ लिये। नतीजा यह निकला कि वह स्त्री स्थाई रूप से पागल हो गई और संभवतः कभी अच्छी नहीं हो सकेगी। हां, यदि किसी विचित्र संयोग से या उस जानकार पति के आत्मत्याग से उसे उस युवक का संग फिर मिल जाए, और वह इस रोग से मुक्ति पा जाये तो पा जाये।

इस से यह अर्थ नहीं लगा लेना चाहिए कि सभी स्त्रियों में ये प्रवृत्तियां होती हैं। कुछ अपवाद भी हो सकते हैं, लेकिन जब कोई समाजशास्त्री किसी सिद्धांत को विवाद के लिए प्रस्तुत करता है, तो उसे उन अपवादों को छोड़ देना पड़ता है, जो उस के निरीक्षण के अंतर्गत आने अनिवार्य हैं। सामाजिक व्यवहार में व्यक्तियों के आचरण के बारे में कोई एक मोटा नियम नहीं है, यद्यपि किसी विशेष समूह में कुछ चारित्रिक विशेषतायें पाई जा सकती

हैं, जिन के सहारे कोई वैज्ञानिक उस जाति पर लागू होने वाला कोई साधारण नियम सामने रख सकता है। यही बात स्त्री और पुरुषों के सेक्स अनुभव में विभिन्नता की इच्छा रखने के बारे में सत्य है, जो कि एक स्वाभाविक और शरीरशास्त्रीय आवश्यकता है, चाहे इस प्रवृत्ति को राह न दी जाए या अन्य विभिन्न कारणों से प्रकट न किया जाये।

आज लोगों की एक बड़ी संख्या का यह विचार भी हो सकता है कि यदि सेक्स स्वतन्त्रता का यह सिद्धान्त मान लिया जाए और स्वाभाविक अनुभूति के अनुरूप वर्त्तमान वैवाहिक विधिनियमों को सुधार लिया जाए या समाप्त कर दिया जाए, तो किस प्रकार हम इस तरह के सामाजिक आचरण को सभ्य, अथवा जंगली व असभ्य युग से विकसित इस युग का प्रतिनिधि कह सकते हैं? और भी लोग हो सकते हैं, जो सरे आम इस प्रकार की प्रवृत्ति के मौजूद रहने से इनकार करें, लेकिन अपने मस्तिष्क के वैज्ञानिक व शान्तिपूर्ण विश्लेषण से वे स्वयं यह अनुभव करेंगे कि इस कथन की सत्यता का विश्वास उन्हें दिलाने के लिए अब और किसी तर्क की आवश्यकता नहीं रह गई है। किसी प्रवृत्ति की क्रिया को स्वयं अनुभव करना एक बात है और सरे आम उसे मान लेना सर्वथा दूसरी। यह गुण साधू, विद्वान् और वैज्ञानिक में होता है, जो सच्चाई को लोगों की वाहवाही से और उन परम्पराओं से ऊपर थामे रखते हैं, जिन्हें वे लोग अपनी शिक्षा और संस्कारों के वशीभूत हो कर चिपटाये रखते हैं।

प्रथम विचार पर लौटते हुये यह परीक्षण करना जरूरी हो जाता है कि स्वयं सभ्यता के क्या माने हैं। जीवन की अवस्थाओं के अनुकूल व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण को ढालने की प्रक्रिया का नाम ही सभ्यता है। ये प्रक्रियायें अथवा ढलाव स्वयं इन्हीं के द्वारा विकास, या प्रगति के गुण के लिए पीछे लौटने में, कदमों की तरह नहीं नापे जा सकते, या पीछे लौटना ही स्वयं जीवन की प्रगति है। यदि स्वयं वह जीवन ही कुछ ऊंची, अधिक संतोषप्रद, अधिक प्रसन्नतापूर्ण और प्राकृतिक अनुभूतियों व भावनाओं के अधिक अनुकूल है, तो वही जीवन जीवित रहने के लिए अधिक उपयुक्त समझा जा सकता है। कोई भी वस्तु जो इस अवस्था को कुछ दान करती है वही सभ्यता है। केवल इसी कारण से कि मानवता के जीवन के एक और दूसरे कदमों के बीच में कुछ समय गुजर गया है, वे तमाम प्रक्रियाएं जो इन चरणों के साथ रही या वे तमाम सुधार और सामाजिक आचरण, जो इस अंतरिम काल में घटित हुए, सभ्यता की प्रगति के नाम से नहीं पुकारे जा सकते हैं। बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ, उत्पादन के नवीन अभिकरणों के खुलने के साथ, सामाजिक आचरणों के नियमों ने भी अपने

को उन सत्ताधिकारी वर्गों की सुविधानुरूप ढाल लिया, जो अवसरों और साधनों पर अधिकार रख सकते थे। इसी बात से कोई यह परिणाम नहीं निकाल सकता कि सभ्यता ने प्रगति की है या वर्त्तमान जीवन का नेतृत्व करने वाले आचरण के नियम ही केवल सभ्यता के नियम हैं। निर्णय सत्य के अन्वेषक के लिए सुरक्षित रहना चाहिये, ताकि वह यह निर्धारित कर सके कि उन मूल्यों के अनुसार, जिन की स्थापना सब से पहले होनी है, मानवता के विकास में कौन से चरण सभ्य और श्रेष्ठ समझे जाने चाहियें और कौन से चरण उन की अपेक्षा घट कर माने जाने चाहियें। हो सकता है कि वर्त्तमान ज्ञान, सामाजिक अवस्थाओं, नस्लों के जीवन और संगठन की पहुंच के भीतर स्थापित ये मूल्य बड़े मूल्य हों या अंतिम सत्य हों।

इन कारणों से मानव के सामाजिक संगठन और जीवन की विभिन्न अवस्थाओं की श्रेणियों पर कोई निर्णय दे देना अपरिपक्व एवं अवैज्ञानिक है। श्रेष्ठता निर्धारित करने वाले मूल्य समय समय पर बदल सकते हैं। मुद्गर चलाने वाला आदमी सशक्त कलम चलाने वाले विचारक या धुंआंधार बोलने वाले वक्ता अथवा योजना बनाने वाले राजनीतिज्ञ से नीचा या ऊंचा हो सकता है, विशेषकर तब जबकि एटम बम चलाने वाले की ओर से भी इस सभ्यता की अच्छाई का दावा हो सकता है। लेकिन इस सभ्यता का उपयोग क्या है ? और यदि स्वतन्त्रता, विशेषकर व्यक्तिगत स्वाधीनता को भी इस मूल्यों की लिस्ट में जोड़ दिया जाये, तो प्रगति की दिशा निर्धारित करने में भारी कठिनाई आ पड़ती है।

सब से अधिक विश्वासोत्पादक तर्क जो विवाह के विषय में दिया जाता है वह यह है कि विवाह संबन्ध द्वारा निर्मित पारिवारिक बंधनों के बिना बच्चों की शिक्षादीक्षा का संतोषप्रद ढंग से संपन्न होना असंभव हो जाएगा। समाज के प्रारम्भिक संगठन में बच्चों की शिक्षादीक्षा पूर्णत: माताओं की जिम्मेदारी थी। रहनसहन के लिए सामान जुटाने और बच्चों की व उन के गर्भकाल व जन्मकाल में मां की रक्षा का काम पिता के कंधों पर डाल कर सभ्यता ने उस ज़िम्मेदारी को दोनों साथियों में विभाजित कर दिया। उस समय के साहसपूर्ण जीवन से जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी उस से सुलझने का यह एक ढंग था। केवल इसी कारण से यह निष्कर्ष निकालना कि बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के संतोषप्रद ढंग से संपन्न होने के लिए पैतृक सुरक्षा ही एक मात्र हल है, तर्क की टांग पकड़ कर खींचना होगा। इस हल में भी कमियां थी, यह इसी से प्रकट है कि संतानोत्पत्ति से पहले मां ने जो सेक्स का प्रतिदान पिता को दिया था उस के बदले पिता ने बच्चे व मां की देखभाल रखने से इनकार कर दिया। पुरुष ने सुरक्षा प्रदान करने के बदले में स्त्री से अन्य पुरुषों

को छोड़ कर केवल उसी से संबंध बनाए रखने की मांग की। पैतृक प्रेम कोई निपट दया-भावना अथवा भलाई की भावना नहीं थी, बल्कि पुरुष की ओर से अपने पक्ष में किया गया एक कड़ा सौदा था। बच्चों की सुरक्षा का इस से कहीं अधिक भला और तदानुसार सभ्य ढङ्ग मातृसत्तात्मक समाजों में विकसित हुआ, जिसमें कि भाइयों ने इस काम को अपने कन्धों पर लिया। पितृसत्तात्मक व्यवस्था की तरह इस तरीके में स्त्रियों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्पण कर देने की आवश्यकता नहीं पड़ी, न ही तब दूसरे सब गुणों को ताक पर रख कर नारीगुण से सतीत्व का अर्थ निकाला जाता था। भाई या चाचा-ताऊ इस सेवा के उपलक्ष्य में जो पुरस्कार चाहते थे वह यह था कि बच्चे की उत्पादक शक्तियां पारिवारिक संघ में सम्मिलित हो जायें। मातृ-सत्तात्मक समाज में बच्चे और चाचाताऊ के बीच के संबन्धों की तुलना किसी प्रकार भी पितृसत्तात्मक समाज में पति के प्रति पत्नी की दासता से नहीं की जा सकती। परिवार की एकता किसी प्रकार की जोरजबरदस्ती की अपेक्षा सहयोग और नैतिक लगाव से ही अधिक संबद्ध थी। अत्याचार से पूर्ण पिता या पति के अधिकार के मुकाबले इस प्रकार की व्यवस्था स्वयं ही अपनी प्रशंसा में बोल उठती है। यदि नीतिशास्त्र से अधिक सम्मत परिवार की मातृसत्तात्मक संस्था सार्वभौमिक रूप से पितृसत्तात्मक परिवारों के रूप में बदल भी गई, तो इस का कारण यह नहीं है कि इस में नैतिक निश्चितता थी, बल्कि इसलिए कि इस में बढ़ती हुई आर्थिक आवश्यकता को आत्मसात् कर लेने की क्षमता अधिक थी।

समाज के वर्त्तमान विकास में बिना व्यक्तिगत स्वाधीनता का समर्पण किए मां और बच्चे की देखभाल के लिये अन्य संभावनायें प्रकट हो गई हैं। राज्य के अभिकरण द्वारा अथवा जाति के सहयोगात्मक उद्यम से अधिक न सही, तो कम से कम इतनी ही सुरक्षा की गारंटी हो सकती है, जितनी कि अब है। यदि जाति या राज्य द्वारा वर्षा के विनाश से, मानवता के प्राकृतिक व तात्त्विक शत्रुओं से, आर्थिक अनिश्चितता से सुरक्षा मिल सकती है, तो कोई कारण नहीं है कि राज्य अथवा जाति की सेवाओं को इतना विस्तृत न किया जा सके कि उस में ये अनिवार्य आवश्यकतायें भी आ जायें। स्त्रियों की बढ़ती हुई संख्या अपने जीवन-यापन के लिए स्वयं अपने उत्पादक श्रम पर निर्भर रहने को बेहतर खुशी का साधन मानती जा रही हैं, और यह भी स्वाभाविक है कि माताओं की बढ़ती हुई संख्या अपने प्रसव काल राज्य के जच्चाबच्चा अस्पतालों में गुज़ारना अधिक सुविधाजनक ख्याल करने लगें और अपने बच्चों को पतियों की सुरक्षा में छोड़ने के बजाए राज्य अथवा जाति द्वारा संगठित शिशुशालाओं या किंडरगार्टन में देखभाल के

लिए छोड़ दें।

इस बात के बारे में निर्णायक प्रमाणों का अभाव है कि जो बच्चे पारिवारिक प्रभाव, विशेषकर पैतृक देखभाल और अधिकार से अलग पलते हैं वे बड़े हो कर पूर्ण विकसित व सुसंतुलित व्यक्तियों के रूप में परिणत नहीं होते। इस के विपरीत इस बात के निर्णायक प्रमाण मिलते हैं कि पारिवारिक वातावरण से बिलकुल अलग पले हुये बच्चों के पोषण की अपेक्षा अस्वास्थ्यकर पारिवारिक प्रभाव बच्चों की मनोवैज्ञानिक असंगतियों के विकास में अधिक सहायक होते हैं। बच्चों की देखभाल से संबंधित बड़ी बड़ी बातें व दैनिक कर्म सहयोग से संगठित संस्थाओं को हस्तांतरित कर दिए जायेंगे, इस तथ्य से मातापिता के अपने बच्चों का प्रेमपूर्ण पथप्रदर्शन करते रहने और उन्हें अपना लाभप्रद संग प्रदान करते रहने की संभावनायें समाप्त नहीं हो जाती। यदि वे, विशेष रूप से पिता, ऐसा नहीं करते, तो तमाम पुण्य व धार्मिक भक्ति के उपदेशों का खोखलापन और भलाई के आवरण का झीनापन साबित होने के लिये यह काफी प्रमाण हो जाता है, तथा मानवता से संबंधित तमाम ऊंची भावनाओं व सज्जनताओं का पर्दाफाश हो जाता है। यह स्वीकार करना कि चाहे पुलिस की शक्ति के रूप में और चाहे धार्मिक शिक्षादीक्षा व परम्परा द्वारा सुरक्षित कठोर नैतिक नियमों के रूप में, बिना किसी बाहरी अधिकार के मनुष्य, स्वभाव व अनुभूति से, जीवन व चरित्र की कोमल भावनाओं के समस्वर कार्य करने में अक्षम है, इन आदर्शों व तरीकों को लाभरहित मान लेने के बराबर है। यह प्रमाणित करने के लिये और अधिक तर्क की भी आवश्यकता नहीं है कि ये नैतिकतायें सर्वथा असफल रही हैं। बुराई की शक्तियों को बढ़ाचढ़ा कर बयान कर के अच्छाई के विचार को लागू करने से बुराई के अस्तित्व को बल मिला और बुराई को दूर करने की चेतना से ही अच्छाई के तमाम चिह्न दूर हो गये। यह भी एक कारण है कि हमें आने वाली सामाजिक व्यवस्था को भिन्न नैतिक विचारों पर निर्मित करना चाहिए।

परिवार की सीमाओं में बन्द रहने और मातापिता के तीव्र प्रेम की अपेक्षा बच्चों को अपने हितों को समझने तथा आत्मविश्वास को विकसित करने के लिये दूसरे बच्चों के संग की आवश्यकता रहती है। इस के लिहाज से घर की चारदीवारी की बनिस्बत राज्य अथवा समुदाय द्वारा स्थापित शिशुशालायें, शिशुपालनगृह और किंडरगार्टन अधिक आदर्शपूर्ण व बच्चों के उठान के पोषक हैं। इन संगठनों की विशालता और साधन यह संभव कर देते हैं कि बच्चों को उन वयस्कों के द्वारा पथप्रदर्शन दिया जा सके, जो अपनी विशेष शिक्षा व अनुभवों के कारण अनाड़ी मांबाप के मुकाबले में अधिक

योग्य हैं। ठीक जिस प्रकार भट्टों के लिए सुरक्षित भूमि की अपेक्षा अनुभवों की विभिन्नता प्रदान करने वाली तथा कठोर वास्तविकताएं प्रस्तुत करने वाली आज की लड़खड़ाती दुनिया की उपजाऊ भूमि प्रतिभा के पोषण के लिये अधिक उपयुक्त है, उसी प्रकार आने वाले कल के जनशिशुगृह बच्चों की बड़ी संख्या को अनुभव प्रदान करेंगे और आजकल के बच्चों में अधिक संख्या व गुणों में प्रतिभाओं का विकसित होना संभव बना देंगे। साथ ही परिस्थितियों से उत्पन्न होने वाली निराशा भी आज की अपेक्षा उस समय बहुत कम रह जाएगी।

विवाह उन्हीं समाजों में सुख प्रदान कर सकता है, जहां स्त्रियों और पुरुषों की संख्या बराबर है। हो सकता है कि जहां इस प्रकार की अवस्थायें हैं वहां भी इस से उन लोगों के सुखसौभाग्य में कोई बढ़ोतरी न हो सके, जो आर्थिक, सांस्कारिक अथवा अन्य किन्हीं कारणों से किसी सम्बन्ध में बंधना अपने लिये कठिन अनुभव करते हों। आज बहुत बड़ी संख्या में ऐसी स्त्रियाँ भी मौजूद हैं, जिन के लिये मातृत्व का अनुभव वर्जित है, एक ऐसा अनुभव जिसकी कट्टर से कट्टर नीतिज्ञ भी प्रशंसा करता है। यदि कोई अपना व्यक्तित्व, मेरा मतलब है एक ऐसा व्यक्तित्व रखने वाली स्त्री, जो एक सबल और सुविकसित मस्तिष्क का गुण होता है, कोई संतान प्राप्त करना चाहे, तो उस के सम्मुख इसके अतिरिक्त और कोई राह नहीं है कि वह अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की बलि दे कर तमाम उम्र के लिए अपने आप को किसी एक पुरुष के हवाले कर दे। किसी ऐसे पुरुष से संतान उत्पन्न करने का विचार, जिसके साथ कोई सम्पूर्ण भविष्य के लिये पति-पत्नी का नाता न जोड़ना चाहे, अनैतिक समझा जाता है और कुछ ही स्त्रियां इस प्रकार की बदनामी का सामना करने का साहस रखती हैं। अवैध शिशु को अपना जीवन एक सामाजिक रूप से बहिष्कृत व्यक्ति की तरह आरम्भ करना होता है और इस प्रकार के बच्चे की माता की सामाजिक स्थिति वेश्या से भी गई-बीती रहती है। वेश्या के प्रति तो कोई विवाहित पुरुष भी गुप्त प्रेम-भावना रख सकता है, लेकिन उस स्वतन्त्रता प्रेमी नारी के प्रति कोई इस प्रकार की भावना नहीं रखता, जो मातृत्व के जीवन और अनुभव की कामना तो करती है, किन्तु इस हद तक नीचे नहीं उतरती कि हर ऐरेगैरे के लिये शारीरिक सुख का खोमचा लगा कर बैठ जाए। यह विषय बर्नार्ड शॉ के नाटक 'विवाहित होना' (अं०) की प्रस्तावना में उनकी इस स्वीकारोक्ति से और भी स्पष्ट हो जाता है : "इस प्रश्न के विवाद का मेरा अनुभव मुझे इस विश्वास पर ले आता है कि वर्त्तमान कानून के विरुद्ध जो विकट गुप्त विद्रोह आज सभी

स्त्रियों की ओर से चल रहा है उसका एक कारण यह है कि जब तक वह पुरुष की दासी न बन जाए तब तक किसी बच्चे पर अपना अधिकार स्थापित नहीं कर सकती। किसी दूसरी स्त्री की संतान को गोद लेना, मांग लेना, खरीद लेना या चुरा लेना कोई इलाज नहीं है। इस से संतानोत्पत्ति का सर्वोत्कृष्ट अनुभव प्राप्त नहीं होता।"

जब तक विवाह एक धार्मिक संस्कार रहा कुछ ही लोगों ने यह सवाल उठाने की परवाह की कि विवाह के दोनों पक्ष किसी प्रकार का आपसी संतोष लाभ भी कर सकेंगे या नहीं। यदि अनमेल विवाह हो जाता था, तो दोनों पक्ष बड़े संतोष के साथ एक-दूसरे को छोड़ देते थे और दूसरी दुनिया की कल्पना में सुख की खोज करने का प्रयत्न करते थे। इस दुनिया के दुःखों के बदले में उस दुनिया में सुख प्राप्त होने की प्रत्याशा रहती थी। यह विचार सभी स्त्रियों का स्वभाव बन गया था, लेकिन चाहे धर्म ने पाप के फल का कितना ही वीभत्स चित्रण क्यों न किया हो, पुरुष बहुत कम इस प्रकार विश्वास करने के लिये तत्पर हुये। श्री जी० वी० हैमिल्टन द्वारा किए गए सौ विवाहों का अध्ययन करने पर पता चला कि उन में पैंतालिस प्रति शत स्त्रियाँ और उनन्चास प्रति शत पुरुष सन्तोष लाभ करने में असफल रहे, और यदि जो संस्था जनजीवन के लिये इतनी महत्त्वपूर्ण और आवश्यक समझी जाती हो उस से इतनी अधिक मात्रा में असंतोष मिलता हो, तो समझ में नहीं आता कि क्या सुखसुविधा इसके लागू रहे चले आने में निहित है।

विवाह को जिस रूप में आज समझा जाता है वह दंपतियों में इतने व्यापक सेक्स के अनमेलपने का कोई भी इलाज प्रस्तुत करने में असमर्थ रहा है। जो विवाह असफल प्रमाणित हो गये हैं उनमें अभिन्न रूप से सेक्स का अनमेलपना ९९·९ प्रति शत पहुंच जाता है, जब कि उन विवाहों में जिन्हें साधारण समझा जाता है, यह पुरुषों में ५५ प्रति शत और स्त्रियों में ७७ प्रति शत मिलता है। इन अध्ययनों में फिर भी दंपतियों की कामेच्छा की विभिन्नता, उनकी स्वाभाविक अयोग्यता और दूसरे विभिन्न कारणों को कोई महत्त्व नहीं दिया गया, और अगर इन्हें भी जोड़ लिया जाए, तो जिन विवाहों को सफल कहा जा सकता है उनका प्रति शत फल शून्य पर आ टिकेगा।

ये अवस्थायें तो इस सर्वमान्य विचार के होते हुए मौजूद हैं कि स्त्रियां स्वभावतः एकपतित्वात्मक समझी जाती हैं। इस मान्यता की सचाई के संबन्ध में केवल उन लोगों के उद्धरण ही दिये जा सकते हैं, जो सेक्स के प्राणिशास्त्र में अधिकारी ख्याल किए जाते हैं, यद्यपि केवल इसी

कारण से उन्होंने अपने कथनों में भारी संकोच से काम लिया होगा :
१ "इस जाने-पहचाने दावे के सम्बन्ध में, कि स्वभावत: पुरुष बहुपत्नीत्वात्मक होते हैं और स्त्रियां एकपतित्वात्मक होती हैं, हम हैवलॉक एलिस से सहमत हैं कि इस में शब्दों का प्रयोग गलत है। यदि इस वाक्यखंड में 'बहुपत्नीत्वात्मक' के स्थान पर 'बहुप्रेमिक' और 'एकपतित्वात्मक' के स्थान पर 'एकप्रेमिक' होते तो यह अधिक सार्थक होता। हमारी वर्त्तमान संस्कृति के ढांचे में रहते हुए कुछ ही लोग ऐसे होंगे जो एक से अधिक स्थाई विवाह चाहते होंगे, यद्यपि वे कभी कभी एक से अधिक सेक्स-संबंध की कामना कर सकते हैं। इस से भी कम व्यावहारिक बात किसी स्त्री के लिये यह है कि वह विभिन्न पिताओं के स्वामित्व के भीतर दो परिवारों के साथ चल सके, यद्यपि वह अब भी इस योग्य हो सकती है कि जिस पुरुष से उसका विवाह नहीं हुआ है उसे लैंगिक रूप से अपनी ओर आकर्षित कर सके। पुरुषों की भांति स्त्रियां भी इस योग्य हैं कि वे एक ही समय में एक से अधिक व्यक्तियों के प्रति अनुरक्त हो सकें, यद्यपि हैवलॉक एलिस के कथनानुसार आम तौर से उनका सेक्स सम्बन्धी चुनाव अधिक गुणापेक्षी होता हैं। जब हम इस बात का ध्यान रखते हैं कि एक स्त्री के लिये सेक्स का कितना बड़ा महत्त्व है और उसके चुनाव में सामाजिक व अन्य विचार कितना बड़ा भाग लेते हैं, तो यह आश्चर्यजनक भी नहीं है। सेक्स व्यवहार के प्रति उनके इस रुख के अतिरिक्त यह कहा जा सकता है कि स्त्री और पुरुष समान ही हैं। वे एकसंबंधात्मक है और साथ ही साथ बहुप्रेमिक भी हैं।"

मैंने ऊपर का उद्धरण इस बात के प्रमाण में दिया है कि स्त्री और पुरुष दोनों ही के लिए एकपत्नीत्व से लगाव और बहुप्रेमिक भावनाओं की स्वीकारोक्ति की दो अनुभूतियों में किस प्रकार पारस्परिक विरोध है। यह इस युग के दृष्टिकोण के लक्षण को प्रकट करता है, वह लक्षण जो उन समस्याओं के पार देखने में अपनी अयोग्यता प्रकट करता है, जो विकृतियों से पूर्ण एक गोले में चक्कर काटती दिखाई पड़ रही हैं। यदि बहुप्रेमिक भावना को स्त्रियों और पुरुषों दोनों की साधारण प्रवृत्ति मान लिया जाए, तो इस प्रकार की उदारता के साथ एकपत्नीत्व को कब तक कायम रखा जा सकता है ? यह एक समस्या है, जो प्रनकर्त्ता को चक्कर में डाल देती है।

विवाह संस्था को कायम रखने के लिये बहुत से उपचार प्रस्तुत किए

---

१. 'सेक्स फिजियोलॉजी (दैहिकी)' (अं०), कैनिथ वाकर, लंदन पेंगुइन पुस्तक-माला।

गए हैं। युगल स्त्री—पुरुष की औपचारिक परीक्षा से ले कर विवाह से पूर्व दृष्टिकोणों, विचारों, और प्रेरणाओं आदि के पूर्ण विनिमय तक, और कुछ मामलों में परीक्षात्मक विवाहों तक भी ये सम्मतियां आज की समस्याओं में से सब से अधिक विषम इस समस्या पर विभिन्न मतों को प्रकट करती हैं। औपचारिक परीक्षा केवल शारीरिक कमियों और कुमेल को जाहिर कर सकती है, लेकिन दंपति के मानसिक रुझान का उस से कुछ भी पता नहीं चलेगा। किसी प्रकार के वादविवाद के बीच या विवाह से पूर्व काफी समय तक साथ रहने से भी इन मानसिक रुझानों का पता नहीं चलता। रहनसहन के दौरान में सैंकड़ों विषय ऐसे आते हैं, जिन पर दंपति का मतैक्य नही हो पाता या वे क्रोधित हो कर पारस्परिक घृणा का बीज बो लेते हैं। विवाह से पूर्व साथ साथ रहने में अथवा विवाहित जीवन के प्रारम्भिक काल में, जब कि दोनों पक्ष एक-दूसरे को अच्छे ही अच्छे गुण दिखाने की चिंता में रहते हैं, ये मानसिक रुझान प्रकट नहीं होते। दूसरे, उस समय एक-दूसरे की कमियां भी पारस्परिक कामना अथवा उत्तेजना में दब जाती हैं। दैनिक जीवन की समस्यायें उस समय उभरती हैं, जब नवीनता का आकर्षण समाप्त हो जाता है और दोनों साथी एक-दूसरे के बाहर-भीतर को अच्छी तरह जान जाते हैं। दूसरे के व्यक्तित्व से घनिष्टता और दिन पर दिन उस के रहस्यों का उद्घाटन होते रहना इस प्रकार के अनुभव होते हैं कि उन्हें किसी प्रयोगशाला में नकल कर के पूर्वालोचना के लिये नहीं रखा जा सकता। एक-दूसरे की कमियों और असफलताओं को जानने के लिये उन्हें एक-दूसरे के भीतर पैठना होगा।

इन्हीं कारणों से परीक्षात्मक विवाह को उपचार के तौर पर रखा जाता है। यदि किसी को परीक्षात्मक विवाह के तरीके से एक से अधिक बार विवाह करना ही है, तो हमें उसे विवाह का नाम देने और एकपत्नीत्वात्मक विवाह से संबंधित नैतिक परम्परा से अनुमति लेने की परेशानी उठाने की ही क्या जरूरत है? बुद्धिमत्तापूर्ण व भयरहित ढंग से अपनी सेक्स की आवश्यकताओं को पूर्ण करने और उसे एक आदरणीय नाम दे देने के अतिरिक्त इस का और कोई अर्थ नहीं है। लेकिन इस जगह एक बात पर नीतिज्ञ लोग आपस में मतभेद रखते हैं : जैसे कि इन परीक्षात्मक विवाहों को जीवन भर के संबन्धों का पूर्व रूप समझा जाता है, अगर दोनों पक्ष इस निर्णय पर पहुंचें भी कि विवाह सन्तोषप्रद होगा या नहीं, तो कब? इस परीक्षात्मक काल का अंत कहाँ होगा यह कुछ निश्चित नहीं किया गया है, और इसी लिये यह बात संदेहास्पद है कि परीक्षात्मक विवाह हो भी सकते हैं या नहीं, क्योंकि जब तक कोई जीवन भर साथ न रहे, तब तक वह संपूर्ण

जीवन के संबन्ध के बारे में अपनी कोई राय नहीं दे सकता। या इस का एक तरीका यह हो सकता है कि वास्तविक विवाह कभी हो ही न और जीवन के अन्तिम दिन तक परीक्षण ही चलता रहे।

इस प्रकार के विवाह के बारे में मनोवैज्ञानिकों का विरोध यह है कि बाद में होने वाले किसी भी विवाह में पूर्व-विवाह की पूर्णता और गहराई नहीं मिलेगी। क्रिचटन मिलर महोदय का भी यही मत है। इस बारे में मनोवैज्ञानिक यह भूल जाता है कि मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से कोई भी दो अनुभव समान नहीं होते। पहला चुम्बन दूसरे चुम्बन से अथवा किसी दूसरे के चुम्बन से भिन्न होता है। खाने का पहला कौर दूसरे, तीसरे या अंतिम कौर से अलग ही प्रभाव डालता है, जब कि अंतिम कौर पर तो मनुष्य को खाने की ओर से अनिच्छा हो जाती है और वह उसे छोड़ कर उठ जाना चाहता है। यदि जीवन का यही उद्देश्य हो कि मनोवैज्ञानिक रूप से मनुष्य एक-दूसरे से एक ही प्रकार के अनुभव प्राप्त करता रहे, तो यह असंभव हो जायेगा और इसी काम में वह अपना समस्त आनन्द व उत्साह, जो अनुभव की विभिन्नता से मिलता है, खो बैठेगा।

परीक्षात्मक विवाह का अमरीकन संस्करण सहयोगात्मक विवाह है, जिस की वकालत जज लिंडसे ने की है। उन्हीं के शब्दों में :

[1]"सहयोगात्मक विवाह, जैसा कि मेरा ख्याल है, जैसा कि समय समय पर समाजशास्त्रियों ने इस की व्याख्या की है, और जैसा कि वर्षों तक इस के बारे में हमारे समाजशास्त्रीय प्रकाशनों में एक प्रमुख पत्र 'जर्नल आफ़ सोशल हाइजीन' में वादविवाद होता रहा है, एक ऐसे कानूनी विवाह-बन्धन की अवस्था है, जिस में प्रेम के लिये, साथ रहने के लिये और सहयोग के लिये वे व्यक्ति प्रवेश करते हैं, जो अपने स्वास्थ्य, माली हालत और स्वभाव आदि के कारण विवाह के समय परिवार का उत्तरदायित्व ग्रहण करने के लिये तत्पर नहीं होते।

"यदि विवाह के इस रूप को कानून से मान्यता मिल जाती है, तो जो लोग इस में प्रवेश करेंगे वे बिना एक विशेष लाइसेंस सरकार से प्राप्त किये संतानोत्पादन न करने की प्रतिज्ञा करेंगे, और राज्य इस उद्देश्य से उन्हें वैज्ञानिक जन्मनिरोध की शिक्षा देगा। वह उन्हें किसी जन-कल्याणगृह में, इस उद्देश्य से कि वे एक ऐसी जानकारी के साथ विवाह में कदम रख सकें जिस से उन भूलों से बचा जा सके, जो अज्ञानता, मूर्खता और दूसरे कारणों से पैदा होती हैं और बहुत से विवाहों को

---

१. 'सहयोगात्मक विवाह' (अं०), ले० श्री बी० बी० लिंडसे।

खंडित कर देती हैं, सेक्स के महत्त्व और प्रेम की कला के बारे में भी शिक्षा देगा ।"

अमरीकनों के विवाहित जीवन में असंख्य निराशापूर्ण स्थिति तक पहुँचे मामलों का अध्ययन कर के ही जज लिंडसे महोदय इन निष्कर्षों पर आए हैं । जब कि अमेरिका में जन्मनिरोधक वस्तुओं की बिक्री पर प्रतिबंध है, और फिर भी जन्मनिरोध के तरीकों का प्रचार अपना काम करता जा रहा है, तो वहां सहयोगात्मक-विवाह प्रथा चलाने के माने हैं कि उस जन्मनिरोध के प्रचारकार्य को और भी अधिक सहारा दिया जाए, ताकि वे उभरती हुई पीढ़ी के संपूर्ण स्तर को ढांक ले । बिना सामान्य सेक्स संबन्धों में विचरण किये इस प्रकार के मेलजोल गांठ लेने से या तो लोग सेक्स की ओर से विकृतमना हो जायेंगे या ऐसे प्रमाणित स्नायुरोगी हो जायेंगे कि बाद में सामान्य विवाह बंधन में प्रवेश करने के अयोग्य हो जायें । लड़कियों के मामले में यौनतुष्टि के इन सहायक साधनों को काफी लम्बे अरसे तक अपनाये रहने से वे सामान्य संबन्धों से सन्तोष प्राप्त कर सकने में असमर्थ हो जायेंगी । यदि सहयोगात्मक विवाह से सेक्स की समस्याओं के लिये कोई बुद्धिमत्तापूर्ण हल प्रस्तुत करने का यही मतलब है, तो इस बात की कठिनाई से ही कोई आवश्यकता प्रतीत होती है कि राज्य की जाब्ताबाजी को उभारा जाये या एक ऐसी व्यवस्था के ऊपर से धूल झाड़ी जाए, जिस के पैरों तले से इसी लिए जमीन खिसकी जा रही है कि उस से अच्छी स्थिति आनी ही है ।

यह बात मानने योग्य है कि प्रेम की प्रारम्भिक अवस्थाओं में, जबकि सेक्स कामना अपने उत्कर्ष पर होती है, प्रेम के दोनों पक्ष इस प्रकार की प्रवृत्तियां दर्शाते हैं कि एक-दूसरे को केवल अपने लिये ही चाहता है । सार्वभौमिक अनुभव से यह बात पाई गई कि यदि दोनों पक्षों को अपनी अपनी कामनाओं को सन्तुष्ट करने का अवसर दे दिया जाए, तो ये भावनायें समाप्त हो जाती हैं । अधिकतर उदाहरणों में, इस के विपरीत, लगातार संबन्ध बने रहने से पारस्परिक घृणा विकसित हो जाती है और मेल-कुमेल हो जाता है । जिन्हें कभी हंस कर उड़ा दिया जाता था वे भावनायें अब गम्भीरता ग्रहण कर लेती हैं और युगल प्रणयी के प्रेम की प्रारम्भिक अवस्थाओं में जो गहराई और उत्तेजना उन के हृदयों में पैंठ जाना चाहती थी उन का उद्देश्य तितरबितर हो जाता है । इन कारणों से विवाह को यदि एक प्रथा के रूप में स्थापित रखना ही है, तो इस से सम्बंध रखने वाले नैतिक विचारों को इस प्रकार सुधारना होगा, जिस से विवाह बन्धन में बंधना और अलग होना आसान और बुद्धिगम्य हो जाए और

जो स्वाभाविक अनुभूति के अचानक उत्पन्न हो जाने को भी उचित राह दे सके। दोनों सेक्सों की आर्थिक बराबरी से निवास स्थान, शिक्षा, बच्चों की संरक्षकता, और सम्बन्ध के लगातार बने रहने के लिये दोनों पक्षों की एक-दूसरे के प्रति भक्तिभावना, ये सब सवाल नैतिक विचारों और कानूनों से स्थापित परम्पराओं की अपेक्षा उस सम्बन्ध के दोनों पक्षों द्वारा निश्चित होंगे।

• • •

नकारात्मक और सकारात्मक नीतियां

जीवन का भारतीय दृष्टिकोण स्वभावत: नकारात्मक है। यदि ज्ञान को सुरक्षित रखना है, तो उस के लिये भारतीय हल यह है कि तथ्यों को याद रखा जाए और मुंह के द्वारा निकले हुए शब्दों से ही उन्हें उत्तराधिकार में दे दिया जाए। कुछ ही लोग लंबेलंबे मत्रों को याद रख सकते हैं और इसी लिए ज्ञान के क्षेत्र तक जिन लोगों की पहुंच है उनकी संख्या सीमित है। गद्य को याद रखना कठिन होता है, इसलिए विचारों को पद्य में आबद्ध कर दिया गया। मानव मस्तिष्क की सीमित शक्ति के अनुरूप एक इस प्रकार की भाषा गढ़ी गई, जो संक्षिप्त हो और परस्पर संबद्ध हो, और जिसका प्रत्येक शब्द विभिन्न प्रकार से अनुवाद किया जा सके और भिन्न अर्थ दे सके। समस्या के किसी दूसरे हल का अर्थ होगा कि लिपि बनाई जाये, पुस्तकें लिखी जाएं, और एक विस्तृत जनक्षेत्र में ज्ञान का प्रचार किया जाए। यदि परिस्थितियां ज्ञान के अधिक विस्तार की आवश्यकता उत्पन्न कर देती हैं, तो इस प्रकार की लिपि बनाई जाती है जो व्यंजन प्रधान हो, ताकि वह अधिक जनप्रिय न बन सके। यदि देखा जाता है कि कपड़े पहनना जरूरी है, तो वे ऐसे होने चाहिए कि सिलाई की आवश्यकता न पड़े। इन्हें बार बार धोना और रखना पड़ता है, इसलिये ये अधिक से अधिक खुले हुए होने चाहिए। इच्छाओं से काम करना अनिवार्य हो जाता है, इसलिये कम से कम इच्छायें रखनी चाहिए। सांसारिक जीवन में परेशानियां होती हैं, इसलिये उसे छोड़ देना चाहिए। चालू समस्याओं का हल खोजना कठिन है, इसलिये मस्तिष्क दूसरे जन्म की कल्पनाओं में व्यस्त रखना चाहिए।

इस नकारात्मक निष्कर्ष में सेक्स और नैतिकता भी कोई अपवाद नहीं हैं। सेक्स को बहुत प्रारम्भ से एक बुराई के रूप में लिया जाता रहा है। संभवत: केवल इसी विषय में यूरोपीय नीतिज्ञ इस नकारात्मक दृष्टिकोण से सहमत हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रारम्भिक-तम भारतीय भी सेक्स को पाप समझते थे। मातृत्व की उर्वराशक्ति की प्रार्थना की जाती थी। विश्व भर की प्रारम्भिक संस्कृति में लिंग-पूजा का प्राधान्य था। केवल इसी कारण से यह अनुमान लगा लेना चाहिए कि सेक्स के साथ पाप का पुछलग्गा बहुत बाद में जुड़ा।

अब यह बताना बहुत कठिन है कि किस चीज ने लोगों को सेक्स

को पाप समझने के लिए बाध्य किया। संभवतः जनसंख्या में बढ़ोतरी के कारण जीवन दूभर हो गया हो। यह मानने का कारण है कि जिस गति से विश्व के निवासियों की संख्या बढ़ती रही उसी तरह से प्राकृतिक शक्तियों का शोषण करने के विकसित साधनों में प्रगति नहीं हुई। इसके सीधे परिणाम-स्वरूप जो मुसीबत आ कर पड़ी उसे सेक्स के या नस्लों के विस्तार के कार्य के सिर मंढा गया। यही बात आज भी सच है। सेक्स को गुनाह करार देना जन्म-निरोध के लिए पहला हथियार था।

नैतिकता की कोई संतोषप्रद व्याख्या देनी संभव नहीं है। अब तक की तमाम इस प्रकार की व्याख्याएं उन समयों में प्रचलित अच्छाई या बुराई के विचारों के भीतर चक्कर काटती रही हैं। कम या ज्यादा नैतिकता एक सामाजिक मान्यता है, एक लोहे का गज है, जिस से कार्यों को उनके द्वारा होने वाली सामाजिक अच्छाई के अनुसार नापा जाता है। कम से कम इसी कारण से नैतिकता सामाजिक अवस्थाओं के साथ साथ बदल जाती है। पूर्ण नैतिकता कोई चीज नहीं है, जैसा कि पुराने दार्शनिकों ने मान रखा था। नैतिकता के जो अर्थ साधारणतः आज समझे जाते हैं, जब उन पर विचार किया जाता है, तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। नैतिकता का विचार यौन-नैतिकता तक ही सीमित है। कोई भी इस हद तक नहीं जाएगा कि किसी चोर को अनैतिक कह दे, कम से कम यदि वह चाहता है कि हर खासोआम उसे ठीक ठीक समझ ले। हत्यारे को कोई अनैतिक नहीं कहता। न ही कोई अत्याचारी, अपराधी, स्वभावतः असत्यवादी, पागल या निर्बल मस्तिष्क अनैतिक कहलाते। लेकिन उस स्त्री या पुरुष के बारे में यह बात नहीं है, जो सेक्स के मामले में लापरवाह हैं। वेश्या को अनैतिक कहा जाता है—इसी प्रकार असती स्त्री को तथा विवाहित या अविवाहित पुरुष को भी, जो सेक्स संतुष्टि के लिए एक से अधिक स्त्रियों का संग करता है। कारण यही है कि सेक्स के अवरोध स्वरूप नैतिक नियमों के स्वभाव के कारण ही लोगों के दिमागों में सेक्स की भावना सब से प्रधान है। ऐसे किसी पुराने समाज में जहां सेक्स की स्नायुविकृति व्याप्त नहीं रहती थी—जब कि लोग, जहां तक उन के सेक्स-संबन्धों का सवाल था, बिल्कुल सामान्य ढंग से व्यवहार करते थे—संभवतः नैतिकता सामाजिक जीवन की किसी और दिशा से संबंधित थी, वह दिशा जो उस समय के लोगों के दिमागों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती होगी। वे लोग, जो कबीले के पूजा या भूमि व संपति के अधिकार संबंधी नियमों का अतिक्रमण करते थे, उस समय अनैतिक समझे जाते थे। वह स्त्री जिस का विवाह एक ही साथ या एक एक कर के छः आदमियों से

हुआ हो, वह लड़की जो विवाह से पूर्व चाहे जितने लोगों से बिना भेदभाव के सेक्स-सम्बन्ध रखती चली आई हो, वह पुरुष जो अनेक विवाहित या अविवाहित स्त्रियों की कामेच्छाओं को तृप्त करता रहा हो, ये सब लोग सम्भवतः अनैतिक व्यक्तियों की श्रेणी के बाहर थे।

उन लोगों को छोड़ कर जो कांट की 'श्रेणीबद्ध प्रवृत्ति' में विश्वास रखते हैं या आस्तिक हैं, अन्य सब लोगों के सामने यह स्पष्ट हो गया होगा कि नीतियां अनिवार्य रूप से सामाजिक होती हैं और इसी लिये सामाजिक अवस्थाओं और दृष्टिकोण से संबद्ध होती हैं। वह सीमित अर्थ, जो हम आज नैतिकता के बारे में लेते हैं, हमारे सामाजिक संगठन की इकाई के रूप में अवस्थित एकपत्नीत्वात्मक परिवार से उत्पन्न हुआ है। तमाम नैतिक नियम उस सामाजिक संगठन को स्थायित्व प्रदान करने के लिये विकसित होते हैं, जो सामान्य भलाई का उत्प्रेरक होता है। लेकिन कुछ ही लोग इस बात का ध्यान रखते हैं कि सामाजिक संगठन विभिन्न कारणों से बदल जाता है, जिन में ऐतिहासिक निश्चितता और लोगों की सत्य, सुन्दरता, सुख और स्वतन्त्रता को पहचानने की अभिलाषा भी सम्मिलित होती है।

यदि स्वाधीनतावाद किसी एक समय में चालू सामाजिक संगठन के तानेबाने को विच्छिन्न करने के लिये प्रवृत्त होता है, तो संतुलन स्थापित करने के लिए कट्टर निरोध एक सकारात्मक नैतिक संहिता हो सकती है। किंतु केवल इसी कारण से निरोध सारे आने वाले समय के लिये सकारात्मक नहीं रह सकते। जब कोई नैतिक संहिता प्रगति के मार्ग में रोड़े अटकाना आरम्भ कर देती है, तभी से वह नकारात्मक हो जाती है। जब नैतिक विचार अपना सकारात्मक गुण खो देते हैं, तो कुछ ही नीतिज्ञों में यह बुद्धि होती है कि वे उस के पुनर्निरीक्षण के लिये वकालत करें। परिणाम यह होता है कि सामाजिक प्रगति अवरुद्ध हो जाती है और समाज के विकास की अगली अवस्था हिंसक राजनीतिक अथवा सामाजिक परिवर्तनों से प्राप्त की जाती है। कुछ ऐसा होता है कि तैयारी की पहली या दूसरी अवस्था में ही इस परिवर्तन को जल्दी से प्राप्त कर लेने का प्रयत्न किया जाता है।

प्रगति का चक्र के रूप में होना आवश्यक नहीं है। किंतु अतीत का इतिहास यह सिद्ध करता है कि मनुष्य प्रगति को इसी रूप में कार्य करने की अनुमति देता है। इस प्रतिक्रिया के पीछे भारी क्रांतिकारी आंदोलन छिड़ जाता है। वस्तुतः क्रांतिकारी आंदोलन प्रतिक्रिया को पछाड़ देता है। मनुष्य जीवन को निरावरण करने वाली अनवरत प्रक्रिया से इसलिए अनभिज्ञ नहीं है कि विकास का ऐसा प्रतिमान संभव नहीं है। संस्थाओं के व

सामाजिक जीवन की सहायक वस्तुओं के नकारात्मक व सकारात्मक गुणों में भेद करने योग्य विचारशक्ति जनता के बहुमत में नहीं होती। यहां तक कि दार्शनिक भी उस सीमा को पहचानने में असफल हो जाते हैं, जहां तक कोई शक्ति सकारात्मक रूप में काम करती है और जिस के बाद वह प्रतिरोधक स्वरूप ग्रहण कर लेती है। धर्म इस का उत्तम उदाहरण है। धर्म ने विरोधी उद्देश्यों एवं विश्वासों के बीच से जीवन का एक प्रतिमान विकसित किया और धार्मिक विचार ने तत्कालीन ज्ञान के क्षेत्र से बाहर के बहुत से रहस्यपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला। यहां तो धर्म स्थिति के प्रति सकारात्मक रहा। जिस क्षण से जीवन का नियमन करने के लिये नागरिक नियमों के अभिकरण मान्य हुए और राज्य के विचार ने लोगों के दिमागों में अपनी जड़ जमा ली और आविष्कार के साधनों का विस्तार हुआ, उसी क्षण धर्म और धार्मिक विचार विकास को कुचलने वाली नकारात्मक शक्तियों के रूप में बदल गए।

नीतियों की सकारात्मकता उन के विकास की अस्थाई अवस्था नहीं होनी चाहिए। नैतिक संस्कार न केवल समय के साथ साथ बदल जाने चाहियें, बल्कि उन्हें आने वाले संभव विकास के लिये भी तत्पर रहना चाहिए। विकास की प्रत्याशा रखना और उस उद्देश्य की प्राप्ति के समय तक प्रगति को सुविधा प्रदान करना, ये दो गुण ही यह निश्चित करते हैं कि अमुक नैतिक प्रणाली नकारात्मक है अथवा सकारात्मक।

प्रश्न यह है कि नैतिकता की वर्तमान संहिता किस प्रकार नकारात्मक है? आज जो नैतिकता प्रचलित है वह एकपत्नीत्व की संस्था को सहारा देने के लिए उत्पन्न हुई थी। सफलता प्राप्त करने के लिए एकपत्नीत्व को विशेष आधारभूत अवस्थाओं की आवश्यकता थी। ये अवस्थायें थीं: व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना का दमन, प्राकृतिक साधनों के अधिक सघन शोषण की इकाई के रूप में परिवार की संबद्धता के लिए अधिक उपयुक्त होने की स्वतन्त्रता, और प्रेरणा देने वाले उद्देश्य के रूप में सुख के स्थान पर नैतिक कर्त्तव्य का विचार रखना। अन्तिम कारण एक अगले प्रकरण में अधिक गहरे अध्ययन का विषय है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना परिवार की एकता के साथ मेल नहीं खाती थी। पारस्परिक एकता संभव नहीं, क्योंकि मानव-स्वभाव इस प्रकार का है कि एक लम्बे समय तक दो मस्तिष्क एक सी ही अवस्थाओं में एक ही प्रकार से प्रतिक्रिया नहीं करते। इसलिये यह सोचा गया कि परिवार को पुरुष या स्त्री दोनों में से किसी एक के चारों ओर केन्द्रित रहना चाहिए। उस परिवार को गौरवान्वित करने के लिए, जो विकास की उस अवस्था में उत्पादन की इकाई थी, किसी एक

का बलिदान होना ही चाहिए था। मातृसत्ता तथा पितृसत्तात्मक परिवार विकास की इन दो शाखाओं के प्रतिरूप हैं। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, परिवार के इन दोनों रूपों की ऐतिहासिक गति निश्चित थी। पूंजीवाद के उद्भव से साथ साथ पितृसत्ताधारी एकपत्नीत्वात्मक परिवार ने, जो इन परिस्थितियों में जीवित रहने के लिये अधिक उपयुक्त था, परिवार के दूसरे सब प्रकारों को निकाल बाहर किया क्योंकि शोषण के क्षेत्र और उत्पादक श्रम में मनुष्य अब अधिक बलवान हो गया था। शरीरशास्त्र संबंधी कारणों से स्त्रियाँ प्राकृतिक व औद्योगिक साधनों के शोषण में इतनी अधिक अग्रगामी नहीं थी, जितना कि पुरुष था। सामयिक गर्भकाल, बच्चों के पालनपोषण में लगने वाला लम्बा समय और स्वभाव की विभिन्नता, ये सब कारण स्त्रियों की राह में बाधा बन कर खड़े हो गये।

एकपत्नीत्वात्मक परिवार प्रारम्भिक पूंजीवाद के बड़ा अनुकूल बैठा। परिवार ही उस समय काम करने वाली इकाई थी। लेकिन पूंजीवाद के आज के विकास में इस की विशाल काम करने वाली इकाइयां होते हुए, एकपत्नीत्वात्मक परिवार वह महत्त्व नहीं रखता, जो उस की प्रारम्भिक अवस्था में रखता था। यही कारण है कि समाजवादी और साम्यवादी अवस्थाओं के जन्म से भी बहुत पहले, पूंजीवाद के गहन विकास के ठीक मध्य में आ कर एकपत्नीत्वात्मक परिवार टूट रहा है। समाजशास्त्री इन वस्तु-स्थितियों से अनभिज्ञ नहीं हो सकते। नागरिक जीवन की स्वतन्त्रता, कार्य तथा मनोरंजन के नवीन केन्द्रों द्वारा प्रस्तुत सम्मिलन के अवसर नए लोगों के दिमागों में पुराने विचारों की नींव को हिला रहे हैं। स्त्रियों के विद्रोह ने मताधिकार आंदोलनों का रूप ले लिया। इस विद्रोह के पीछे स्वाधीनता की भावना थी, दबी हुई उत्तेजना के बाहर निकलने के लिए द्वार की मांग थी। कुछ ही लोगों में, विशेषकर स्त्रियों में, इस कारण को अपनाने का, यौन व्यवहार के लोक में व्यक्तिगत प्रकटीकरण की स्वाभाविक प्रेरणा को अपनाने का साहस था।

क्या हम व्यक्ति के आधार पर समाज को व्यवस्थित कर सकते हैं, यह अगला सवाल है, जिस का उत्तर हमें देना है। अब तो साम्यवादियों की भी यह मान लेने की प्रकृति होगी कि समुदाय स्वयं में ही कोई उद्देश्य नहीं है, बल्कि एक उद्देश्य की प्राप्ति का साधन हैं और वह उद्देश्य है व्यक्ति की भलाई। जीवन की वर्तमान अवस्था से उत्पन्न सीमाओं के कारण परिवार आज के समुदाय की इकाई नहीं हो सकता। एक व्यक्ति की कमाई से अनेक व्यक्तियों का गुजारा होते रहने की जो मजबूरी आज हैं वह व्यक्तिगत विकास को कुचलने वाला एक ऐसा अवरोध है, जिस की गहराई

को कूतना असंभव है। परम्परा तथा आर्थिक बाधाओं के कारण स्त्रियों का एक विशाल संख्या आज भी उत्पादक धंधों में नहीं लग सकती। तमाम लोगों के लिए काम की भावना का अर्थ आज भी यही है कि तमाम वयस्क मनुष्यों के हितार्थ बहुत से लोगों को काम मिले।

एक आदर्श के रूप में स्वतन्त्रता लोगों के दिमागों में सब से ऊंची चीज है। इस स्वतन्त्रता का अर्थ परिवार, समुदाय अथवा राज्य की स्वतंत्रता से नहीं, बल्कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से है। बिना व्यक्तियों की स्वतन्त्रता के एक स्वतन्त्र समाज की कल्पना करना कठिन है। बिंदियों की एक संख्या से किसी वास्तविक राशि का बोध नहीं हो सकता। सामाजिक विकास की वर्त्तमान अवस्था में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता आर्थिक स्वतन्त्रता के ऊपर इतनी अधिक आश्रित है कि दूसरी की वास्तविकता को समझे बिना पहली के बारे में कोई विचार हो ही नहीं सकता। चाहे जैसे भी हो, जितनी ही अधिक संख्या में लोग आर्थिक स्वाधीनत्ता को समझेंगे उतना ही अधिक प्रयत्न व्यक्तियों की ओर से स्वतन्त्रता के लिये होगा।

और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये यौन आवश्यकताओं को संतुष्ट करने की स्वतन्त्रता से अधिक उद्देश्यपूर्ण और कुछ नहीं है। इस भावना से, और साधारण भावना से भी, स्वतन्त्रता शरीर-शास्त्रीय विचारों से इस सीमा तक सीमित नहीं है, जितनी आज अनुभव की जाती है।

परिवार आज उत्पादक उद्यम के लिये उत्प्रेरक होने की अपेक्षा बाधा का काम ही अधिक करता है। आर्थिक अवस्थायें व्यक्तिगत आय को सीमित कर देती है और कुछ ही व्यक्ति आज परिवार का बोझ उठाने की शक्ति रखते हैं। वर्त्तमान जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये उत्पादक श्रम में लगे हुये लोगों की संख्या भी बढ़नी चाहिए। काफी लम्बे अरसे तक लाभ में निरन्तर घटत के अर्थशास्त्रीय सिद्धांत के काम करते रहने से यह बढ़ोतरी जनसंख्या की बढ़ोतरी के अनुपात से नहीं हो सकती। आधी या आधी से भी कम जनसंख्या संपूर्ण जनसंख्या का भार सुविधा के तर्कसम्मत मापदंड के अनुसार नहीं सँभाल सकती। इसी कारण, पूर्णतया भौतिक दृष्टि से, यह प्रथा या नैतिकता, जो उत्पादक साधनों को एक सकारात्मक गति देने के लिये बनाई गई थी, अब अधिकांश मानवता के उत्पादक नियोजन के विस्तारक्षेत्र को अवरुद्ध करने के लिये एक बड़ी बाधा का काम कर रही है।

नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से, यौन-वर्जना के अर्थों में, नैतिकता के संपूर्ण विचार के प्रतिरोध का परिणाम स्नायुविक व मानसिक विकृति के रूप में

होता है, जिस में सेक्स से संबन्ध रखने वाली प्रत्येक वस्तु सप्राण, कलात्मक और मधुर लगती है, लेकिन साथ ही साथ बहिष्कृत प्रतीत होती है। जब तक कोई प्रत्येक वस्तु को छद्मवेश नहीं दे लेता वह उसे मानसिक दबाव के साथ देखता है—वह मानसिक दबाव जो फिर एक यौनावेष्ठित सभ्यता में निकास का मार्ग खोजता है, जिस के प्रत्येक कोने से झांकता हुआ एक स्त्रैण आकार पुरुष से पुरुष के संबन्ध में उस की धारणा की ईमानदारी के बारे में शंका प्रकट करता दिखाई पड़ता है। सिगमंड फ्रायड महोदय जब यह कहते हैं कि "पूर्णतः सामान्य यौन–जीवन में कोई स्नायुविक विकृति संभव नहीं है," तो दूसरे रूप में इसे इस प्रकार कहना चाहिए कि सेक्स के स्नायुविक विकृति के लोक में कोई भी सामान्य जीवन संभव नहीं है। इस नैतिकता का बहुरूपियापन सार्वभौमिकता में इस प्रकार व्याप्त है कि इसे समुदाय की केवल एक ही कक्षा पर लागू किया जाता है और दूसरी कक्षा की ओर से इस का अतिक्रमण होने पर इस प्रकार आंखें मूंद ली जाती हैं जैसे कुछ हुआ ही न हो, और उस पर कोई गहरा पश्चात्ताप प्रकट नहीं किया जाता। और इन सब बातों पर जब विश्वास करने के लिये कहा जाता है, तो कारण पुरुष और स्त्री के बीच शरीरशास्त्रीय विभेद बताया जाता है। यदि शरीरशास्त्रीय विभेद ही मानव व्यवहार की दिशायें निश्चित करता है, तो चरित्रों के दो विरोधी समूहों के लिए भी कारण दिया जा सकता है और नैतिकता में फिर वह लचीलापन आ जायेगा कि आचरण के नियमों को लागू करने के लिए बनाए गए समस्त विधिविधान ईर्ष्या से जलभुन कर खाक हो जायेंगे। यदि पुरुष अपने पैरों से चलते हैं, तो स्त्रियों का सिर के बल चलना भी उतना ही आवश्यक और स्वाभाविक हो जाएगा क्योंकि स्त्रियां गर्भधारण करती हैं और पुरुष नहीं करते।

यह विश्वास करना गलती है कि ये नीतियां मानव स्वभाव से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखती हैं। सेक्स की आवश्यकताओं और अनुभूतिजन्य प्रेरणाओं को संतुष्ट करने के मामले में स्त्री और पुरुष में मामूली सा ही विभेद प्रतीत होता है। यदि ये विभेद प्रतीत भी होते हैं, तो अधिकांशतः इस का कारण वातावरण का प्रभाव है, जिस के भीतर वर्त्तमान सामाजिक संगठन भी आ जाता है। यदि स्त्रियों की ओर से प्रेम की भिन्न प्रतिक्रिया होती है और वे सुदीर्घ संबन्धों को तरजीह देती हैं, तो वह एक आनुभौतिक प्रतिक्रिया नहीं है, बल्कि एक ऐसी चेतना का अनुकलन है, जो वातावरण के अनुकूल पड़े। वह संभवतः अपने साथी को बदल कर तर्कसम्मत सुविधा के साथ जीवन यापन न कर सके, इस बात को मानते हुए उस में एक

ऐसी एकनिष्ठा उत्पन्न हो जाती है, जिस का बाहरी रूप पर्याप्त सबल दिखाई देता है, किंतु आंतरिक रूप से उस का मानस उसी प्रकार का है, विद्रोह करता हुआ और उसका नियन्त्रण करता हुआ। इस अनुभूतिजन्य प्रतिक्रिया का अनुकरण और वातावरण के अनुकूल स्थितिकरण उस प्रवृत्ति को राह देते हैं, जिसे हम अब नारी–चरित्र का नाम देते हैं और वह है विरोधी भावनाओं की क्रमिक धारा।

जॉन डेवी के उद्धरण-स्वरूप : [1]"वे नैतिकतायें, जो खुले आम मानवी स्वभाव की उपेक्षा करती हैं, मानव स्वभाव के उन्हीं गुणों पर जोर दे कर समाप्त हो जाती हैं, जो सब से अधिक सामान्य और औसत दरजे के होते हैं। वे दलीय रूप से रहने की भावना को इतना बढ़ाचढ़ा कर बयान करती हैं कि वही भावना स्थापित हो जाती है।" इस प्रक्रिया से ललितकलात्मक रंजनों में सब से अधिक आनन्दपूर्ण, दूसरे सेक्स का संग, अपनी वास्तविकता और इसी कारण अपनी अनुपम विशेषता से त्यक्त हो जाता है और मह मानने को बाध्य करता है कि शयनकक्ष की गोपनीयता में क्षुद्रतापूर्ण यौनकृत्य ही सब–कुछ है, जो या तो एकांत से छुटकारा पाने के लिये, या स्वभाववश या केवल संतानोत्पादन के लिये किया जाता है। इन कोमल प्रतिरूपों के बलिदान के बदले में इस प्रारम्भिक कृत्य को पवित्रता प्रदान की जाती है और इस का विज्ञापन किया जाता है।

सामाजिक विकास पर नैतिक अवरोध का एक प्रमुख उदाहरण नगरों की बढ़ोतरी के रूप में मिलता है। आर्थिक खिचाव के अतिरिक्त, वयस्क लोगों की एक विशाल संख्या के शहरों की ओर खिचने एक बड़ा कारण गाँवों की अपेक्षा नगरों की लैंगिक स्वतन्त्रता है, या नगरों के समुदायों में इस प्रकार के अवसर मिल जाते हैं। जीवन की गंदी और अस्वास्थ्यकर अवस्थायें, भीषण जनाकीर्णता, नागरिक जीवन की अनिश्चितता और सामान्य असुविधायें, ये सब इतनी बड़ी बाधायें नहीं हैं, जो लोगों के दिमागों पर छाई इस दुर्दान्त भावना का मार्ग रोक सकें। नवयुवक सेक्स के अनुभव में विभिन्नता प्राप्त करने की अपनी इच्छा को संतुष्ट करने के लिए सभी तरह के अवसरों के बारे में सोचविचार कर लेता है। ये अवसर उसे गांव में नहीं मिलते, जहां सामान्य आचरण के नियमों का अतिक्रमण करने के साथ नैतिक बदनामी जुड़ी होती है। नगरों के वर्जित प्रदेशों में फुटपाथों

१. 'मानव स्वभाव व आचरण', (अं०), न्यूयार्क, मॉडर्न लाइब्रेरी।

पर विचरण करने वाले मानवता के धधकते पुंजों में मिल कर उस की पहचान लोप हो जाती है और वहां किसी जानकार के द्वारा उस के पहचाने जाने का डर नहीं रहता । कठोर राजनीतिज्ञ या राज्यनियंता जनता के इस विशाल समूह को कस्बों, गाँवों या वाटिका-नगरों की ओर मोड़ने की चाहे जितनी कोशिश कर लें, उस समय तक सफलता के दर्शन नहीं हो सकते, जब तक हमारे नैतिक अवरोधों को इस कदर ढीला नहीं कर दिया जाता कि छोटे छोटे समुदायों में भी जनसंख्या के वयस्क सदस्यों को यौन-रंजन की सुविधा मिल सके । अधिक उदार यौन जीवन के उपभोग से रोकने वाली वस्तु कोई प्रेरणा अथवा आंतरिक नैतिक अनुभूति नहीं है, बल्कि सामाजिक बदनामी इस का कारण है । जब तक कोई पहले से ही धनी न हो, जिस में कि अनैतिकता किसी प्रकार की बदनामी बनने की अपेक्षा गुण बन जाती है, तब तक किसी अनैतिक मनुष्य के लिये जीवन में सफलता प्राप्त करने के अवसर बहुत कम हैं । नकारात्मक नैतिकता का यह एक स्वाभाविक गुण होता है कि औसत दरजे से ऊपर वाले आदमी को नैतिक परम्परा को तोड़ना पड़ता है, क्योंकि ये नैतिकतायें मानव स्वभाव से विपरीत कार्य करती हैं और इस प्रकार के व्यक्तियों में कुछ ही ऐसे होते हैं, जो इस व्यक्तिहीन समूह से अलग रहने में ही सन्तोष लाभ करते हैं । जंगली युग से सभ्यता के युग तक नैतिक अवरोध ने सभ्य मनुष्य के मस्तिष्क में सेक्स को उसी जंगली अनुपात से बढ़ाने का यत्न किया है ।

फ्रॉयड के अनुसंधानों ने लोकप्रियता में इसलिए अपूर्व सफलता प्राप्त नहीं की थी कि वे इतने अधिक युगप्रवर्त्तक थे या साधारण जनता में इतनी योग्यता थी कि वह इन अनुसंधानों के महत्त्व को भली प्रकार समझ सके, और इन्हों ने मस्तिष्क के गूढ़ क्षेत्र में नई राहों को खोल कर जिस प्रकार सामने रख दिया था उस की प्रशंसा कर सके, बल्कि इसलिये कि अपनी मोटी से मोटी रूपरेखा में ये विचार जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते थे । आज के मनुष्य के निर्माण में यौन–दमन एक ऐसा सशक्त कारण है कि इस के अतिरिक्त और कोई वस्तु मस्तिष्क पर इतना कटु प्रभाव नहीं डालती । इस दमन से व्याप्त तनाव से हीन समाज में या तो स्नायुविक रोगों का सर्वथा अभाव हो जाएगा या वे उन अनुभूतियों के दमन के कारण होंगे, जो उस समय अधिक बलवान होंगी ।

दकियानूसी समाज हमेशा संकीर्णमना होते हैं । प्रत्येक व्यक्ति को वे नैतिक परम्परा के अतिक्रमणकर्त्ता के रूप में संदेह की दृष्टि से देखते

हैं। उनके मस्तिष्कों में एक इस प्रकार की भेदबुद्धि घर कर जाती है, जो सदा लोगों का दो कक्षाओं में विश्लेषण व स्थानांतरण करती रहती है— एक तो वह जिस से अतिक्रमण होने की संभावना है और दूसरी वह जो ऐसा नहीं करेगी। दूसरी कक्षा में स्वभावतः वे लोग होते हैं, जिनके बारे में जानकारी रहती है और वे उन्हीं के समुदाय, वर्ग अथवा संप्रदाय के सदस्य होते हैं। दूसरे जन्मजात प्रतिद्वंद्वी होते हैं, जो उनके यौनआकर्षण की वस्तुओं पर उनके संपतिजन्य अधिकार का अतिक्रमण कर सकते हैं। उनका संगसाथ छोड़ दिया जाता है। स्त्रियों को कभी इन शत्रुओं की नजरों के सामने नहीं पड़ना चाहिए। वे विद्रोही होते हैं या अनपेक्षित अथवा हीन व्यक्ति होते हैं, क्यों कि पहले ही विश्लेषण से यह पता लग जाता है कि वे नैतिक चरित्र के उसी समान प्रतिमान से संबंध नहीं रखते। उनकी वर्ग-संयुक्ति, उनका पहनावा, धर्म या प्रांत, जहां से वे आए हों, ये सब उन्हें किसी दूसरी श्रेणी में आने से रोकते हैं। और उन्हें साफ तौर से पहचान लिया जाता है। संकीर्ण विचारों के लोगों के पास दूसरों के नैतिक व्यवहार नापने के लिये इनके अलावा और कोई साधन होते ही नहीं और ये ही वे छिछले साधन होते हैं, जिन पर उन के पूर्वज विश्वास करते चले आए हैं। वे उन लोगों की बुद्धि की अवमानना कैसे कर सकते हैं, जिन्होंने उन्हें वंशाधिकार दिया है। यह उनकी योग्यता से बाहर की बात होती है। उनका व्यक्तित्व उस वर्ग में इतना रम जाता है कि जिस संप्रदाय में वे उत्पन्न हुए या जिसके साथ रह कर वे बड़े हुए उस से संबंधित रहने की भावना के अतिरिक्त उनका कोई अलग व्यक्तित्व होता ही नहीं। संकीर्णता नैतिक अवरोध का कारण बनती है या नैतिक अवरोध संकीर्णता, का कारण होता है इसका निर्णय करना कठिन है। प्रारम्भिक कबीले लैंगिक रूप से स्वच्छन्द थे। किन्तु कबीलों को सुरक्षित रखने के लिये सेक्स संबंधी चुनाव में एक निश्चित मापदंड की अपेक्षा थी और यही प्रक्रिया, जो सेक्स के चुनाव में काम आती थी, सेक्स-संबंधों में सामान्य अवरोध के रूप में विकसित हो गई। जब कबीले समुदायों में परिवर्तित हो गए, तो ये ही अवरोध नैतिक परम्परा, पुण्य और पाप के विचार, सतीत्व व दुराचरण, पत्नी पर संपतिजन्य अधिकार और नैतिक आदर्शों के अन्य अनेक समूहों में बदल गए, जो हमें विकास के उन प्रारम्भिक स्तरों से प्राप्त हुए। समाज जिस प्रकार व्यक्ति के रूप, संपूर्णता के एक प्रतीक के रूप, में पृथक् होता जा रहा है, उसी प्रकार का एक सहगामी पृथक्करण उन नैतिक विचारों में होना चाहिए, जो व्यक्तियों को समूह में आबद्ध करते हैं। पृथक्करण करने वाला वह विचार है स्वतन्त्रता का आदर्श, जिसका

संभव हो सके उतने झीने सामाजिक अवरोध के आवरण से सीमित व आच्छादित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, ताकि एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का उपभोग अन्य व्यक्तियों की स्वतन्त्रा को न लांघ जाए या उनके लिए बाधा न बन जाए। इस दिशा में समाज की प्रगति के साथ नैतिकताओं का काम क्या है यह अब स्पष्ट हो जाता है। अब तक तो नैतिकतायें बंधनों का काम करती रही हैं, अब इन्हें खोलने का काम करना चाहिए, ताकि व्यक्तियों का विकास उनकी स्वाभाविक ऊंचाई तक हो सके, वे अपने स्वाभाविक कार्यों का संपादन कर सके और वातावरण के साथ इस प्रकार निकट संपर्क स्थापित कर के रह सके कि किसी प्रकार के संघर्ष अथवा विरोध के लिये कोई स्थान बहुत कम रह जाए अथवा बिल्कुल ही न रहे।

इस संक्रमण का अर्थ होना चाहिए हमारे विचारों में एक सुदूरगामी परिवर्तन। हमारे नैतिक संस्कारों के साथ सप्रदायवादी अथवा संकीर्ण भावनाएं इस प्रकार बंधी हुई हैं कि उन्हें अलग करना कठिन है। यदि हमारे नैतिक संस्कार जरा ढीले हो जाएं तो, उन्हें बिल्कुल ही खैराबाद न कहा जाए तो भी, हमारे समने कोई हिन्दू-मुस्लिम समस्या या अल्पसंख्यकों की समस्या न रहे। कट्टरपंथी अवरोध हमारे सामाजिक संबंधों के बीच में एक बाधा है। इसके कारग विभिन्न समुदायों के स्त्री व पुरुष में संबंध स्थापित नहीं हो पाता। जनता का प्रगतिशील अंतर्मिश्रण इसके द्वारा बराबर वर्जित रहा है। स्त्रियों और पुरुषों की यह एक स्वाभाविक अनुभूति है कि अपना संगीसाथी विरोधी वर्ग के व्यक्तियों में से ले सकें, किन्तु संस्कार मानव-प्रवृत्तियों में इस सब से अधिक स्वाभाविक अनुभूति को सीमित कर देते हैं। यदि मनुष्य अपना संग चुनने में भी स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं कर सकता, तो और कौन सी ऐसी मूल्यवान व निकट स्वतन्त्रता है, जिसकी वह कामना कर सकता है ?

सामान्यत: स्वस्थ मनुष्य सेक्स से अत्याक्रांत नही होते। वे सेक्स की ओर से हीन व विकृत लोग होते हैं, जो सेक्स के विचार से अत्याक्रांत रहते हैं और जो इस प्रकार के विचारों के प्रसार में अत्यधिक दिलचस्पी दिखाते हैं, जो सेक्स को पाप अथवा दुराचरण के साथ संबंधित करते हैं। इस तर्क के पक्ष में 'विश्व का नवीन चित्र' नामक पुस्तक में प्रकाशित श्री पी० डी० औस्पेंस्की के मत से अधिक अच्छा कोई प्रमाण नहीं हो सकता : "सेक्स-जीवन को नियन्त्रित करने वाले लगभग सभी नियम, इन मामलों में लोगों के चुनाव व निर्णयों का नेतृत्व करने वाले लगभग सभी अवरोध, सभी बहिष्कार, सभी भय, ये सब सेक्सन्यूनता से उत्पन्न हुए हैं। यह न्यूनसेक्स सामान्य सेक्स से अपने विभिन्नता के गुण के कारण, सामान्य सेक्स के विषय

में अज्ञान के कारण अपने को उस से ऊंचा समझने लगा, सामान्य सेक्स के लिये नियम निर्धारित करने लगा। इसके यह अथ नहीं हैं कि सभी नैतिकतायें, सभी नियम, ओर सभी अवरोध, जो सेक्स से संबंध रखते हैं, गलत हैं। लेकिन जैसा कि सदा जीवन में घटित होता है, जब सही विचार गलत राहों से आते हैं, तो सही तत्वों के साथ साथ वे अपने साथ बड़ी मात्रा में गलत तत्त्व भी ले आते हैं। इसी से उनके आधारभूत सार का विरोध होता है ओर इसी से नए भ्रम व नवीन विषमताओं की उत्पत्ति होती है।

इस से यह निश्चय करना आसान हो जाता हैं कि नीतिज्ञ के विचार के भीतर सतीत्व किस प्रकार जड़ जमा लेता है। सतीत्व के विचार के दो पक्ष हैं। नीतिज्ञ के विचार से संयम इसका सही अनुवाद है। यह विश्लेषण करना कठिन है कि सेक्स और पवित्रता किस प्रकार आपस में संयुक्त हो जाते हैं। पुराने नीतिविदों के दृष्टिकोण से, जिन्होंने व्यक्तिगत शुद्धि में भी पुण्य नहीं देखा, सक्स के साथ अपवित्रता के संबंध की केवल एक व्याख्या हो सकती है: सेक्स का पाप के साथ मिल जाना। साधारण आदमी के लिये इस के अर्थ हैं वैवाहिक संबंधों में वफादारी। किसी भी तरह से लें यह गुण केवल स्त्रियों के लिये ही है।

संयम के लाभकारी प्रभावों के बारे में काफ़ी लिखा जा चुका है और भारतीय योगशास्त्र तो यहाँ तक पहुंच जाते हैं कि बिना ब्रह्मचर्य के कोई आध्यात्मिक उन्नति के लिये किसी प्रकार का प्रयत्न कर ही नहीं सकता। दूसरे जन्म की सुखशांति को एक तरफ रखते हुए इस में जिन बातों का समावेश है वे हैं व्यक्तियों की नैतिक व शारीरिक उन्नति और इस बारे में एक अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त चिकित्सक के मत से अधिक अधिकारपूर्ण और कोई मत नहीं :

[1]"क्या यौनसंयम शारीरिक अथवा मानसिक हानि पहुंचाता है? एकशताब्दी पूर्व इस प्रश्न का निर्माण ही न होता; उत्तर यह होता: क्योंकि विवाह से हट कर यौन समागम पुरुषों के लिये अनैतिक है, इसलिये संयम हानिप्रद हो ही नहीं सकता। स्त्रियी की यौन आवश्यकताएं कुछ थी ही नहीं, इसलिये यह सवाल उन पर लागू होता ही न था। उस समय से युग बदल गया है और ज्ञानविज्ञान में वृद्धि हो गई है। यह विज्ञान का युग है और कुछ हद तक पुजारी का उत्तरदायित्व चिकित्सक के कंधों पर आ पड़ा है। वह चिकित्सक ही है, जिस से आज पूछा जाता है कि क्या

---

१. कैनिथ वाकर, 'सेक्स कार्य–विज्ञान' (अं०), लन्दन, पेंगुईन पुस्तक माला।

अच्छा है, क्या बुरा है, क्या हानिप्रद है और क्या लाभप्रद है। सतीत्व के प्रश्न पर चिकित्सक के पास कहने को ही क्या है ?

"सतीत्व के हानिगुण अथवा लाभगुण के बारे में किए जाने वाले किसी सवाल का उत्तर सीधे हां या ना में दे देना असंभव है। यह पूछना आवश्यक हो जाता है कि हानि से क्या मतलब है और सतीत्व की अवस्थाओं में खोजबीन करना भी उतना ही जरूरी है। संयम स्वयं में ही कोई शारीरिक हानि नहीं पहुंचा सकता और हो सकता है कि कोई पहलवान, उस कुश्ती के लिए जो आगे आने वाली हो, यौन-कार्यों का बिल्कुल त्याग कर दे, तो उसे मालूम होगा कि उस ने अपनी शारीरिक शक्ति में किसी प्रकार की हीनता उत्पन्न करने के स्थान पर उसे बढ़ाया ही है। फिर भी इस के यह माने नहीं है कि संयम का कुछ मनुष्यों पर भारी मानसिक दबाव नहीं पड़ता, एक ऐसा मानसिक दबाव, जिस के भीतर उन में से कुछ लोग पड़ कर परलोकगामी भी हो जा सकते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन की कामेच्छा इतनी अशक्त हो, या उस का दमन इतना पूर्ण हो कि संयम यदि कुछ हानि उन्हें पहुँचाए भी, तो मामूली सी। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं कि संयमित रहने का संघर्ष उन के ऊपर इतना अधिक दबाव डालता है कि या तो वे प्रमाणित हस्तमैथुन के धत्ती हो जाते हैं या स्नायुविक रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। विभिन्न लोगों के द्वारा संयम के विनिमय में दिए जाने वाला मूल्य भिन्न भिन्न रूपों में एक सिफर से ले कर एक सौ तक पहुंचता है।"

स्त्रियों के लिये सतीत्व एक उद्देश्यपूर्ण बंधन है, अपने स्वामियों के लिए जो संपत्ति वे सुरक्षित रखती है उस के खो देने के ऊपर एक निश्चयात्मक प्रतिबंध है। पुरुषों के लिये यह उन के उस अपराध पर सफेदी पोतने की कोशिश है, जो वे बिना अपने पर समान प्रतिबन्ध लगाए स्त्रियों के ऊपर उसे थोप कर करते हैं। जब व्यक्ति के ऊपर स्वामित्व का अधिकार लोप हो जाएगा, तो उस को अधिकार प्रदान करने वाली नैतिक शिक्षाओं का भी लोप अवश्य हो जाएगा और जब इस अपराध का होना बन्द हो जाएगा, तो किसी प्रकार के दंड की आवश्यकता भी नहीं रहेगी।

जब हमें यह बात मालूम हो जाती है कि सेक्स-संबंध स्वयं में ही न हानिकारक हैं और न पापपूर्ण हैं, चाहे वे विवाह बन्धन के बाहर हों या भीतर, तो जो काम किसी तरह भी गलत नहीं है उस से बचाव के तौर पर. विशाल संख्या में लोगों के अप्राकृतिक साधन अपना लेने से जो अपराधों का अंबार वर्त्तमान नैतिक विधिविधान के जारी रहने से समाज पर लदा हुआ है, वह स्पष्ट हो जाता है। सेक्स की ओर से विपथगमन और

अप्राकृतिक बुराइयां रोगविद्या से संबंध रखने वाली अवस्थायें नहीं हैं और न ही इस के कोई मूल कारण हैं। यह एक नैतिक शिक्षा का सीधा परिणाम है और उस नैतिक नियमों के समूह के काम करते रहने का नतीजा है, जिस के द्वारा व्यक्तियों को सामान्य सेक्स-संबंध रखने से वर्जित कर दिया जाता है अथवा भटका दिया जाता है। यह जानने के लिए कि समाज को इस ने कितना बड़ा नुकसान पहुंचाया है केवल यह देख लेने की आवश्यकता है कि कितनी बड़ी संख्या उन स्त्रियों व पुरुषों की है, जो आज अप्राकृतिक मैथुन में प्रवृत्त हैं। आखिरकार अप्राकृतिक मैथुन भी उन बहुत से यौन-कुमार्गों में से एक है, जो अवरुद्ध नैतिकता थोपती है। [1]"यह सब से अधिक प्रचलित विकृति, अप्राकृतिक मैथुन, जिसे आम तौर पर कुप्रवृत्ति का नाम दिया जाता है, समाज के सभी स्तरों में विस्तृत रूप मे व्याप्त है। यह अनुमान लगाया गया है कि एक प्रति शत से ले कर तीस प्रति शत तक पुरुषों की जनसंख्या इस विकृति से पीड़ित है।"

नैतिकता नैतिक बेईमानी थोपती है। पुरुष और स्त्रियां सदा एक-दूसरे से मिश्रित होना चाहते हैं। यही बात लड़कों और लड़कियों के बारे में हैं। फिर भी कितने कम लोग इस बात का साहस रखते हैं कि बिना हीलेहवाले के ऐसा कर सकें। लोग वेश्याओं की ओर घृणा से नहीं, बल्कि तीव्र इच्छा से देखते हैं। फिर भी ऐसा कोई मुश्किल से ही मिलेगा, जो उन की ओर घृणा से देखने का प्रदर्शन न करे। दूसरे सेक्स के व्यक्तियों के साथ नृत्य करना और उन के द्वारा चुम्बन किया जाना तो बड़ा मधुर लगता है, लेकिन ऐसे लोग कितने इनेगिने हैं, जो इस की चर्चा करने पर बिना नैतिक रूप से धक्का लगने का प्रदर्शन किये इसे स्वीकार कर लेंगे ? भारतीयों की नसों में तब कैसी नैतिक सुरसुराहट दौड़ जाती है, जब कोई समाचारपत्र में किसी भारतीय स्त्री के यूरोपीय ढंग से नाचने अथवा सिनेमा के परदे पर चुम्बन किए जाने की प्रामाणिक चर्चा कर देता है! लेकिन कौन स्त्री या पुरुष ऐसा होगा, जो गुप्त रूप से इस की कामना न करता हो ? वह सती स्त्री, जो चटकीली कहानियां पढ़ती है, वह पुराणपंथी जो चोरी चोरी नजरों ही नजरों में किसी पास से गुजरती हुई सुन्दर स्त्री के उघड़े हुये अंगों को निगल जाता है, वह धार्मिक पदाधिकारी जो किसी मिश्रित सभा में बड़ी दयाभावना से पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की आवश्यकताओं के बारे में आश्वासन देता है, वह स्त्री या पुरुष जो विरोधी सेक्स के व्यक्ति के सामने

१. डा० ए० ए० ब्रिलन सिगमंड फ्रायड के आधारलेखों के ऊपर उन का परिचयात्मक लेख, मॉडर्न लाइब्रेरी, न्यूयार्क ।

अपने गुणों के बारे में किसी तरह का संकेत देते हुये लज्जा अनुभव करते हैं, यदि ये सब लोग हमारे युग की बढ़ती हुई नैतिक बेईमानी का प्रतिनिधित्व नहीं करते, तो और कौन करेगा ? शारीरिक दिखावे के मुकाबले नैतिक अच्छाई एक मानसिक गुण है और इस मापदंड से कितने आदमी परीक्षा में पूरे उतरेंगे ? फिर कामनाओं के संयम से नैतिक अच्छाई का वास्ता ही यदि हो, तो भी क्या आता-जाता है ?

अवरोध तभी अपेक्षित होता है, जब कि कार्यप्रवृत्ति निश्चित रूप से हानिकारक हो, नहीं तो नहीं। आज का नैतिक अवरोध बेहूदा दिखावा है, विशेषकर तब, जब कि हम ईसा की शिक्षाओं को लागू करते हैं। "लेकिन मैं तुझे बताता हूं कि जिस ने भी स्त्री के ऊपर वासना की एक निगाह डाली वह अपने मन में पहले ही उसके साथ दुराचरण कर चुका।" सत्य सभी पुण्यों से बड़ा है, और यदि इन सब गुणों के पालन में सच्चाई ही सब से बड़ा त्याग है, तो यह पवित्रता हमें किस ओर ले जाती है ? आत्मा के बलिदान और शरीर को गौरवान्वित करने की तरफ ? उस सब का उल्टा जो अब तक तमाम दुनिया के धर्म सिखाते रहे हैं ! इस बारे में जान पड़ता है कि संत फ्रांसिस अन्य संतों से अच्छा संत था, क्योंकि वह सत्य का पालन कर सकता था, पहले शारीरिक दिशा में सच्चाई का पालन करता था, फिर वहां से अंतिम और आध्यात्मिक सत्य की ओर चलता था।

सेक्स का शुद्धिकरण एक आदर्शवादी चीखपुकार है। हैवलॉक एलिस के उद्धरणस्वरूप : "यह शुद्धिकरण की प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है, जिस में शक्ति के भारी व्यय की आवश्यकता है, और इस के कल्पनाभूत व आध्यात्मिक रूप, प्राप्त करने की अपेक्षा केवल बातें बनाने की ही वस्तुयें हैं।" राग (LIBIDO) अथवा क्रियाशक्ति को किसी भी ओर मोड़ा जा सकता है, लेकिन जहां राग को यौनक्रियाशक्ति की ओर मोड़ दिया गया, फिर उसे दूसरी धाराओं की ओर प्रवाहित करना कठिन हो जाता है। यही वह स्थान है, जहां लोग साधारणतः राग अथवा क्रियाशक्ति को यौनक्रियाशक्ति समझ बैठते हैं। यौनक्रियाशक्ति राग का एक रूप है। इसके दूसरे रूप हैं स्नेह, भक्ति, प्रेम और कुछ लोगों की मानसिक व आध्यात्मिक प्रवृत्तियां। बौद्धिक क्षमता सहित पुट्ठों की शुद्ध क्रियाशक्ति भी इसका एक प्रकार हो सकता है। जहां यह क्रियाशक्ति एक बार किसी एक धारा में प्रवाहित कर दी गई, फिर उसे उस ओर से हटाना कठिन, बल्कि असंभव हो जाता है। क्रियाशक्ति को पूर्वनिर्धारित धाराओं में प्रवाहित करने के लिए उसे उस समय आरम्भ में

ही शिक्षित किया जाना चाहिए, जब कि यह निश्चित और स्पष्ट आकार में प्रकट होना आरम्भ नहीं करती। जब एक बार यह प्रकट हो जाती है, तो फिर इसे रोकना अथवा किसी दूसरी तरफ मोड़ना निश्चित रूप से हानिकारक है। तमाम शिक्षाओं के बावजूद भी क्रियाशक्ति के एक निश्चित परिमाण को यौनक्रियाशक्ति के रूप में प्रकट होना होता है, क्योंकि यह स्वाभाविक है और एक ऐसा शरीरशास्त्रीय विकास है, जिसे व्यक्ति के शारीरिक उत्थान को बिना अपरिमित हानि पहुंचाये कुचलना संभव नहीं होता।

नैतिकता के संसार में पुण्य ही एक मात्र आलोचना का आधार नहीं है। समाज की बदलती हुई आवश्यकतायें, सांस्कृतिक मूल्यों का उत्थान, स्वतन्त्रता का विचार और इन सब के ऊपर समाज में व्यक्ति का विकास, ये नैतिक प्रश्न के बहुरूपी अंग हैं। इन सब को घटा कर आधुनिक भलाई के नापने वाले गज के बराबर ले आने के अर्थ होंगे कि हम हीरों का मूल्य उन के वजन से जांच रहे हैं। भलाई का विचार युग की सामाजिक आवश्यकताओं को एक सुनिश्चित रूप दे देना ही है। नहीं तो इन प्रेम के मंदिरों का या इन के या इन के जैसे अन्य व्यवहारों के पीछे काम करने वाले अच्छाई के विचार की इस व्याख्या का कोई क्या कारण देगा :

"अधिकांश जातियों में उन की प्रेम की देवियां होती थीं, जो अपनी पुजारिनों से घिरी रहती थीं। गोल्डबर्ग कोरिंथ में स्थित एफ्रोडाइट के मन्दिर का वर्णन करता है। यह मन्दिर इतना बड़ा है कि इस ने स्वयं एक नगर बसा लिया है, जिस के चारों ओर पत्थरों की दीवार है। इस के भीतर पुजारिनों के निवास स्थान हैं, जिन की संख्या बारह सौ है। ये पुजारिनें अपने को उस देवी की अकिंचन किंतु पवित्र सेविकायें समझती थीं, जिस की वे सेवा करती थीं। युवा कन्याओं के रूप में उन्हें सम्पूर्ण यूनान में से ढूंढ ढूंढ कर भरती किया जाता था और कुछ समय उन का शिक्षाकाल चलता था, जिस में उन्हें वस्त्र पहनना, बाल संवारना, सुगंधियों का प्रयोग करना, पाउडर लगाना आदि कर्म लोगों की वासनाओं को उभारने के लिए सिखाये जाते थे। वे बिना किसी आर्थिक उद्देश्य के ही ऐसा करती थी। यह नियम था कि पुजारिन को अपने लिये कुछ भी नहीं मांगना चाहिए, और जो लोग उस के पास आयें उन्हें व्यक्तिगत प्रेमीजन न समझ महान् देवी एफ्रोडाइट के पुजारी समझना चाहिए। यदि उस ने अपने कर्त्तव्य को कुशलतापूर्वक निभाया, तो उस का प्रेमी मन्दिर को मूल्यवान भेंट देगा और यही उस के लिये

पर्याप्त पुरस्कार होगा ।"

विन्फ्रेड रिचमंड हिरोडोटस नामक एक इस से छोटे मन्दिर के बारे में लिखते हैं, जो बेबीलोन में स्थित था और जिस में प्रत्येक स्त्री को अपने जीवन काल में एक बार जबरदस्ती जाना पड़ता था और एक अनजान पुरुष को आत्मसमर्पण करना होता था । "अभिमानी और धनी स्त्रियां अपनी बग्घियों में आती थी और अपने नौकरों के साथ प्रतीक्षा में खड़ी हो जाती थीं । फूलमालाओं तथा फीतों को सिर पर सजा कर दूसरी स्त्रियां बैठ जाती थीं । अजनबी लोग ऊपर से नीचे तक आ-जा कर उन का निरीक्षण करते थे और जिसे कोई चुनता था उस की गोदी में वह एक सिक्का फेंक देता था, और कहता था : 'मैलिटा तुम्हें प्रसन्न करे' । फिर वह अपनी चुनी हुई स्त्री का रिबन पकड़ कर उसे साइप्रस के झुंड में ले जाता था । देवी के प्रति इस प्रकार भेंट दे कर वह स्त्री घर लौटती थी और उस के बाद सदा भली बनी रहती थी ।"

समाजविज्ञानवेत्ता को नैतिकता के इन बदलते हुये स्वरूपों का अध्ययन कर के ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, बल्कि उसे ऐसे स्पष्ट सिद्धांतों का निर्माण करना चाहिए, जो सब समयों में सब लोगों को नेतृत्व प्रदान करते रहें । मानवता की अनवरत प्रगति को सुनिश्चित करने के लिये नैतिक सिद्धांतों को आवश्यक रूप से, चक्करदार व्यवस्था की तरह, कट्टरपंथी अवरोध से लाइसेंस में बदल देना आवश्यक नहीं है । यह सिद्ध करने के लिए किसी स्पष्ट वाद की आवश्यकता नहीं है कि अवरोध और लाइसेंस दोनों ही अनपेक्षित हैं । किसी नैतिक विचार का टिकाऊ गुण यह होना चाहिए कि स्त्री और पुरुष इतने स्वाभाविक रूप से बर्ताव करें, जितना वे कर सकते हैं । जब संगठनात्मक तत्त्व दो सेक्सों में रूप में विभक्त हो गए, तो एक-दूसरे को सन्तानोत्पत्ति के लिये आकर्षित करना उन की आंतरिक प्रवृत्ति रही । स्त्री और पुरुष भी इस के अपवाद नहीं हैं । यदि भूख बहिष्कृत वस्तु हो सकती है, तो सेक्स भी हो सकता है । नहीं तो कोई कारण नहीं है कि दोनों को एक-दूसरे से भिन्न समझा जाए । यह तर्क कि सेक्स की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये दोनों सेक्सों को कुछ न कुछ मूल्य देना चाहिए, कोई उत्तर नहीं है । इस कथन से जिन अतिक्रमणों का बोध होता है उन के ऊपर निगरानी रखने के लिए एक पुलिस का नियम बना देना पर्याप्त होगा । न ही विवाह और इस की एकस्वरता, और न ही वेश्यावृत्ति और उस से सम्बन्ध रखने वाले लाइसेंस जीवन-यापन

की मात्र सम्भव राहें हैं। अन्य तरीके भी हैं, और एक जो अधिक प्राकृतिक और अनुभूतियों के समस्वर है और मानवी प्रवृत्तियों तथा आवश्यकताओं के अनुकूल है, वह अभी चुना जाना है और वही सर्वोत्तम है। हमारे युग में जो अनमेल सम्बन्ध चल रहे हैं उन के सम्भव हल के रूप में तथा जीवन को सही ढंग पर गुज़ारने के लिये, उस तरीके की वकालत होनी ही चाहिए।

●●●

जन्म निरोध

जन्म निरोध के प्रति जो आपत्ति है वह नैतिक है। विवाहित या अविवाहित पुरुषों व स्त्रियों में ऐसा कोई नहीं है, जो मन ही मन इस की इच्छा न रखता हो। अन्यथा जन्म निरोध के साधन के रूप में आत्मसंयम की बात इतनी चर्चा का विषय न होती। संतानोत्पत्ति को रोकने के साधन के रूप में संयम की अपनी बहुत सी कमजोरियां हैं। यदि विवाहित स्त्री-पुरुषों को संयम से ही रहना है, तो विवाह का उपयोग क्या है? इस भावनात्मक चिल्लपों पर ध्यान न देते हुए यदि देखा जाए, तो विवाह का पहला उद्देश्य यौनतुष्टि है। यदि इस का यह काम वर्जित कर दिया जाता है, तो इस महती व्यवस्था में कुछ भी शेष नहीं रह जाता। संयम को सफल बनाना एक पारस्परिक काम है, जिस के लिए पतिपत्नी दोनों को ही राजी होना चाहिए। अन्यथा उस विवाह जितनी दुःखपूर्ण और कोई भी चीज नहीं, जिस में एक पक्ष दूसरे के मूल्य पर संयमी रहना चाहता हो। अनवरत तनाव, क्षुब्धता व दमनगत इच्छायें किसी भी नैतिक गढ़ को तोड़ देने के लिये काफी हैं और दूसरा पक्ष अवैध यौन जीवन का उपभोग करने के लिए मार्ग खोज ही निकालेगा। यहां तक कि कोई अत्यन्त धर्मीकर्मी भी यह देखना पसंद नहीं करेगा कि नैतिक निषेधों का कठोरता से पालन करने के परिणाम-स्वरूप एक बड़े पैमाने पर विषाद का साम्राज्य स्थापित हो जाए।

इस निश्चित हानि के अतिरिक्त आंशिक संयमित जीवन से भी जन्म निरोध होने की संभावना नहीं है। दोनों ही साझीदारों में आत्मसंयम की एक-दूसरे से काफी कमीबेशी हो सकती है। एक संतान उत्पन्न करने के लिये अनेक बार समागम की आवश्यकता नहीं होती। संयम को जन्म निरोध का साधन बना कर उस में सफल होने के लिए दोनों ही पक्षों की ओर से बिना एक बार भी विचलित हुए पूर्ण संयम पालन होने की आवश्यकता है। गांधीजी तथा धार्मिक नेताओं के उपदेशों के बावजूद आत्मसंयम जन्म निरोध के साधन के रूप में नितांत असफल सिद्ध हुआ, क्योंकि इस का उपदेश देने व पालन कराने में स्वभावतः ही जमीन-आसमान का अन्तर है।

यौन संयम के विषय में डाक्टर नॉरमन हेयर जैसे अधिकारी का मत

यहां उद्धृत कर देना अत्यन्त उपयोगी है : [1] "जिस स्वस्थ वयस्क व्यक्ति को मैथुन का पूर्व अनुभव नहीं होता उसके लिये संयम सामान्यतः कठिन होता है। उन विवाहित व्यक्तियों के बारे में, जो पहले से ही मैथुन के आदी रहे हैं, और जो किसी ऐसे साथी के निकट संपर्क में रह रहे हैं, जिस के प्रति उनका तीव्र आकर्षण है व जिसके साथ उनका पतिपत्नी का संबंध है, और इस प्रकार कम हो या ज्यादा, बराबर उत्तेजना प्राप्त करते रहते हैं, उनके लिए लम्बे समय तक संयम रखना और भी अधिक कठिन व हानिकारक है।"

नैतिक आवरण में लपेट कर यौन संयम की पैरवी करना इसकी अपेक्षा कि किसी पर ऊपरी परीक्षा कर लेने से ही कोई प्रभाव पड़ जाए, अधिक हानिप्रद है। इसके यह अर्थ हो सकते हैं कि सार्वभौमिक यौन-कुप्रवृत्तियों की उपस्थिति के लिये सब से ज्यादा सीधे ढंग से बढ़ावा दिया जाता है, क्यों कि, उसी लेखक के शब्दों में : "बहुत ज्यादा मामले तो ऐसे होते हैं कि जिन में वास्तविक संयम होता ही नहीं क्यों कि मैथुन का स्थान कोई और प्रकार की क्रिया ले लेती है। कभी तो यह एकान्त हस्तमैथुन होता है, कभी पारस्परिक हस्तमैथुन होता है, और कभी सेक्स-क्रिया के अनेक रूपों में से वह रूप होता है, जिसे हम 'कुप्रवृत्ति' के नाम से पुकारते हैं। कुप्रवृत्तियों से ले कर अपराध की सार्वभौमिक चेतना तक सेक्स का पाप इस प्रकार चारों ओर से आत्मा को लपेटता रहेगा। घटती हुई नैतिक ज्वाला के परिणामस्वरूप यही सच्ची तसवीर हमारे सामने प्रकट होती है।

जन्म निरोध का एक सही नैतिक प्रतिरूप भी है। अन्यथा यह इतना अधिक ध्यान आकर्षित न करता, न ही नीतिज्ञ लोग इसके पीछे इतनी गरमजोशी से लाठी ले कर पड़ते। आल्डस हक्सले के शब्दों में : "औषधि की तरह नीतिशास्त्र की भी दो शाखाएं हैं : उपचारात्मक और निरोधात्मक। उपचारात्मक नीतिशास्त्र उन विषम नैतिक जटिलताओं को सुलझाने की कला है, जो उत्पन्न हो चुकी होती हैं। निरोधात्मक नीतिशास्त्र परिस्थितियों को इस प्रकार व्यवस्थित करने की कला है कि नैतिक जटिलताएं उत्पन्न ही न हो पाएं। इस स्थान पर हमारा उद्देश्य, जन्म निरोध, इस दूसरी कला से ही संबंध रखता है।"

जन्म निरोध के ज्ञान के विस्तृत प्रसार से नीतिज्ञ लोग जिस बुराई की

१. डाक्टर नॉरमन हेयर द्वारा लिखित 'जन्म निरोध के तरीके' अं०, लंदन, जार्ज एलेन एंड अनविन लिमिटेड।

उत्पत्ति की बात कहते हैं, उस से जन्म निरोध के द्वारा रोकी हुई बुराई कहीं बड़ी है। जनाकीर्णता, व्यक्तिगत सुखसुविधा का अभाव, बड़े पैमाने पर जच्चाओं की मृत्यु, जिसका कारण जल्दी जल्दी संतानों का उत्पन्न होना है, साधारण स्त्रियों के स्वास्थ्य का ह्रास, बढ़ती हुई दीनता, बड़े बड़े परिवारों के आर्थिक बोझ के कारण बच्चों तथा वयस्कों का हीन पोषण, महामारी और युद्ध, ये हैं वे बुराइयां, जिन्हें जन्म निरोध रोकने की चेष्टा करता है, और नैतिक छूट की किसी भी काल्पनिक बुराई से इन बुराइयों की तुलना करने की जरा भी कल्पना नहीं की जा सकती।

यही वह अवस्था है, जिस में राजनीतिक अर्थशास्त्री इस कथन के साथ आ उपस्थित होता है कि "कुछ आर्थिक व राजनीतिक विशेष अवस्थाओं को ले आने पर यह देश इस से भी बड़ी जनसंख्या का पालन कर सकता है, जो इस समय विद्यमान है, और यदि हम भी अपने साधनों का शोषण उसी योग्यता के साथ करते, जैसे कि दूसरों ने किया है, तो हम जनोत्पत्ति की उस से भी अधिक बढ़ोतरी को सहन कर सकते थे, जो हमने पीछे की है।" और गांधी जी भी उन लोगों में से हैं, जो यह अनुभव करते हैं कि भारतवर्ष की जनसंख्या बहुत अधिक नहीं है और इस देश की जनसंख्या के बढ़ने पर किसी को चिंता करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु फिर भी गम्भीर विद्यार्थी इस सत्य को नजरअंदाज नहीं कर सकेंगे कि जनसंख्या में होने वाली बढ़ोतरी के समस्तर पर भौतिक साधनों अथवा उनके शोषण में बढ़ोतरी नहीं हो रही है। केवल संख्या में इस एकपक्षीय बढ़ोतरी का परिणाम यह होगा कि लोगों का जीवन-स्तर तेजी के साथ गिरने लगेगा और अंत तक यदि हम इस आती हुई मुसीबत की ओर ध्यान नहीं देते और स्वेच्छापूर्ण साधनों से बढ़ती हुई संख्या का कोई प्रतिरोध नहीं करते, तो परिणाम यह होगा कि देश को इसका असहनीय दंड भुगतना पड़ेगा और इसकी अतिरिक्त जनसंख्या महामारी से नष्ट हो जाएगी।

सन् १९३१ से १९४१ तक के दशक में हिन्दुस्तान की जनसंख्या ३३८१००००० से ३८८९००००० तक बढ़ी है, जिस के अर्थ हैं कि जनसंख्या में ५०९००००० की वृद्धि हुई है। यह कोई एकांगी वृद्धि नहीं है। सन् १८७० से १९३० तक हमारे देश की जनसंख्या में ३१ प्रति शत की वृद्धि हुई है और हमारा वर्तमान उत्पत्ति-क्रम ३५ प्रति सहस्त्र है, जो चीन को छोड़ कर अन्य किसी भी देश से अधिक है। साथ ही ६०·२ प्रति शत स्त्रियां इस देश में ऐसी हैं, जो अपने संतानोत्पादन काल के प्रथम आधे भाग में ही हैं, जिन में अपनी प्रौढ़ावस्था तक पहुंचने तथा संतानोत्पादन में कम सशक्त होने तक हमारी संख्या में वृद्धि करने की शक्ति अभी

सुरक्षित है। एक ऐसे देश में, जिस में विवाहित स्त्रियों की संख्या सब से अधिक होने का रिकर्ड है, इस के माने हैं कि जनसंख्या के क्षेत्र में हम अपना कदम और लम्बा करने पर तुले हुए हैं।

हम लोगों का जीवन सुविधापूर्ण नहीं है यह इसी तथ्य से प्रकट होता है कि दूसरे राष्ट्र के व्यक्तियों की अपेक्षा हम अधिक संख्या में काल के ग्रास होते हैं। कुल नवजात शिशुओं का पाँचवां भाग अपने जीवन काल के प्रथम वर्ष में ही समाप्त हो जाता है और इंग्लेंड के अनुपात से भारत में माताओं की मृत्यु आठ गुनी अधिक है। उत्पन्न हुए मनुष्यों में से आधे बीस बरस की आयु तक भी नहीं पहुंच पाते। बहुत से लोग तो यह जान कर स्तंभित हो जायेंगे कि पाँच बरस की आयु तक जितने आदमी यहां जीवित रह पाते हैं, संख्या के अनुपात से उतने आदमी इंग्लैंड में साठ बरस की उमर तक जीवित रहते हैं। यदि हम दो व्यक्ति उत्पन्न करते हैं, तो उन में से एक ही व्यक्ति ऐसा जीवित रह पाता है, जिस से समुदाय को कोई लाभ पहुंचता हो।

यदि हम केवल स्त्रियों के बारे में ही ख्याल करें, तो कहानी और भी अधिक वीभत्स हो जायेगी। एक हजार स्त्रियों में से केवल ५६८ ही पंदरह वर्ष की आयु तक पहुँच पाती हैं, और केवल २६४ पैंतालीस वर्ष की आयु तक जीवित रहती हैं। इंग्लेंड के समानांतर आंकड़े क्रमशः ६०४ व ८१७ हैं।

स्त्रियों की इतनी विशाल मृत्यु संख्या के कारणों का पता लगाने के लिए बहुत दूर जाना नहीं होगा। [1]"सन् १९३६ व ३७ में कलकत्ता में डाक्टर नियाल एडवर्ड्स की खोजबीन के अनुसार जच्चाओं की मृत्यु के सब से अधिक विशेष कारण कीटाणुग्रस्त होना, रक्तन्यूनता, श्वेत प्रदर, मूर्च्छा और रक्तप्रदर हैं। फिर भी, इन प्रकट कारणों के पीछे तीन आंतरिक कारण है: विकृत पोषण, दीनता, और गन्दा रहनसहन; उपयुक्त आयु से पूर्व ही और जल्दी जल्दी बच्चे होना, और पूर्व व पश्चात् प्रजनन काल की अपर्याप्त देखभाल। वर्त्तमान ज्ञान के आधार पर इन कारणों का सापेक्षात्मक महत्त्व निर्धारित करना हमारे लिये कठिन है। किन्तु डाक्टर नियाल एडवर्ड्स के अध्ययन से जो साधारण धारणा बनती है वह यह है कि खराब खानापीना, रहनसहन की गन्दी अवस्था और प्रजनन—

१. श्री डी० घोष 'भारत की जनसंख्या व कार्यक्षमता', अं०, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४६, इण्डियन कौंसिल ऑफ वार्ड एफेयर्स, नई दिल्ली।

काल से पूर्व व पश्चात् काल में अपर्याप्त देखरेख, ये ही प्रधान कारण हैं, यद्यपि अन्तिम परिणाम पूर्वायु में और अल्पकालांतर में सन्तानोत्पत्ति ही से निकलता है ।"

जो लोग यह तर्क करते हैं कि भारत वर्तमान जनसंख्या से कहीं अधिक जनसंख्या का पोषण कर सकता है, वे अज्ञानता के कारण ऐसा करते हैं । [1] "हमारी जनसंख्या जितनी विशाल है उस की अपेक्षा हमारे प्राकृतिक साधन उतने ही विशाल नहीं हैं और लोकविश्वास के विपरीत हमारी औद्योगिक शक्ति तो संयुक्त राज्य अमेरिका और रूस से कहीं ज्यादा कम है ।" साधारण तथा लिगनाइट कोयले में हमारे साधन प्रति व्यक्ति इस प्रकार हैं : इंग्लैंड का १५६वां भाग, रूस का १६५वां भाग, अमेरिका का १२५८वां भाग, कनाडा का १५६५वां भाग, दक्षिणी अमेरिका का १३१२वां भाग, आस्ट्रेलिया का १५४वां भाग, यूरोप का १३८वां भाग, चीन का १०९वां भाग और जापान का ८वां भाग । संक्षेप यह है कि हमारी कोयला संपत्ति तमाम देशों से बहुत कम है और यदि लोहे के खनिज व अन्य खनिज पदार्थों को लिया जाए, तो भी अवस्था इस से किसी प्रकार अच्छी नहीं है । इन खनिज पदार्थों में हमारे देश से मुकाबला किया जाए, तो इंग्लैंड हम से सात गुना मालदार है, यूरोप छः गुना, रूस सोलह गुना, अमेरिका आठ गुना, कनाडा सैंतीस गुना और अफ्रीका हम से इक्यावन गुना अधिक संपतिशाली है । यदि उत्पादक जल-शक्ति को लिया जाए, तो केवल ब्रिटेन की अपेक्षा ही हम लाभ में हैं, जब कि यूरोप हम से तीन गुनी, रूस लगभग पांच गुनी, कनाडा तेईस गुनी, दक्षिणी अफ्रीका और अमेरिका ढाई गुनी जलशक्ति प्रति व्यक्ति रखता है ।

देश के शीघ्रगामी औद्योगीकरण की विशिष्ट दुहाई से भी हमारी समस्या हल नहीं होगी, इसलिये नहीं कि औद्योगीकरण लोगों के लिए काम नहीं दे सकता, बल्कि इसलिये कि औद्योगीकरण का हमारा संभावनाक्षेत्र हमारी जनसंख्या और उस के समानांग लोगों की दीनता से सीमित है, क्योंकि देश के ऐसे औद्योगीकरण में, जिस में तीन करोड़ कमकर समा जायें, तो प्रति एक कमकर की आवश्यकतापूर्ति का व्यय एक अनुदार आधार पर भी ५,०००) रुपए पड़ेगा, और उन के रहनसहन तथा विकास का व्यय इस के अतिरिक्त होगा, इन सब में लगने वाली कुल पूंजी

---

१. पृष्ठ नम्बर १५४, नोट नं० १ देखिए ।

२०,०००,०००,०००) रुपए के आसपास होगी। [1] यह धन या तो बाहर से उधार लिया जाएगा या लोगों की बचत में से। पहली बात तो यह है कि युद्ध से विनष्ट अपने उद्योग को संभालने की विशाल समस्या के सम्मुख कोई भी देश आज इस अवस्था में नहीं है कि वह किसी दूसरे देश को इतना धन उधार दे सके। यदि इस आवश्यक पूंजी का अधिकांश भाग आंतरिक बचत में से लिया जाएगा, जबकि हमारी वार्षिक राष्ट्रीय आय २,५००,०००,०००) रुपये है और [2] यदि परिस्थितियां हमारे सब से अधिक अनुकूल रहीं, तो इस में से केवल पन्दरह प्रति शत ही बचाया जा सकेगा। तब भी हमारी आवश्यकता पूर्ण होने में बहुत कमी रह जायेगी। हम अपनी आवश्यकताओं का चौथाई भाग भी पूर्ण नहीं कर पायेंगे। यह भी देखना है कि इस बचत के प्रश्न पर एक अर्थशास्त्री का क्या मत है :

[3] "यह स्पष्ट है कि औद्योगीकरण के लिए यथेष्ट परिमाण में पूंजी की व्यवस्था करने से लोगों के ऐसे समुदायों पर असहनीय बोझ पड़ेगा, जो कठिनाई से ही अपना गुजारा कर पाते होंगे। फिर भी, सलाह तो दी ही गई है कि यदि हम अपने अर्थ के कुछ भागों को प्रारम्भिक अवस्था में ही छोड़ दें, तो इस कठिनाई से पार पाया जा सकता है। कहा जाता है कि हमें अपनी कृषि व्यवस्था का पुनर्संगठन पूंजीवादी आधार पर करने की आवश्यकता नहीं है, और जहां तक औद्योगिक माल की पूर्ति का प्रश्न है, हम घरेलू उद्योगधंधों तथा छोटे पैमाने के उद्योगों पर विश्वास कर सकते हैं। अब इस हालत में तो यह एक पूर्ण संतोषप्रद हल हो सकता है कि (बिना इस भेदभाव के कि वे कितना कमा पाते हैं) हमें केवल जितने भी संभव हो सकें उतने व्यक्तियों के लिये काम निकालने की ही चिंता हो, और जो समय हमारे अर्थ का पुनर्संगठन लेगा उस में आवश्यक रूप से यह युक्तिसंगत भी होगा। लेकिन काफी दूर चलने पर और अपनी राष्ट्रीय आय की उन्नति के दृष्टिकोण से, इस हल में बहुत थोड़ा दम है। पहली बात तो यह है कि जब तक हम सहयोग कार्य अथवा यन्त्रचालित कृषि को छोटे पैमाने पर की जाने वाली प्रारम्भिक कृषि के स्थान पर स्थापित नहीं कर देते, तब तक हम अपने किसानों के जीवन स्तर को ऊंचा नहीं

---

१. 'भारत की जनसंख्या व कार्यक्षमता', डी० घोष।

२. यह दर आयोजित अर्थ व्यवस्था की ही है, जबकि हस्तक्षेप की अवस्था न हो। सुनियोजित आय-पुंजों में यह दर लगभग ८ प्रति शत भी हो सकती है।

३. 'भारत की जनसंख्या व कार्यक्षमता', डी० घोष।

उठा सकते. और जब तक हाथ के काम के स्थान पर हम बड़े पैमाने पर फैक्टरी उद्योग की स्थापना नहीं करते, तब तक हमारे कारीगरों का जीवन स्तर अच्छा नहीं हो सकता। दूसरे, दीनता से ग्रस्त ग्रामीण जनसंख्या और कौशलविहीन कृषि औद्योगिक विस्तार के मार्ग में भारी रोड़े अटकायेंगे। जब भोज्य पदार्थ व जीवन की अन्य छोटीमोटी आवश्यकतायें हमारी भूमि का बहुत अधिक भाग घेर लेंगे और औद्योगिक कच्चे माल की पूर्ति में कमी उत्पन्न कर देंगे, तो जनता का बहुत बड़ा भाग फैक्टरी उद्योग के उत्पादन को खरीदने में बहुत गरीब सिद्ध होगा। या यदि इस के स्थान पर मनुष्यों व माल में औद्योगिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने की चेष्टा की गई और कृषि तत्र भी अपनी प्रारम्भिक प्रणाली पर ही चलती रही, तो भोज्य पदार्थों की कमी उत्पन्न हो सकती है। इसलिये हम अपने अर्थ के कुछ भागों के पुनर्संगठन का विचार त्याग कर पूंजी की पूर्ति की समस्या को ताक पर उठा कर नहीं रख सकते।"

कृषि के क्षेत्र में भी हमारी विशाल जनसंख्या उत्प्रेरक होने की अपेक्षा रुकावट ही अधिक है। १६३१ में हमारे यहां छः करोड़ पैंसठ लाख व्यक्ति कृषि में लगे हुये थे और छत्तीस करोड़ बीस लाख एकड़ भूमि कृषि योग्य थी। इस हिसाब से बावन एकड़ भूमि प्रति व्यक्ति पड़ती थी, जिस से एक सो चौबीस रुपए की वार्षिक आय होती थी। इस पर भी खेती की जमीनों का तीनचौथाई भाग पाँच एकड़ से भी कम के छोटे छोटे खेतों में बंटा हुआ है और कुछ विशेष क्षेत्रों में तो, उदाहरण के लिये बंगाल में, हल के नीचे आने वाली जमीन का औसत क्षेत्रफल कृषिकर्मी जनसंख्या के एक व्यक्ति के लिये एक एकड़ से भी कम है। भारत की कृषि-भूमि की उपज जब इतनी नीची है कि वह दूसरे देशों से चालीस प्रति शत कम है, तो यहां के एक मजदूर की आय का अनुमान आसानी से हो सकता है। यह उपज ही स्वय भूमि के सहारे अधिक जनसंख्या होने के कारण है, जिस से जुताई इतनी सघन और लगातार होती है कि भूमि को प्राकृतिक उपजाऊ शक्ति प्राप्त करने के लिये कोई समय ही नहीं मिल पाता। इतने छोटे छोटे खेतों पर आधुनिक यन्त्रों का उपयोग करना आर्थिक दृष्टि से लाभकारी नहीं है। पहली बात तो यह है कि यह अव्यावहारिक है, दूसरे यह कि किसान इन साधनों को जुटाने के लिये इतनी पूंजी एकत्र नहीं कर सकता। आय के इस नीचे स्तर से और भूमि पर भारी बोझ पड़ने से कृषिभूमि का मूल्य अनानुपातिक ढंग से बढ़ जाता है और कृषि के लिये दिये जाने वाले ऋण की ब्याज-दर ऊंची हो जाती है।

भारतीय किसान अपनी पूंजी पर जीवित रहता है। वह कर्मकार

भी है, ठेकेदार भी है, और पूंजीपति भी, और जब एक बार उस के साधन समाप्त हो जाते हैं, तो वह महाजन के रहम व करम पर आश्रित होता चला जाता है। इन परिस्थितियों ने मिल कर और भी कठिनाइयां उत्पन्न कर दी हैं। जो किसान पहले स्वामी था वह अब शिकमी बनता जा रहा है, जिस में पूंजीपति अथवा धन लगाने वाला उस की उपज का भाग बंटा लेता है और अब तो ऐसे उदाहरण भी काफी संख्या में बनते जा रहे हैं, जिन में मध्यस्थ व्यक्ति भी उस की उपज में से अपना भाग अलग लेता है। प्रारम्भिकतः भूमि पर अधिक जनसंख्या के बोझ के कारण जमीन की यह भूख—जीवन स्थिर रखने के लिए किसी अन्य साधन के अभाव में बहुत बड़ी संख्या में लोगों का भूमि की ओर झुक जाना—ही इस शिकमी व्यवस्था का कारण है, जो अधिकतर उन्हीं क्षेत्रों में प्रचलित है, जो अधिक जनाकीर्ण हैं। बम्बई के र्‌योतवारी क्षेत्रों में, मध्य प्रदेश तथा बरार में ये उपलगान असल लगान से भी दस गुने ज्यादा होते हैं और जहाँ लगान उपज के रूप में लिये जाने का रवाज है वहाँ तो धन के रूप में लिये जाने वाले लगान से भी यह दुगुना होता है। इस प्रकार के खेतों से होने वाली आय बराबर तेजी के साथ घट रही है क्योंकि पूंजीपति, मध्यार्थी या किसान किसी को भी जमीन में खाद देने या दूसरे सुधार करने में व्यय करने के लिये कोई उत्साह नहीं होता।

भारतीय किसान के आर्थिक पिछड़ेपन ने उस की खेतीबाड़ी की विशिष्टता पर भी असर डाला है। अधिक से अधिक खेतभूमि का उपयोग खाद्यान्नों के बोने में किया जा रहा है। डेरी अथवा अन्य जीवपालन के काम में और भी अधिक पूंजी, अधिक विस्तृत चरागाहों की आवश्यकता है, जिस में उतनी ही कैलोरीज़ पोषण शक्ति देने वाली उपज प्राप्त करने में, जितनी गेहूं या चावल की उपज में मिलती है, उस से चार गुनी भूमि की ज़रूरत पड़ती है। जीवपालन के काम में खेतीबाड़ी के काम से उपार्जन कहीं अधिक होता हैं और यह उपार्जन बराबर प्रगति की राह पर है, साथ ही साथ भूमि के बड़े से बड़े भाग इस में लगते चले जा रहे हैं। पूंजी व क्षेत्र की इन सीमाओं के कारण, जो स्वयं जनसंख्या के भार के कारण उत्पन्न हुई हैं, अन्य असमर्थतायें पैदा हो गई हैं। उसी भूमि पर खेती का एक चक्र बांध लेने का अवसर किसान के पास नहीं है। यदि यह हो, तो खेतभूमि की खादशक्ति स्थायी रहती है। न ही किसान के पास मिश्रित पोषक भोजन प्राप्त करने के साधन हैं। यह तथ्य कि साधारणतः लोग सस्ता से सस्ता भोजन ही प्राप्त कर पाते हैं, खेती के बारे में किसान के चुनाव पर भी असर डालता है। सस्ता से सस्ता खाद्यान्न सख्त से सख्त

होता है, और कम से कम पूंजी के व्यय तथा श्रम की अपेक्षा रखता है, और साथ ही इस का भी निश्चय रहता है कि उसकी मांग बराबर तीव्रता के साथ बनी रहेगी। पूर्ति पर प्रभाव डालने वाली मांग और मांग व पूर्ति पर प्रभाव डालने वाली उत्पादन की सीमाओं का यह मजबूत चक्र तभी तोड़ा जा सकता है, जब कि इसके आधारभूत कारण को, जनसंख्या के भार को तथा अनियमित रूप से बड़े बने उन परिवारों को, जिन्हें खेतिहर मजूर को पालन करना पड़ता है, दूर कर दिया जाए।

हमारे देश की खेतीयोग्य बेकार भूमि के बारे में जो ख्याली हिसाब लगाए गए हैं वे भी अवास्तविक हैं। [1]"बहुत से कारणोंवश, कृषियोग्य बेकार क्षेत्र हमारे साधनों के बारे में हमें अवास्तविक धारणा बना लेने को मजबूर करता है। इस प्रकार से अलग कर दी गई भूमि का बहुत सा भाग भौतिक रूप से केवल अन्न उत्पन्न करने में ही समर्थ है, जब कि हमारी आवश्यकता इतनी अधिक है कि उस भूमि के उपयोग करने में होने वाले व्यय का विचार सापेक्षतः गौण बात है।" यदि सामान व पूंजी के साधनों को भारतीय किसान की मरजी पर छोड़ दिया जाए, तो वर्त्तमान कृषिक्षेत्र में कुछ और वृद्धि हो जाने की संभावना बहुत कम है। [2]"यह एक भली प्रकार जानी-पहचानी सामाजिक मान्यता है कि सामाजिक गिरावट व हीनता के एक निश्चित स्तर से नीचे प्रतिकूल अवस्थाओं के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रवृत्ति शेष नहीं रह जाती, बल्कि, इसके विपरीत, प्रतिक्रिया की इस योग्यता का एक प्रकट अभाव और एक ऐसी अवस्था में डूब जाना भर दिखाई देता है, जिस में सभी आशाओं पर तुषारपात हो जाता है और इस प्रकार समाज की दशा एक भारी भंवर में फंस कर निम्नतम गहराइयों में पहुंच जाती है।"

बड़े पैमाने पर सिंचाई योजनाओं के द्वारा और अधिक भूमि को कृषि योग्य बना लेने की संभावना भी कोई नहीं है। सर बर्नार्ड डैनले के शब्दों में : "भारत में विशाल सिंचाई योजनाओं के दिन अब समाप्त हो चुके हैं। नदियों से होने वाली तमाम संभव पूर्ति का पूरी तरह उपयोग किया जा चुका है, और यदि अब कुछ किया भी जा सकता है, तो यही कि जल संस्थान कार्यों के द्वारा उस पानी को रोक लिया जाए, जो मानसून

---

१. सर जी० क्लार्क, सभापति का भाषण, इंडियन साइंस कांग्रेस, १९३९।

२. जनसंख्या के ऊपर कृषि की विशेष चर्चा सहित, जनसंख्या व कृषि : लीग आफ नेशंस।

काल में समुद्र की ओर बह जाता है, या यह कि जमीन के नीचे की जल की परत से ट्यूबवेल्स के द्वारा पानी खींचा जाए।" सिंचाई से अतिरिक्त उत्पादन कुछ विशेष अन्नों में ही हो सकता है, जब कि हमारे देश की बड़ी फसल चावल पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। जलपूर्ति में वृद्धि वहीं पर खेती के क्षेत्र का विस्तार कर सकती है, जहां ऐसी भूमि हो, जिसे उपयोग में लाया जा सकता हो।

जो भूमि इस समय प्राप्त है उस पर अधिक सघन खेती करने का प्रश्न भी अविचारणीय है, क्योंकि जोर-जबरदस्ती से यदि उस में होने वाले उत्पादन में वृद्धि की भी गई, तो इस के अर्थ होंगे कि वह जमीन और भी ज्यादा जल्दी बंजर हो जाएगी क्योंकि खाद या रासायनिक उर्वराएं सीमित हैं और इन रासायनिक उर्वराओं को खरीद पाने की सामर्थ्य या तो किसान में बिल्कुल ही नहीं है, ओर यदि है भी तो बहुत थोड़ी। जहां तक दूसरे हल का सवाल है कि भूमि को कुछ समय के लिये अपनी प्राकृतिक उर्वरा शक्ति पुनः प्राप्त करने के लिये जोत कर बिना बोए छोड़ दिया जाए, तो [1]"हमारी जोती हुई भूमि का काफी बड़ा भाग किसी न किसी प्रकार प्रति वर्ष बिना बोए रह जाता है, और हम अपने वर्त्तमान कृषि फल के मूल्य पर इस परती भूमि को और अधिक विस्तृत नहीं कर सकते, जब कि भारतीय खेती-बाड़ी के लिये उपलब्ध खाद पहले से ही अत्यधिक अपर्याप्त है। पहली बात तो यह है कि घरेलू खाद पशुओं की संख्या पर निर्भर है, और जब तक पशुओं की संख्या में वृद्धि न करें, जिस से कि मानवी उपभोग के लिये उपजने वाले अन्न की भूमि पर धावा मारना पड़ेगा, तब तक हम खाद में वृद्धि नहीं कर सकते। दूसरी बात यह है कि हमारी पशु-खाद का केवल चालीस प्रति शत भाग ही खाद के उपयोग में आता है, चालीस प्रति शत जलाने के काम आता है, और शेष बीस प्रति शत सग्रह करने के दोषयुक्त ढंगों के कारण नष्ट हो जाता है। इस दशा में हम जलाने की दूसरी वस्तुओं को मुहैया कर के ही जलाने में प्रयुक्त होने वाली खाद को खाद के उपयोग में ला सकते है। किन्तु गोबर की जगह लकड़ी का प्रयोग करने के लिए प्रति गांव साठ एकड़ धरती पेड़ों के नीचे आजाएगी, जिस के माने होंगे कुल भारत के सात लाख गांवों के लिये जलाने वाली लकड़ी प्राप्त करने के लिए चार करोड़ बीस लाख एकड़ धरती की आवश्यकता होगी।"

देश तथा जनता की इस बढ़ती हुई गरीबी की प्रक्रिया से बाहर

---

१. डी० घोष, भारत की जनसंख्या व कार्य-क्षमता।

निकलने का कोई मार्ग दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि अगले दशक में भी हमारी जनसंख्या में इस प्रकार वृद्धि होती रही, जैसी कि पीछे रही है, तो हमारे सभी संभवसाधन समाप्त हो जायेंगे और यदि किसी संगठित राज्य-योजना से उत्पादन में भी वृद्धि हो गई, तो वह भी काम नहीं आ सकेगी, और तब भी हमारी दशा आज से अच्छी नहीं रहेगी। उस समय अवस्था और भी अधिक दुःखपूर्ण हो जाएगी, क्योंकि भविष्य के लिए हमें कोई भी आशा नहीं रहेगी, और यह कि राष्ट्रीय योजना तमाम बुराइयों का इलाज कर लेगी इस लंबेचौड़े बहाने की अनुपयोगिता भी उस समय जगजाहिर हो जाएगी।

यदि हम बंगाल के दुर्भिक्ष जैसी वीभत्स घटनाओं की पुनरावृत्ति नहीं चाहते, तो जन्म निरोध के ज्ञान का विस्तृत रूप से प्रसार करना राज्य का प्रारम्भिक उत्तरदायित्व हो जाता है। जनता के स्वास्थ्य व सुख के दृष्टिकोण से, निरोधात्मक नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से, जितनी भी सभव हो सके उतनी ही स्त्रियों के द्वारा जन्म निरोध का व्यवहार नागरिकता का एक बाध्य कर्त्तव्य समझा जाना चाहिए। यदि यूरोपीय अनुभव हमें कुछ भी दिशाबोध करा सकता है, तो [1] "इस तथ्य की कोई भी काट नहीं है कि ज्यों ज्यों सन्तानोत्पादन की संख्या में कमी होती चलती है, त्यों त्यों स्त्रीपुरुषों की आयु में भी भारी वृद्धि होती जाती है। जन्म निरोध आरंभ होने से पूर्व मृत्यु के आंकड़े जहाँ पेंतीस से पैंतालीस वर्ष की आयु तक थे वे अब साठ से पेंसठ वर्ष की आयु से आरम्भ होते हैं, और अब भी वे लगातार प्रगति पर हैं। इस से भी ज्यादा, हाल के ही आंकड़ों से मालूम होता है कि स्त्रीपुरुषों की मृत्यु संख्या में असाधारण वृद्धि हुई है, विशेषकर प्रजनन काल में।"

राज्य की उपेक्षा के कारण जिस प्रकार औषधि की शाखाओं के ज्ञान में वृद्धि हुई है उस प्रकार जन्म निरोध के तरीकों के ज्ञान में कोई बढ़ोतरी नहीं हुई। इस के जो भी तरीके पूर्णता को पहुँचे हैं वे व्यापारिक एजेंसियों के द्वारा पूर्ण हुए हैं और इस के सम्बन्ध में ज्ञान का जो प्रसार हुआ है वह पत्रों में आने वाले विज्ञापनों के द्वारा। विभिन्न तरीकों व औषधियों के जो दावे हैं उन के सम्बन्ध में क्रमबद्ध अनुसंधान के लिए राज्य की सहायता पूर्णतः अनिवार्य है। बहुत से तरीके तो इतने अधिक व्ययसाध्य हैं कि उन का विस्तृत प्रचलन नहीं हो पाता। अन्य बहुत से अविश्वसनीय

१. डा० सी० बी० ड्रीसडेल: 'जन्म निरोध पर निर्णय', अं०, यूजेनिक्स रिव्यू, जनवरी १९३३।

हैं और कुछ तो निश्चयपूर्वक हानिप्रद हैं। उन देशी दवाओं के कथित गुणों के बारे में भी अनुसंधान करना उपयुक्त होगा, जो संस्कृत की पुस्तकों में वर्णित हैं, और जिन्हें खा लेने मात्र से ही गर्भस्थापना के भय से मुक्त हुआ जा सकता है। यदि इन तरीकों में से कुछ विश्वसनीय व सुरक्षित प्रमाणित हो गए, तो मुंह से प्रयोग किए जाने वाले इन आसान तरीकों से अधिक संतोषप्रद और कोई ढंग नहीं रहेगा। गांवों में तथा नगरों की सघन बस्तियों में जन्म निरोध के साधनों का उपभोग करने के लिये आवश्यक उपयुक्त स्थान व सुविधा की कमी है। जनता के दीनहीन वर्गों में तो एक ही कमरे में अनेक जोड़े रहते हैं, जिन में उन के बच्चे व अन्य संबंधी भी होते हैं। जन्म निरोध के बहुत से तरीके, जो आज प्रचलित हैं, इस देश में वातावरण के द्वारा लागू सीमाओं के कारण ही जनता के द्वारा प्रयुक्त नहीं हो सकते।

औसतन् भारतीय स्त्री छः या सात बच्चों को जन्म देती है। यदि इस संख्या को दो या तीन तक घटाया जा सके, तो स्वास्थ्य और सुख में पर्याप्त वृद्धि हो जायेगी। बड़ौदा रियासत में किये गए एक अनुसंधान के अनुसार, एक तिहाई मामलों में क्रमिक संतानोत्पादन के बीच का काल एक या दो वर्ष देखा गया और आधे मामलों में यह काल तीन वर्ष या इस से भी कम था। यदि सुनिश्चित साधनों के द्वारा इस कालांतर को बढ़ाया जा सके, तो जच्चाबच्चा की वर्त्तमान ऊंची मृत्युसंख्या में निश्चित रूप से कमी हो जाएगी।

सेक्स का कार्य केवल प्रजनन ही नहीं। प्रजनन तो बाद का परिणाम है, जब कि आनन्द प्रदान करना पहला काम है। यदि सेक्स को केवल संतानोत्पादन के हितार्थ ही समझा जाता, तो यह दुनिया रहने के लिए भारी मुसीबत की जगह होती। दबे हुए, अतिभाराक्रांत, अतिजनाक्रांत जीवन स्वयं को धकेलते रहने का कोई लाभ ही न समझते। इसी कारण पुराणपंथियों का मत जन्म निरोध के विरोध में उठ खड़ा होता है, क्योंकि कट्टरपंथियों के लिये सुख तो एक अभिशाप है, इसलिये नहीं कि सुख बुरा होता है, बल्कि वे इस से जन्म से वंचित होते है और उसका बदला दूसरों पर उतारते हैं। कला, संस्कृति तथा ललितकलात्मक विकास का प्रत्येक रूप इस एक राह से उत्पन्न होता है और यदि मनुष्य पशु से भिन्न है, तो वह इसी लिये कि उन में ऋतुकाल के अनुसार यौन उत्तेजना नहीं होती। प्रकृति ने गर्भस्थापना के लिये कीटाणु प्रदान करने में इसलिये उदारता से काम नहीं लिया कि वह जीवन स्थापना के अपने काम को अतिभारपूर्ण बना ले, बल्कि प्राणतत्त्वों में, अति उत्पादन से पूर्ण जीवन की संभावनाओं की परीक्षा के लिए, प्रकृति की उदारता के अतिरेक को घोषित करने के लिए, संकेत

के रूप में इन कीटाणुओं की उत्पत्ति की है।

जन्म निरोध के माने हैं नवीन स्वतन्त्रताएं, जीवन को पूर्णता के साथ व्यतीत करने के लिए नवीन अवसर। साधारणतः भारतीय स्त्रियाँ अपने ही प्रयत्नों से जीवन का सामना करने लिये अशिक्षित रहती हैं। जन्म निरोध के बहुत से सफल तरीके ऐसे हैं, जिन्हें स्त्रियों को ही प्रयोग करना है। उद्देश्यपूर्ण जीवन के प्रति स्वाभाविक उदासीनता हमारी स्त्रियों में इस कदर घर कर गई है कि इस प्रकार के तरीकों पर उनकी प्रतिक्रिया लज्जा के रूप में होती है। उन अधिकतर उदाहरणों में, जिन में जन्म निरोध के तरीकों से सफलता नहीं मिली, उसका कारण इन साधनों के प्रति स्त्रियों की अनिच्छा ही रही है,- इसलिये नहीं कि ये साधन अरुचिकर हैं, बल्कि इसलिए कि स्त्रियां प्रत्येक उस वस्तु से भागती हैं, जिस में स्वतन्त्र इच्छा से काम करने की आवश्यकता होती है। केवल उद्देश्यपूर्ण स्त्रियां ही जन्म निरोध के तरीकों को ग्रहण कर सकती हैं और जब तक स्त्रियों को उद्देश्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए उत्साहित व शिक्षित नहीं किया जाता, तब तक जन्म निरोध का अपने इच्छित लक्ष्य-स्थान तक पहुंच सकना संभव नहीं है। स्त्रियां तब भी यही सोचेंगी कि उस कार्य के अरुचिकर परिणाम से बचने के लिए, जिस में पारस्परिक सहायता अधिक से अधिक सुख प्रदान करती है, पुरुषों को साधन जुटाने में पहल करनी चाहिए। युगों की दासता ने स्त्रियों के दिमागों से आत्मविश्वास के गुण का सफाया कर डाला है और उसके स्थान पर उदासीनता और त्याग की भावनाएं भर दी हैं।

धर्म रहे या न रहे, यदि जीवन को कायम रहना है, तो इसे अपने ही वासनापूर्ण ढंग से कायम रहना होगा, जिस में कि अनुभव सुगंध में चार चांद लगाता रहेगा। जीवन की सुगंधि जीवित रहने की इच्छा में है, और जीवन पर नियन्त्रण, यदि वह मनुष्य के द्वारा व्यवहार्य हो, उस जीवन के प्रवाह को पूर्णरूपेण तथा निरावरोध चलाते रहने के लिए सुनिश्चित साधन है।

● ● ●

गर्भपात और अवैधता

सभी सभ्य कानूनों के अनुसार गर्भपात एक अपराध है। सभ्यता की कौन सी श्रेणी इस कार्यवाही को, जिस में न ही जीवन की कोई हानि होती और न ही मानव मात्र की भलाई को कोई नुकसान पहुंचता, अपराध की श्रेणी में रखती है, नहीं कहा जा सकता। आदिवासियों में गर्भपात को कभी भी अपराध नहीं समझा गया। पूर्व यूनानियों तथा रोमनों ने इस विधि के विरुद्ध कोई कानून नहीं बनाया था और ईसाइयत के उद्भव तथा ईसाई नैतिकताओं के प्रसार होने तक गर्भपात के विरुद्ध किसी प्रकार के नियम नहीं बने थे। ब्रिटिश संबंध के काल से ही भारतीय नियमों ने ईसाई नैतिकता का अनुगमन किया और यह अनुमान लगाने में अभी बहुत जल्दी होगी कि भारतीय कानून का सुधार स्वयं अपना स्वतंत्र मार्ग ग्रहण करेगा या परम्परा से चिपटा रहेगा।

गर्भपात का सब से साधारण रूप तो वह है, जिसका प्रयोग वे विवाहित स्त्रियां करती हैं, जो अपने परिवार में और अधिक वृद्धि नहीं करना चाहती। डा० ई ए० शुमन के अनुसार: "उद्देश्यपूर्ण गर्भपात के तमाम मामलों में अस्सी से पचासी प्रति शत उन स्त्रियों में घटित होते हैं, जो एक या एक से अधिक संतान प्राप्त कर चुकी होती हैं, और गर्भपात के समय अपने पतियों के संग रहती हुई होती हैं।" उन में से अधिकतर या तो जन्म निरोध के तरीकों को जानती नहीं या उन में शिक्षित नहीं होती और वे जन्म निरोध के लिये गर्भपात को ही एक मात्र साधन समझ कर ग्रहण करती हैं। आदिवासियों में, जो मैथुन और गर्भधारण के बीच किसी प्रकार के संबंध को जानते ही न थे, जन्म निरोध के साधन-स्वरूप केवल गर्भपात ही एक मात्र राह थी। यही बात हमारी अधिकांश भारतीय स्त्रियों के बारे में सही है, जो संतानोत्पत्ति को भाग्य का खेल समझती हैं। एक मात्र प्रगति जो हमारे लोगों ने की है वह विवाह और गर्भधारण के बीच के संबंध का अस्पष्ट ज्ञान है, जबकि आदिजन समझते थे कि स्रोत में नहाते समय कोई जिन्न गर्भधारण कराता है या हवा में बांहें खोल देने से ऐसा हो जाता है।

इस से कम अवसरों पर गर्भपात का सहारा तब लिया जाता है, जब कि जन्म निरोध के लिये ग्रहण किए हुए ढंग असफल हो जाते हैं और माता-पिता यह नहीं चाहते कि अनिच्छित गर्भ पोषण प्राप्त करता रहे।

यूरोपीय देशों में, जहां जन्म निरोध का ज्ञान अधिक विस्तृत है और उसका खुल कर प्रयोग होता है, इस प्रकार के मामलों की संख्या बहुत अधिक है, किन्तु भारत में शायद जन्म निरोध के लिए गर्भपात के तरीके को ही अपनाए जाने का विस्तृत प्रचलन है। यदि यही बात है, तो समाचारपत्रों तथा सस्ती किस्म की सामयिक पत्रिकाओं में जो भारी संख्या में ऐसे विज्ञापन दिखाई पड़ते हैं जिन में मासिक धर्म देरी से होने वाली बहनों को सहायता देने के दावे भरे रहते हैं, उनका उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है।

गर्भपात पर अपराध का ठप्पा लगा देना मानव स्वभाव के विरुद्ध जाता है और इसी लिये वह सफल नहीं हो सकता। गर्भपात कराने वालों के विरुद्ध धमकी भरे दंड विधान के इन तमाम वर्षों में गर्भपात कराने वालों में तथा अन्य लोगों में यह कार्य तेजी के साथ चलता रहा है। अवश्य ही उन विवाहित लोगों की संख्या बहुत सीमित है, जिन्होंने चाहे तो दवावों के द्वारा चाहे सर्जरी के द्वारा गर्भपात के तरीकों को न अपनाया हो। फिर भी इन स्त्रियों और पुरुषों ने एक अपराध की चेतना और अपराधजन्य गोपनीयत के साथ ही इन तरीकों को अपनाया या इन में योग दिया है, जिस से आपरेशन तथा आगामी गर्भधारण और भी अधिक खतरनाक हो जाते हैं। यदि ये गोपनीयता तथा अपराध की भावनाएं न होती, तो इन में खतरे का कोई काम नहीं था। विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त वैध चिकित्सकों को इस प्रकार के केस लेने की मनाही है। इस कारण यह व्यापार अनुभवहीन नीम हकीमों के हाथों में चला गया है, जिस से खतरा बहुत अधिक बढ़ गया है। इस प्रकार के अपराधों की संभावना को दूर करने के प्रयत्न में लागू दंड विधान का प्रभाव यह पड़ा है कि खतरा बढ़ गया है और उस के कंधों पर साधारण से अधिक संख्या में अपराधों का बोझ आ पड़ा है। यह हमारे विधान निर्माताओं की औंधी खोपड़ी का दूसरा उदाहरण है। हमारे विधान निर्माताओं की इस नैतिक गरमजोशी का कोई समर्थन जनता की ओर से नहीं मिलता, क्यों कि साधारण लोग गर्भपात को किसी आतंक की दृष्टि से नहीं देखते। आतंक तो कानून की उपज है। इसी प्रकार इसके परिणाम-स्वरूप बड़ी संख्या में जो मौतें होती हैं उनका जिम्मेदार भी कानून ही है।

कितने गर्भपात हो चुके हैं इसके आंकड़े तैयार करना कठिन है। इन में से अधिकतर चोरीछिपे से किए जाते हैं, और वे तभी प्रकाश में आते हैं, जब कि केस गलत हो जाते हैं। अन्यथा उन बहुत से केसों की कोई लेखबद्ध सूची नहीं है, जो 'बन्द मासिक धर्म', पेटेंट दवाओं अथवा नीम-हकीमों के द्वारा किए जाते हैं। यदि इस विषय में यूरोपीय अनुभव कुछ

काम आ सकता है, तो औसतन् एक तिहाई गर्भ इस प्रकार गिरा दिए जाते हैं। [1] "जब कि पेरिस अपने गर्भपातों के लिए प्रसिद्ध है, कुछ ही अमेरिकन नगर ऐसे हैं, जो इस के घोर शत्रु नहीं हैं। लेविन का कथन है कि न्यूयार्क नगर में प्रति वर्ष अस्सी हजार गर्भ ऐसे गिराये जाते हैं, जो अपराध की श्रेणी में आते हैं। इन गर्भपातों से जो मृत्युसंख्या कूती गई है वह एक तिहाई है। सन् १९१६ ई० में टोबिसन ने अनुमान लगाया था कि संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रति वर्ष दस लाख अवैध गर्भपात होते हैं। यदि इसे जन्मानुपात से मिला कर देखा जाए, तो इसके अर्थ होंगे कि जब लगभग २,४००, ००० बच्चे प्रति वर्ष जन्म लेते हैं, तो प्रति ढाई जन्मों पर एक गर्भपात होता है।"

जो अधिकांश स्त्रियां गर्भपात का सहारा लेती हैं, वे स्वेच्छा से ही जन्म निरोध के साधन अपना लेती, यदि उन्हें इसका ज्ञान होता और उन तरीकों को अपनाने की सुविधा होती। इस से जिम्मेदारी राज्य पर जा पड़ती है कि वह जनता को जन्म निरोध के उत्तम ढंगों से अवगत कराए। इसके विपरीत राज्य जल्लाद का काम अपना लेता है; इस काम को अवैध धाराओं में घसीटने का जो उसका अपना पाप है उसका प्रायश्चित्त करने का तो यत्न करता नहीं, उल्टे निर्दोष व्यक्तियों को उनकी अज्ञानता के लिए दंडित करता है। गर्भपात स्वयं कोई खतरनाक आपरेशन नहीं है यह रूसी अनुभव से सिद्ध हो गया है, जहां सन १९२२ व २४ में ५५,३२० आपरेशन किए गए और मृत्यु एक भी नहीं हुई। इस मामले में रूस एक मात्र देश है, जहां वैध रूप से किसी सरकारी अस्पताल में बिना किसी फीस के गर्भपात कराया जा सकता है, और यह सुविधा सभी वर्गों के लिए खुली है। यही मात्र एक बुद्धिगम्य ढंग है, जिस से इस आपरेशन में से खतरे को निकाल कर बाहर किया जा सकता है।

गर्भपात के असफल प्रयत्नों के द्वारा ही बहुत सी स्त्रियां मुसीबत में फंस जाती हैं। लेकिन क्योंकि इसके पीछे नैतिक बदनामी होती है और अपराध की भावना इसके साथ जुड़ी होती है, इसलिए कुछ ही लोगों में यह साहस होता है कि वे अपना रोग प्रमाणित चिकित्सक को दिखा कर उसका इलाज करा लें। डाक्टरों को भी गलत जानकरी दी जाती है, जो इस प्रकार गढ़ी जाती है कि रोग का असल कारण ढंक जाए। इसलिए वे भी रोग का निदान सही सही करने में असमर्थ रहते हैं।

यदि राज्य को लोगों को भलाई में कोई दिलचस्पी है, तो उसे

---

१ श्री वी० एफ कालवरटन, 'विवाह का दिवालियापन'।

फौरन् गर्भपात पर लागू तमाम कानूनों को तोड़ देना चाहिए और इसे एक पूर्ण वैध एवं सामान्य आपरेशन करार दे देना चाहिए, जिसे सामान्यतः केवल रोगी की इच्छा पर ही कोई भी प्रमाणित डाक्टर कर सके। इसके साथ साथ पर्याप्त संख्या में दवाखाने व अस्पताल खोले जाने चाहियें, जहां इस प्रकार के केस बिना किसी चर्चा अथवा दिखावे के लिये जायें। इस प्रकार का आपरेशन करने में एक मात्र शर्त जो होनी चाहिए वह यह कि स्त्रियाँ इस के विषय में साफ तौर से अपनी इच्छा प्रकट करें। इस से इस बात की संभावना जाती रहेगी कि बिना अपनी इच्छा के, किसी उकसावे में आ कर ही गर्भपात कराने के लिए कोई स्त्री आ जाए।

इस से निकट सम्बन्ध रखती हुई समस्या अवैध संतान और उस की माता की है। अविवाहित माताओं के द्वारा कराये गए गर्भपातों की संख्या यहां इतनी बड़ी चाहे न हो, जितनी यूरोपीय देशों में होती है, क्योंकि यहां जीवन बड़ी कट्टरता और अलहदगी के साथ बिताया जाता है, किन्तु यहां उन अभागिनों की संख्या बहुत बड़ी है, जो किसी अवैध संतान को जन्म देने के परिणामस्वरूप या तो अपने जीवन को समाप्त कर देती हैं या उन्हें अनाथाश्रमों में भरती हो जाना पड़ता है। इस विचार से तो कम से कम भारत की समस्या सभ्य पश्चिम से बिल्कुल भिन्न है। वहां जो स्त्रियाँ विवाहबंधन में बंधने से पूर्व गर्भवती हो जाती हैं उन को इस सीमा तक लांछित नहीं किया जाता कि वे आत्महत्या कर लें या जीवन की सामान्य गति को तिलांजलि दे कर किसी अनाथाश्रम की एकांत वायु में खो जायें। यह सब उन की आर्थिक स्वतन्त्रता के कारण हो पाता है, क्यों कि यूरोपीय देशों में स्त्रियों के लिए बिना अपने तन को या तो विवाह बंधन में बेच कर या बहुत से लोगों को इस से बाहर बेच कर, अपनी रोजी आप कमाने की आजादी है। भारत में अवस्थायें भिन्न हैं। अवैध बच्चे की मां को घर से बाहर फेंक दिया जाता है, समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है, मुंह में कपड़ा ठूंस दिया जाता है और यदि सुरक्षित रूप से मारा जा सके, तो मार तक दिया जाता है। यह सब काम या तो उस के मातापिता करते हैं या अन्य संरक्षक लोग। संसार में उस के लिये कोई स्थान शेष नहीं रह जाता। एक ऐसे देश में, जहां विवाह परलोक में दुरावस्था के विरुद्ध निवृत्ति, कर्त्तव्य व बीमे के लिये सब से अधिक फलदायी काम कराए, जहां प्रत्येक व्यक्ति बिना और कुछ करेधरे पहले विवाह करता है, वहां इस प्रकार के आदमियों के द्वारा अवैध मैथुन होते हैं जो गर्भस्थापना की स्थिति में साफ तौर से पल्ला झाड़ कर अलग खड़े हो जाते हैं, और उन पर किसी तरह की जिम्मेदारी आयद नहीं होती। इसी कारण उस अभागिन बलि-

पात्र, स्त्री के लिए साधारणतः कोई सहारा नहीं रहता। सतीत्वहंता निश्चय ही या तो कोई ऐसा आदमी होता है, जो पहले से ही विवाहित हो, या कोई उस का सम्बन्धी हो, या कोई जाति में उस से ऊंचा या नीचा हो, जिस का धार्मिक विचार से उस के साथ विवाह कर सकना वर्जित हो। हमारे देश में अनैतिकता का दाग इतना जबरदस्त है कि नैतिक नियमों का उल्लंघन करना स्वयं उस के अपने आदमियों अथवा समुदाय के द्वारा सहन नहीं किया जाता।

अवैधता के विरुद्ध नैतिक आदेशों से उत्पन्न सामाजिक समस्यायें बहुत सी हैं। बहुत सी स्त्रियां तो गर्भपात का सहारा लेती हैं और फलस्वरूप काल की ग्रास बन जाती हैं, जब कि इस से भी अधिक स्त्रियां आत्महत्या कर लेती हैं। जो लोग इन कारणों से प्राण त्याग कर चुके हैं उन के लिये हमारा उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है, किन्तु अपराध हमारा है और वह रहे चला आता है। गंधोदक और चरणामृत छिड़क कर हम चरीभूसों के ढेर में असंख्य बच्चों का उत्पन्न होना और पलना तो देख सकते हैं, खिलती कलियों के साथ पुंसत्वहीन वयोवृद्ध पुरुषों के गठबंधन की अनुमति तो दे सकते हैं, किन्तु हम रंजनार्थ किये गए सेक्स कार्य के परिणाम को नज़रअंदाज करने का दयाभाव नहीं दिखा सकते! इस के विपरीत हम इस हद तक पहुंच जाते हैं कि उन का सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता है। अवैध संतानोत्पादन के तमाम केस रंजनार्थ किये गए सेक्स कर्म के फलस्वरूप नहीं होते। यूरोपीयनों के मामले में यह बात आंशिक रूप से सही हो सकती है। यहां इन में से अधिकांश भाग भयंकर पारस्परिक कामवासना की उत्पत्ति होता है—उस पारस्परिक कामवासना की, विवाह की परतों के भीतर जिस का दमन विभिन्न धार्मिक, जातिगत और सामुदायिक पूर्वग्रहों के कारण नहीं हो पाता।

अवैध संतानोत्पत्तियों का हिसाब लगाना, विशेष रूप से भारत में, असंभव है। जर्मनी में प्रत्येक बारह बच्चों के पीछे एक बच्चा विवाह बंधन के बाहर होता है, जबकि इङ्गलैंड, इटली और अमेरिका में गंदे महल्लों एवं विशाल जनाकीर्ण औद्योगिक नगरों के बढ़ने के साथ साथ यह अनुपात तेजी से बढ़ते हुये पैमाने पर होना चाहिए। लेकिन उन बच्चों की संख्या, जो सड़कों पर लावारिस छोड़ दिए जाते हैं, मार दिए जाते हैं और अभी नवजात ही हैं, उन बच्चों से कहीं अधिक ही होगी, जो वास्तव में उत्पन्न होते हैं और जिन की देखभाल होती है। यदि हमारी अमानवीय अनैतिकता उन का तिरस्कार न करती, तो इन में से बहुत सी स्त्रियां उन बच्चों का स्वागत करती और उन का पालनपोषण करतीं।

इस से भी अधिक गंभीर समस्या, जो प्रत्येक सभ्य समाज को सुलझानी होगी वह उस माता की समस्या है, जो विवाहित नहीं है, किंतु फिर भी संतान चाहती है। ऐसी बहुत सी स्त्रियां हैं, जो आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हैं और विवाह के बंधन में बंध कर अपनी स्वतन्त्रता को तिलांजलि नहीं देना चाहती। फिर भी मनुष्यों के बनाए हुये नियमों के सम्मुख आत्म-समर्पण न कर के भी स्त्रियों का मातृत्व की कामना रखना स्वाभाविक है। सच तो यह है कि यदि अवैधता के साथ सामाजिक अथवा नैतिक बदनामी जुड़ी हुई न होती, तो तमाम स्त्रियां पुरुषों से स्वतन्त्र रह कर जीवन यापन करना पसन्द करती और अपने बच्चों का पालनपोषण करती। यह सलाह देना कोरा सनकीपना है कि टेस्ट–ट्यूब से ही क्यों न बच्चे पैदा किए जायें! स्त्रियाँ पुरुषों के संग के विरुद्ध नहीं हैं, बल्कि यदि उन्हें अवसर दिया जाए, तो उन में से अधिकतर पुरुषों के साथ रह कर ही मातायें बनना पसन्द करेंगी और साथ ही साथ अपने अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को भी हाथ से न जाने देंगी। ऐसी भी अन्य बहुत सी स्त्रियां हैं, जो या तो इस कारण विवाह नहीं कर सकती कि उन्हें उपयुक्त वर नहीं मिल पाते या वे इतनी सुन्दर नहीं कि पुरुष उन्हें बराबर साथ रखना पसन्द करें। ये स्त्रियां भी मातृत्व की कामना रखती हैं। उन से माता होने का अधिकार छीन लेना उन के जीवन को निरुद्देश्य बना देना है। यह पीड़ा सौ नगरों के जला देने से भी अधिक भीषण है।

उपर्लिखित उद्देश्यों से भारत में स्त्रियों की ओर से अभी तक किसी विद्रोह का सूत्रपात नहीं हुआ है। लेकिन यह विद्रोह आ रहा है, उतने ही निश्चित रूप से आ रहा है, जिस प्रकार कोई भी सामाजिक मान्यता परिस्थितियों की शक्ति से प्रकट हो जाती है। अधिक समय तक स्त्रियों को आर्थिक स्वतन्त्रता से हीन नहीं रखा जा सकता। यदि पुरुष आर्थिक स्वतन्त्रता रखते हैं, तो स्त्रियाँ भी इस का दावा करेंगी और वर्त्तमान समानता व स्वतन्त्रता के विचारों के रहते हुये समय के चक्र को पीछे की ओर लौटाना तथा संसार को एक नैतिक न्योली में बन्द रखना असंभव हो जाएगा। स्त्रियों के लिये कोई निर्दिष्ट स्थिति नहीं है। जीवन उतना ही उन का है, जितना हमारा—और स्त्रियों का एक मातृत्व भी है। वे लोग इसे 'पवित्र' कहते हैं, मैं इस शब्द से ही घृणा करता हूं। अन्यथा यह पवित्र है, किन्तु इस विशिष्टता के साथ कि आप किसी चीज को पवित्र कह कर नाले में धक्का नहीं दे सकते। हम विवाह के साथ, मातृत्व के साथ और स्वाधीनता के साथ ऐसा कर चुके हैं। अच्छा हो कि हम यह बरताव उस नैतिकता के साथ करें, जिस ने उन भलाइयों को, जो

न ही भलाइयां हैं और न ही बुराइयों के समान हैं, सिर पर चढ़ा-चढ़ा कर जिन्दगी को चूं चूं का मुरब्बा बना दिया है। जोड महोदय के अनुसार : [1] "यदि यह मान लिया जाए कि विवाह ईश्वर के द्वारा संपन्न नहीं होते, और संभवत: नरक की यातनाएं अपमिश्रण का परिणाम नहीं हैं, तो यह सोचना बिल्कुल अकारण है कि पांच मिनिट के आनंद के लिए कोई सदा सदा के लिये तिरस्कृत हो जाए। इस में कोई संदेह नही कि ईश्वर पवित्रता से प्रेम करता है, किन्तु जब सांसारिक प्रेम प्राप्त है, तो ईश्वर के प्रेम के लिये इतनी बड़ी कीमत देना उचित नहीं भी हो सकता।"

गर्भपात व अवैधता के विषयों से सुलझने का केवल एक ही सभ्य तरीका है, और वह है गर्भपात को वैध बना देना और अवैधता को नैतिक करार दे देना। विशेषज्ञों द्वारा संचालित राज्य-अस्पतालों में व दवाखानों में अनिच्छित गर्भ को कृत्रिम रूप से समाप्त कर देना इतना ही आसान हो जाना चाहिए, जैसे कोई अपनी नाक का आपरेशन करा लेता है। बिना उपयुक्त योग्यता व साधनों के इस प्रकार का आपरेशन करना ही एक मात्र अपराध माना जाना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य गर्भपात को बढ़ावा देने जा रहा है। इसके विपरीत राज्य इस प्रकार की घटनाओं के खतरों की संभावनाओं को दूर करेगा, जिन में अन्यथा कहीं अधिक खतरों की संभवनायें हैं। समय तथा शिक्षा की प्रगति से गर्भपात का अस्तित्व भी नहीं रहेगा और इस के स्थान पर जन्म निरोध के साधन आ जायेंगे, क्योंकि यह सब लोग जानते हैं कि जहां जन्म निरोध सफल हो जाता है, वहां गर्भपात की घटनायें नहीं होती।

प्राय: यह तर्क भी सुनाई पड़ जाता है कि स्त्रियों के विद्रोह का विचार मात्र अस्थाई विचार है। उदाहरण के लिये जर्मनी में, जहां और कहीं की बनिस्बत स्त्रियां अधिक स्वतन्त्रता के स्तर तक पहुंच चुकी थी, आशा के बिल्कुल विपरीत उन्होंने नाजी आन्दोलन की पुकार पर रसोई, बच्चों तथा संस्कृति के काम को संभाल लिया। कारण स्पष्ट है। जर्मन स्त्रियों ने आर्थिक स्वतन्त्रता तो प्राप्त कर ली, यद्यपि यह स्वतन्त्रता भी अपूर्ण ही थी, किन्तु उस व्यक्तिगत स्वाधीनता को प्राप्त करने के लिये, जिस में आर्थिक स्वतन्त्रता भी शामिल है, उन्होंने नैतिक स्वाधीनता प्राप्त नहीं की थी। वे उसी नैतिक परम्परा से ग्रस्त रहीं, जो सेक्स की आवश्यकता पूर्ति को बहिष्कृत वस्तु करार देती है। जिन में इतना नैतिक साहस था कि

१. श्री सी० ई० एम० जोड, 'प्रेसिमेचस अथवा नैतिकताओं का भविष्य', लंदन, केमानपोल।

बिना विवाहित हुए ही परम्परा के विरुद्ध संतान उत्पन्न करने की हद तक पहुंच गई, उन्होंने यह काम भारी शारीरिक व मानसिक दबाव से किया। वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था में प्रसव काल का अर्थ है स्थायी या अस्थाई रूप से नियोजन का अभाव, इसलिए जो नैतिक परम्परा के विरुद्ध एक कदम भी बढ़ीं उन्हें या तो अपना वह कदम लौटाना पड़ा या उन्हें अपनी गलती का अनुभव हुआ। अपूर्ण रूप से संगठित अवस्थाओं में जो नई राह निकलती थी उसकी अपेक्षा पुरानी अवस्था अधिक अच्छी थी। इसी कारण बहुत सी स्त्रियां नाजियों की पुकार के पीछे चल पड़ी और कठिनाई से विजय की हुई अपनी स्वतन्त्रता को भुला बैठी। इस प्रकार पीछे लौटने में उन्हें मुंह छिपाने के लिये एक विचारधारा का सहारा था, किन्तु कुछ ही व्यक्ति उन कारणों का विश्लेषण करने की शक्ति रखते थे, जिन्होंने इस अधोगमन को आवश्यक बना दिया। मातृत्व, प्रेमजीवन, और आर्थिक स्वाधीनता ये तीन असंबद्ध वस्तुयें किसी आर्थिक रूप से असंगठित समाज में पुरातन परम्परा से ग्रस्त होती हैं। स्त्रियां व्यक्तिगत स्वाधीनता का उपभोग तभी पूरी तरह कर सकती हैं, जब कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की उस अतिरिक्त जिम्मेदारी को यानी मातृत्व की जिम्मेदारी को राज्य, पर्याप्त अस्पतालों की सुविधाएं प्रदान कर के, बच्चों के लिए शिशुगृह खोल कर, और मातृत्व के लाभ के लिये नियोजन को सुरक्षा व क्रमबद्ध योजनाओं का निर्माण कर के, बंटा लें। नस्लों को बढ़ाने में जो सामुदायिक सेवाएं स्त्रियां करती हैं उन के मुकाबले के रूप में राज्य को और परोक्ष रूप से समुदाय को उनकी अतिरिक्त देखभाल करनी चाहिए।

यदि केवल पुरुष स्त्रियों के प्रति अपने व्यवहार को बदल देते, तो स्त्रियां वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के भीतर भी स्वतन्त्रता के विचारों को, आर्थिक स्वाधीनता की कल्पना को तथा मातृत्व की कामना को पूर्ण कर सकती थी। सब मिला कर पुरुष स्त्रियों को अब भी सहगामिनी समझने की अपेक्षा संपदा ही अधिक समझते हैं। यही कारण है कि पुरुष काम करने वाली स्त्रियों से विवाह करना नहीं चाहते। ये स्वाधीन स्त्रियां पुरुषों की ओर से इस उपेक्षा के कारण उस समय तक किसी प्रकार के प्रेम जीवन में प्रवेश नहीं कर सकती, जब तक कि वे नैतिक परम्पराओं के विरुद्ध कदम उठा कर, फलस्वरूप, जीवनयापन के साधनों के छिन जाने तक का खतरा भी मोल न लें। नारी जागरण आंदोलन के प्रारम्भिक दिनों में स्त्रियों को पुरुषों की नकल करने की ओर भी भटका दिया गया था। इस विचारधारा का तर्कसम्मत परिणाम भी उसी प्रकार निराशा में होना था, जैसा कि स्त्रियों के मामले में इस विचार का हुआ कि आर्थिक स्वाधीनता के लिये संघर्ष करना

ही स्वयं संपूर्ण उद्देश्य है। तमाम प्रयत्नों का उद्देश्य है व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्राप्त करना और आर्थिक स्वाधीनता उसका एक भारी अंग है। यदि कुछ स्त्रियों ने आर्थिक स्वाधीनता को ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समझ लिया, तो यह आसानी से समझ में आ जाने वाली बात है कि क्यों उन स्त्रियों ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से आबद्ध अन्य आवश्यकताओं को तिलांजलि दे कर केवल सेक्स की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिपे आर्थिक स्वतन्त्रता को भुला दिया। प्रारम्भिक नारी सुधारकों की तरह, आज पुरुषों की तरह कुछ ही स्त्रियां परेड करती दिखाई देती हैं। इसी प्रकार समय आने पर उन स्त्रियों की संख्या और भी कम हो जाएगी, जो बिना यह समझे कि सुधार व जागरण के अर्थ क्या हैं और पूर्ण स्वतंत्रता के लक्ष्य-स्थान तक पहुंचने के लिये आगे और किन किन पुराने विचारों को तिलांजलि देनी पड़ेगी, आर्थिक उद्धार का यत्न करेंगी। यदि पहले से ही वे इस बारे में अपने को शिक्षित कर लें, तो तीसरे दशक में जो जर्मन स्त्रियों का हाल हुआ वह उनका नहीं हो सकेगा। तब समाज विवाहित और अविवाहित स्त्रियों में, तथा वैध एवं अवैध बच्चों में भेद करना छोड़ देगा।

● ● ●

वंश विज्ञान

मानव जाति का वैज्ञानिक उत्पादन कर सकना संभवत: असंभव है। इस अवस्था की प्राप्ति के विरुद्ध कितने ही कारण काम कर रहे हैं। प्रथम, आप यह डिग्री नहीं दे सकते कि अमुक दो व्यक्ति समागम कर सकते हैं और अमुक दो व्यक्ति नहीं कर सकते। यह तो मनुष्य को उस के व्यक्तित्व से ही वंचित कर देने के समान होगा। सामान्य जीवन व्यतीत करने के लिए उस के पास नाम मात्र की ही स्वतन्त्रता शेष रह जाएगी। वंश विज्ञान के विचार का घोर से घोर समर्थक भी इस का समर्थन नहीं करेगा।

दूसरी ओर अधिक कठिन संभवत: यह मालूम करना है कि अच्छी नस्ल उत्पन्न करने के लिए कौन कौन लोग उपयुक्त हैं। मेंडेल महोदय के वशानुक्रम के नियम के अनुसार ऐसे बहुत से स्त्री और पुरुष हैं, जिन में विभिन्न दबे हुये आनुवंशिक रोगों के विकार उत्पन्न हो चुके हैं। वंश विज्ञान ने अभी इतनी उन्नति नहीं की है कि वह इन विकारों के उत्पन्न होने का कारण बता सके। आनुवंशिक कारणों से अलग प्राकृतिक कारणों से भी विकार उत्पन्न हो सकते हैं। यह बात पशुओं पर किये गए प्रयोगों से भी सिद्ध हुई है। अपने रोगों के आनुवंशिक विकारों को जानने की आशा कुछ ही लोगों से की जा सकती है, और यदि उन्हें इस प्रकार के विकारों का कोई संदेह हो भी, तो ऐसे लोग और भी कम होंगे, जो मंगनी अथवा विवाह के अवसर पर उन विकारों की चर्चा कर दें।

राष्ट्रीय समाजवादी जर्मनी ने वंश विज्ञान के तरीकों पर प्रयोग किए। [1]"१६३३ से ३७५,००० व्यक्तियों का नपुंसकीकरण अथवा बंध्याकरण किया गया, जिन में से २०३,५५० जन्म से ही मानसिक विकारों से ग्रस्त थे, और जिन में से एक लाख से अधिक व्यक्ति मिरगी व मनस्जड़ता से पीड़ित थे।" इस के अतिरिक्त शरणागारों में रहते हुये एक लाख से ऊपर व्यक्तियों को गैस चैम्बर में यम के हवाले कर दिया गया। इन सब तरीकों के बावजूद आनुवंशिक रोगों की रोकथाम में मामूली सी ही प्रगति देखी गई, और उन में से कुछ तो बढ़े हुये भी पाए गए।

---

१. डा० जे० ब्रांडस का संदेश, दी बेल्जियन रिवीव, लंदन।

वंशानुक्रम के नियम के अनुसार आनुवंशिक रोग दो प्रकार के होते हैं : प्रकट व गुप्त । यदि एक प्रकट आनुवंशिक रोग से ग्रस्त व्यक्ति एक पूर्ण सामान्य व्यक्ति से समागम करेगा, तो उन की संतान भी उसी रोग से ग्रस्त होगी। रोगों की इस श्रेणी में इन रोगों को भी सम्मिलित किया जा सकता है : संत वितस का नृत्य (एक प्रकार का स्नायु रोग), उद्दीप्त चर्म रोगों के विभिन्न रूप, जैसे कोढ़, ब्रेचीडाक्टिलिज्म (नाखूनों का छोटापन), सिंडेक्टिलिज्म (उंगलियों अथवा पंजों का गल जाना), माइक्रोमेलिया (दोनों हाथों और दोनों अग्रबाहुओं का गायब हो जाना) और कोष्ठविकार । इस विश्लेषण के अनुसार विभिन्न मानसिक अव्यवस्थायें, मानसिक विषाद और मिरगी आदि का वर्गीकरण अभी होना शेष है ।

दबे हुये रोगों के मामले में, यदि इस प्रकार के रोग से ग्रस्त कोई व्यक्ति किसी साधारण स्वस्थ व्यक्ति से समागम करता है, तो संतान में वे चिह्न प्रकट नहीं होते। लेकिन अगर यह संतान किन्हीं ऐसे मातापिता की सन्तान से विवाह कर ले, जिन में से एक या दोनों इस प्रकार के रोग से ग्रस्त हों, तो उन से जो संतान होगी उस के जन्म से ही आनुवंशिक रोग से ग्रस्त होने की संभावना है । इन मामलों में चाहे मातापिता पूर्ण स्वस्थ व सामान्य हों, लेकिन उन में से प्रत्येक इन रोगों के एक एक भाग से ग्रस्त हो और एक एक भाग उन का स्वस्थ हो, तो संतानों की प्रवृत्ति उन दोनों से ही रोग प्राप्त करने की रहेगी और रोग उस पीढ़ी में प्रकट हो जाएगा । गूंगापन, बहरापन, बचपन की मानसिक जड़ता, अव्यवस्थित मानसिक योग्यतायें, और अंधापन, इन सब को दबे हुए रोगों की श्रेणी में रखा जा सकता है ।

जर्मनी में किसी के नीचे लिखे रोगों से ग्रस्त होने पर कोई अदालत उस के नपुंसकीकरण अथवा बंध्याकरण का आदेश दे सकती थी : मानसिक अथवा जन्म का विकार, मनस्जड़ता, मिरगी, तीव्र मद्यासक्तता, मानसिक अव्यवस्था, आनुवंशिक अंधापन व संत वितस का नृत्य । इन का आपरेशन केवल राज्य अस्पतालों में ही किया जा सकता था और इन रोगों में से किसी से भी ग्रस्त न होने पर किन्ही व्यक्तियों के द्वारा स्वेच्छित बंध्याकरण अथवा नपुंसकीकरण नहीं कराया जा सकता था, जिस का परिणाम यह होता था कि बहुत सी अनाथ स्त्रियां जिन के पास पेट पालने के लिये वेश्यावृत्ति के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं होते थे, मानसिक विकारों से ग्रस्त होने का बहाना कर लेती थीं और बंध्याकरण करा लेती थीं ।

वंश विज्ञान के साधन के रूप में नपुंसकीकरण अथवा बंध्याकरण की सफलता का निर्णय केवल जर्मनी से ही नहीं हो सकता। यद्यपि यह

सत्य है कि जर्मनी में दस वर्षों के वंश विज्ञान सम्बन्धी प्रयोगों से भी आनुवंशिक रोगों को कम करने में सफलता नहीं मिली. किन्तु इस से यह बात इस हद तक सिद्ध नहीं होती कि ये प्रयोग बेकार हैं । असमर्थ व्यक्तियों के नपुंसकीकरण अथवा बंध्याकरण से उन व्यक्तियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, जो सब ओर से देखने में सामान्यत: स्वस्थ हैं, किन्तु जिन में आनुवंशिक रोगों के भावी परिवर्तन विद्यमान हैं और जो उन विकारों को अगली पीढ़ी तक ले जाने में समर्थ हैं । पिछली अनेक पीढ़ियों से ये परिवर्तन घटित हो रहे हैं और अब भी घट रहे हैं, जिन के कारण आनुवंशिक भी हैं और प्राकृतिक भी । जिन वर्त्तमान ज्ञान और साधनों का हम उपयोग कर सकते हैं उन के द्वारा इन का पता लगाना कठिन हो जाएगा । लेकिन अयोग्य व्यक्तियों के नपुंसकीकरण अथवा बंध्याकरण से एक बात तो अच्छी होगी । क्यों कि इन लोगों को संतानोत्पादन से वर्जित कर दिया जाता है) कि कम से कम इन व्यक्तियों के द्वारा इन की सतति में इन रोगों के संक्रमण की संभावना शेष हो जाती है । यह तर्क किया जा सकता है कि उन असमर्थ हुये व्यक्तियों के तमाम बच्चे विकारयुक्त न भी हों, किन्तु यह सुरक्षित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे रोगों के जन्मजात प्रसारक नहीं होंगे । उन बच्चों में से कुछ विभूतियां अथवा श्रेष्ठ नागरिक भी हो सकते हैं और हम क्योंकि उन के जन्म लेने की संभावनायें ही समाप्त कर रहे हैं, इस कारण हम मानवता के उन से लाभान्वित होने के अवसरों का निराकरण कर रहे हैं । इस तर्क का उत्तर भी समान दृष्टिकोण से दिया जा सकता है । कारण यही है कि एक प्रतिभा के जन्म लेने की संभावना के साथ साथ इस प्रकार के समागम से सैंकड़ों और हजारों व्यक्तियों के जन्म से ही विकारयुक्त उत्पन्न होने की संभावनायें हैं, जो आने वाली अनेक पीढ़ियों में इन विकारों का संक्रमण कर देंगे और इस प्रकार सख्या में बराबर गुणा के रूप में प्रगति होती चली जाएगी । स्वस्थ व्यक्तियों की अपेक्षा अस्वस्थ व्यक्तियों की संख्या का अनुपात अब भी बहुत कम है, और जबकि इन स्वस्थ व्यक्तियों में प्रतिभाओं के इतने सारे भावी पिता मौजूद हैं, तो अस्वस्थ व्यक्तियों की पंक्तियों में से कुछ प्रतिभाओं को प्राप्त करने की कठिन विलासिता को दुनिया आसानी से दरगुजर भी कर सकती है । ये प्रतिभायें न केवल महंगी हैं, अपितु इन में मरणान्तक खतरा है, और मानवता को इस प्रकार की प्रत्याशाओं का पोषण न करने की सलाह देना ही अत्युत्तम है ।

नपुंसकीकरण अथवा बंध्याकरण के अतिरिक्त और भी अन्य तरीके हैं, जिन से भावी पीढ़ियों के स्वास्थ्य की ओर से तर्कसम्मत ढंग से निश्चित हुआ जा सकता है और अनिच्छित संतति की उत्पत्ति को रोका जा सकता

है। एक तो यह है कि जो अनिच्छित व्यक्ति वर्त्तमान में हैं उन्हें विवाह करने अथवा समागम करने की अनुमति नहीं मिलनी चाहिए। यदि प्रतिरोध हों भी तो उन्हें तोड़ देने अथवा लांघ जाने के साधन भी मौजूद रहेंगे। पता लग जाने पर राज्य अपराधी को दण्ड भी दे सकता है। किन्तु जो जन्मजात विकार पहले ही संतति में संक्रमित हो चुका है उस का उस के पास कोई इलाज नहीं होगा। इस के अतिरिक्त राज्य पर किसी ऐसे दूसरे व्यक्ति पर या उस के भावी पिता पर निगाह रखने की जिम्मेदारी आ जाएगी। इन सब के अलावा नपुंसकीकरण अथवा बंध्याकरण अधिक मानवीय, अधिक नैतिक और अधिक सुरक्षित है, बजाए इस के कि इस के स्थान पर विवाह अथवा समागम पर प्रतिबंध लगा दिए जाएं।

स्वेच्छापूर्ण नपुंसकीकरण एवं बन्ध्याकरण संयुक्त राज्य अमेरिका व डेनमार्क सहित अन्य बहुत से देशों में कानून-सम्मत हैं। भारत में भी यदि कोई बंध्याकरण या नपुंसकीकरण कराना चाहे, तो उस के लिये कोई रोकटोक नहीं है। किन्तु अनुमतिमूलक कानूनी व्यवस्था या प्रतिरोधों का अभाव मात्र ही वंश विज्ञान के निश्चित साधन का रूप नहीं ले सकते, न ही इस से उत्तम जाति के लक्ष्य-स्थान पर पहुंचने के लिये कुछ मिलता। इङ्गलैंड में तत्संबंधी कानूनी अवस्था संदेहास्पद है। स्व० लार्ड रिडेल के अनुसार नपुंसकीकरण अथवा बंध्याकरण को अपाहिज कर देने के अर्थों में भी लिया जा सकता है, इसलिए दंडनीय है। किन्तु श्री हैवलॉक एलिस का मत है कि ब्रिटिश कानूनों में इस प्रकार की कोई चीज नहीं है, जिस से यह समझा जाए कि स्वेच्छापूर्ण नपुंसकीकरण अथवा बंध्याकरण अपराध की श्रेणी में आते हैं।

स्त्रियों के बंध्याकरण में क्यों कि पेडू को चीरना पड़ता है, इसलिए इस को बड़ा आपरेशन समझना पड़ता है। लेकिन यदि कुशल सर्जन इस आपरेशन को करें, तो यह न ही हानिकारक है और न ही खतरनाक। वासोलीगेचर अथवा वासेक्टोमी से पुरुषों का नपुंसकीकरण एक छोटा आपरेशन है, जो रोगी के घर पर भी किया जा सकता है और कुछ डाक्टरों का तो यह भी मत है कि इस प्रकार के किसी आपरेशन के बाद पलंग पर लेटे रहना आवश्यक नहीं है। चिकित्सकों ने स्त्रियों और पुरुषों के बंध्याकरण व नपुंसकीकरण के लिए और बहुत से विभिन्न तरीके निकाले हैं। अंडकोष के मुष्कों तथा स्त्रियों के अंडाशयों पर एक्स-रे और रेडियम का उपचार, स्त्रियों को वीर्य का टीका लगा देना, स्त्रियों की अंडानुवहा नालियों को बिजली के अस्त्र से रांझ देना, जिस से कि गर्भाशय का मुख बंद हो जाए— ये उन तरीकों में से कुछ हैं। किन्तु इन में से अधिकतर या तो अविश्वसनीय

हैं या खतरनाक हैं।

औसत पुरुष या स्त्री की यह गलत धारणा है कि बंध्याकरण का अर्थ स्त्रियों के अंडाशयों को हटा देना और नपुंसकीकरण का अर्थ पुरुषों के अंडकोषों को दूर कर देना है। इन दोनों ही युक्तियों से स्वास्थ्यहीनता, विकृत जीवन शक्ति आदि परिणाम निकलते हैं और रोगियों की भलाई की भावना से विपरीत ही इनका प्रभाव पड़ता है। किन्तु वीर्य प्रवाहिका नालियों को अलग कर के पुरुषों में नपुंसकीकरण करने से और अंडानुवहा नालियों को काट कर या हटा कर स्त्रियों में बंध्याकरण करने से न ही किसी प्रकार की हानि होती और न ही ये युक्तियां रोगियों के स्वास्थ्य अथवा कामोत्तेजना पर कोई प्रभाव डालती। डाक्टर नारमन हेयर के अनुसार पुरुष का आपरेशन "प्राय: मानसिक एव शारीरिक स्वास्थ्य में वास्तविक सुधार उत्पन्न करता है" और स्त्रियों का आपरेशन "शारीरिक, मानसिक या यौन स्वास्थ्य पर कोई हानिकर प्रभाव नहीं डालता, और किसी भी प्रकार से उन की कामेच्छा की सामर्थ्य अथवा कामतुष्टि को नहीं घटाता, और मासिक स्त्राव में कोई अन्तर नहीं डालता, जो कि पहले की ही भांति प्रवाहित होता है।" यह भी दावा किया जाता है कि बाद में दूसरा आपरेशन करने पर, यदि इस प्रकार की इच्छा प्रकट की जाती है, तो उर्वरा शक्ति फिर से प्राप्त की जा सकती है।

वंश विज्ञान के अनुसंधानों की रोशनी में देखने पर निकट संबंधों में व भानजी-भानजे या भतीजी-भतीजे के विवाह संबंधों का निषेध उपयुक्त प्रतीत होता है। यदि परिवार की संस्था जिस प्रकार आज है उसी प्रकार चलती रही, तो ये नैतिक अवरोध अपनी वैधता स्थिर रखेंगे। जिस क्षण परिवार स्वतंत्रता के नए विचार के सम्मुख विलीन हो जाएगा और स्त्रियां अपने पतियों से भिन्न निवास स्थानों में रह कर लाभकारी धंधों में लग जायेंगी, उसी क्षण निकट संबंधों की पहचान रखना एक कठिन काम हो जाएगा। साथ ही नवीन नैतिकता इन वंश विज्ञान सम्मत निर्देशों की नींव का ही सफाया कर डालेगी क्योंकि इन्हें भी कट्टरपंथी सभ्यता के नैतिक अवरोधों का भाईबद समझा जाएगा।

परिवार यद्यपि निकट संबंधों की पहचान को संभव बना देता है और उन व्यक्तियों के संयुक्त होने पर रोक लगा देता है, जिन में आनुवंशिक रोगों के समान विकार उत्पन्न हो सकते थे, किन्तु इसने एक बड़े पैमाने पर विकारों के अंतर्प्रसार को भी बढ़ावा दिया है। परिवार संस्था की संकीर्णता ने समुदायों को ऐसे छोटे छोटे संप्रदायों अथवा विभागों में विभक्त कर दिया है, जिन में प्रत्येक समूह से संबंध रखने वाले व्यक्ति केवल उसी

समूह के भीतर विवाह कर सकते हैं। सदियों से चले आते इन अपराधों ने जाति के लिये प्रगतिशील ह्रास का काम किया है। भारतीयों की बड़ी संख्या क्यों बंदरों, अनगढ़, बेतुके व्यक्तियों की तरह दिखाई देती है और वे क्यों लम्बाई में छोटे छोटे व ह्रासोन्मुख हैं, इनके कारण ढूंढने के लिये बहुत दूर नहीं जाना होगा। किसी विशेष संप्रदाय के ब्राह्मण केवल उन्हीं विशेष संप्रदायों के ब्राह्मणों से विवाह संबंध कर सकते हैं, जो एक संकीर्ण व सीमित दायरे के भीतर रहते हैं। क्षत्रिय क्षत्रियों से, मुसलमान मुसलमानों से, बंगाली बंगालियों से, ऐयर ऐयरों से ही विवाह संबंध कर सकते हैं और जनता का बड़ा हिस्सा केवल सदा से संबंधित रहते हुए उपसम्प्रदायों तथा उपविभागों में ही शादीब्याह करता रहा है। इस कारण से जनता की जीवनशक्ति अंतर्प्रसार से इस प्रकार घुलती जा रही है कि किसी के यही समझ में नहीं आता कि मानवता का यह विस्तृत भाग, जो इतनी तेजी से घटता हुआ चूहे के स्तर तक पहुंचा जा रहा है, इसे रोकने का क्या इलाज है। यदि परिवार और उस से उत्पन्न होने वाली संकीर्णता के विलीनीकरण से कोई चीज उत्पन्न होगी, तो यही कि लोग इस अंतर्प्रसार को बढ़ावा देने वाले आदेशनिर्देशों के कठोर बंधन से छुटकारा पा जाएंगे और सुख के व प्रगतिशील जाति-संस्कृति के एक नवीन स्तर पर पहुंच जायेंगे।

जब तक देश के विभिन्न जातिगत संप्रदाय खुल कर आपस में अंतर्विवाह करना आरंभ नहीं कर देते, तब तक कुल राष्ट्र का जातिगुण उन्नत नहीं हो सकता। यह अवरोध कि केवल भौतिक अवस्था ही भारतीय जनता के जीवन को हीन बनाती जा रही है और इसी कारण यह जनता रसातल में धंसती जा रही है, उसी प्रकार एक कारण के स्थान पर दूसरे कारण को समझ लेने की भूल है। कोई भी जनता तभी शक्तिवान होती चली जा सकती है, जब कि उसके जीवन को कायम रखने वाले उनके धार्मिक संबंध भी समान शक्तिवान हों।

इस से पहले कि वंश विज्ञान के निश्चित साधनों को राज्यनीति के तौर पर अपनाया जाए, उन सभी सामाजिक अवरोधों को हटा दिया जाए, जिन से अंतर्प्रसार को बल मिलता है तथा दूर से दूर के भूभागों व संप्रदायों के लोगों को आपस में मिश्रण करने एवं विवाह संबंध स्थापित करने के लिये बढ़ावा दिया जाए। इसी प्रकार की सामाजिक कढ़ाई में मानवता का सत निकल सकता है। हो सकता है कि उस में से कुछ हीन गुणों से युक्त बुलबुले और मैल आदि निकलें, किन्तु प्रगति के साथ साथ वे भी भीतर ही भीतर समाप्त हो जायेंगे, और उस विकास के भंवर में पड़ कर विलीन हो जायेंगे, जो प्रकृति का विधान है।

सौंदर्य बढ़ाना एक ललितकलात्मक प्रयत्न है। मनुष्य के अन्य प्रयत्नों की तुलना में यह प्रयत्न यदि उन से अच्छा नहीं है, तो अनुकूल अवश्य है। सत्य एवं भलाई की तह तक पहुंचने के उन प्रयत्नों में मैं सुख के लिये किये जाने वाले प्रयत्नों को भी शामिल करता हूं। मानव आकृति का सौंदर्य कहां तक बढ़ सकता है इसकी कोई सीमा नहीं है। पशुओं में, और फूलों में भी, ललितकलात्मक आनन्दप्राप्ति के लिये जिनकी सामर्थ्य व सुन्दरता की प्रशंसा की जाती है, एक सीमा है और एक प्रतिमान भी है। मानवाकृति की सुन्दरता के बारे में यह बात नहीं हैं। इस में इस प्रकार के गुण विद्यमान हैं, जो ललितकलात्मक प्रशंसा की पात्र कोई वस्तु उत्पन्न नहीं कर सकती और न उन से बाजी मार सकती। इसकी बारीकी, आकर्षण, भावना, सुगंधि और ताजगी, एकरूपता, संगति व माधुर्य, कला, सजीवता और कोई भी वह गुण जो भावनाओं पर प्रभाव डाल सकता है, एक पूर्ण सुगठित मानवाकृति में अपनी संपूर्णता को पहुंचा हुआ है। पुरातन यूनानियों के अतिरिक्त किसी भी जनता ने इस प्रकार की संस्कृति का विकास करने का यत्न नहीं किया। यदि हम इस के लिये प्रयत्न करने की ओर पग बढ़ाएं, तो सचमुच वह एक बड़ा कदम होगा।

जातियों की संस्कृति राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर ही आबद्ध नहीं रहनी चाहिए। राष्ट्रीय रूप में आरम्भ हो कर इसे अंतर्राष्ट्रीय रूप ग्रहण कर लेना चाहिए। यदि एशियाइयों में व यूरोपीयनों में अंतर्विवाह होने लगें, तो हमें अधिक समय तक वह पारस्परिक अविश्वास देखना नहीं पड़ेगा, जो अब मानवता को विजेता और विजित, काले और गोरे, बड़े और छोटे, शोषक और शोषित के दो पक्षों में विभक्त कर देता है। संस्कृतियों का झगड़ा ही वह सब से बड़ा कारण है, जो आज यूरोपीयनों, एशियाइयों और उन अन्य जातियों के मार्ग में, जो काली कहलाती हैं, खड़ा हुआ है और उन्हें आपस में अंतर्विवाह करने और खुल कर मिश्रित होने से रोकता है। वह यही संस्कृति का झगड़ा है, जो दोगले व्यक्ति को सामाजिक रूप से हीन करार देता है। फ्रायड के कारण ही हमें इस बात की संतोषप्रद व्याख्या मिल सकी है कि दोगले व्यक्ति क्यों अपने को लोगों के उन सामान्य समुदायों से ऊंचा समझते हैं, जिन में मिश्रित होने में उनके लिये विभेद से काम लिया जाता है। स्पष्ट है कि हीनताभास का मुकाबला उच्चताभास की भावना से ही किया जा सकता है। दुःखपूर्ण बात यह है कि एक मिश्रित संस्कृति के विकास के लिये दोगली जनसंख्या के चारों ओर का वातावरण इस के अनुकूल नहीं पड़ता, न ही इच्छा मात्र से संस्थाओं को एक स्थान से उखाड़ कर उस वातावरण में रखा जा सकता, जो उस संस्कृति के अनुकूल नहीं है। यदि

किसी मिलीजुली संस्कृति से लोगों के मिश्रण के विरुद्ध खड़ी इस दीवार को नहीं गिराया जा सकता, तो कम से कम दोगली जनसंख्या के बारे में सामाजिक समागम या आर्थिक प्रगति को ले कर, बिना किसी प्रकार के भेद-भाव के उसे विशाल जनसमूह में एकरूप हो जाने का अवसर देने के लिये और उन में आत्मविश्वास जाग्रत करने के लिये उस दीवार को लांघा तो जा ही सकता है।

इस प्रकार की नीति की पैरवी करने से भारतीयों तथा यूरोपीयनों दोनों ही की ओर से मेरा तीव्र विरोध होगा। यूरोपीयन लोग, जो इस उच्चताभास को पाले हुए हैं कि मानवता को उसकी मंजिल तक पहुंचाने का काम उनके कंधों पर है, यद्यपि यह काम उनका स्वयमनोनीत है, जोश के मारे चिल्ला चिल्ला कर कहेंगे कि हीन जातियों से मिल कर वे भी हीन हो जाएंगे और प्रमुख जनसमूह की हैसियत मे चली आती मानवता की नेतागिरी वह उसकी संभावनायें उनके हाथ से निकल जायेंगी। मानवता की वह मंजिल क्या है इसके बारे में हमें अभी चिंता करने की आवश्यकता नहीं है। साधारणतः भारतीय उसका इस भय से विरोध करेंगे कि इस से उनकी जातीय पवित्रता का बंटाधार हो जाएगा। वह पवित्रता एक ऐसी पवित्रता है, जो प्रत्येक वस्तु में उनको पवित्रता की प्रतीक है, अच्छाई की ओर से पवित्रता, सुधार की ओर से पवित्रता।

दुनिया की नस्ल पिछले कुछ दशकों में जो अपना कुछ भी सुधार नहीं कर पाई है इसका कारण है कि वे उतने परिमाण में जाति-मिश्रित नहीं हुई. जिसके लिये उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग की विशिष्टता मानी जाती है, और जिसने अपने प्रसार में वातावरण पर भारी आक्रमण कर के नवीन भूभागों को खोल दिया था। ऐसे विचारक भी हैं, जो दावा करते हैं कि तमाम दुनिया की सभ्यतायें उन अग्रगामी जातियों की आक्रमणकारिता से उद्भूत हुई हैं, जिन्होंने अपनी जातीय पवित्रता को सुरक्षित रखा, और जब उनकी जातीय पवित्रता सुरक्षित नहीं रखी जा सकी तभी उन्हें पराजय का मुंह देखना पड़ा। कुछ ही लोगों को यह जानने की परवाह रहती है कि यदि ये सभ्यतायें आक्रमणकारी इच्छाओं से उत्पन्न होने की अपेक्षा प्रेम के माध्यम से उत्पन्न होती, तो दुनिया की कितनी चतुर्मुखी प्रगति होती और इन सभ्यताओं में बसी हुई वे कितनी उत्तम वस्तुयें आज तक भी कायम रहे चली आती, जो घृणा और जातिद्वेष की कब्र में दब कर विलीन ही गई हैं। विस्तृत अंतर्जातीय मिश्रण ने इन जातियों की कितनी प्रगति की है इसके लिये इतिहास के पिछले पन्ने पलटने की आवश्यकता बिलकुल नहीं है, बल्कि आज की दुनिया की ही एक जीतीजागती मिसाल अमेरिकन जनता है,

जिसकी उन्नति व प्रगति बेमिसाल है। यूरोप भी इस नियम का अपवाद नहीं है, और यदि यूरोपीयनों ने एक जनता की हैसियत से उन्नति की है, तो संकीर्ण घरों में पैदा हुए बच्चों की तरह से नहीं, बल्कि उन जंगली फूलों की तरह जिनके बीज दूर दूर पर विस्तृत रूप से फैले होते हैं।

अब हमें इस ह्रास के प्रश्न का सामना करना है। यदि यह मान लिया जाए कि लोगों के दो समूह हैं, एक घटिया एक बढ़िया, और दोनों बराबर बराबर या दूर दूर रह कर बढ़ रहे हैं, किन्तु जातीय रूप से एक-दूसरे में नहीं मिलते, तो प्रश्न उठता है कि उनका चरम लक्ष्य क्या है? इस उत्तम समूह का अंतर्प्रसार इतना भयानक हो जाएगा कि पवित्रता को बचाते बचाते वह अपनी हड्डियां तक धो डालेगा और अंत में यकृतविकार के कारण इतना पीला पड़ जाएगा कि प्रारम्भिक लोगों से इसका भेद करना ही कठिन हो जाएगा। हीन लोगों का समूह धीरे धीरे आदमी से नरकीटों की शकल में बदलता चला जाएगा, और यदि मैं एच० जी० वेल्स की परिभाषा में कहूँ, तो जिस प्रकार हम जातीय पवित्रता के विचार और कार्यों के विशिष्टीकरण के साथ बहे चले जा रहे हैं, हम सीधे मानवता के वीभत्स प्रतिरूप में बदल जायेंगे। इसके विपरीत यदि ये दोनों समूह आपस में खुले तरीके से मिलें और अंर्तविवाह करें, तो होने वाली संतति लोगों का वह समूह होगा, जो आज के औसत से कहीं ऊंचा होगा और विशेष दशाओं में तो अपने पूर्वजों से बहुत काफी ऊपर होगा। किसी भी दशा में वह अपने जनक समूह के हीन स्तर से नीचे तो होगा ही नहीं।

जातीय शत्रुता, छोटी छोटी मूढ़ताएं व संकीर्णताएं मानवता के उद्देश्य की कोई प्रगति नहीं कर सकती। जितने ही अधिक जातीय पविता के विचार और लोगों के श्रेष्ठ समूह की आक्रमणकारिता के भाव कम होते चले जायेंगे उतना ही वह ह्रास का हौआ धुंधला होता चला जायेगा, जो कुछ गिनेचुने लोगों की रातों की नींद हराम कर देता है। इस में कोई संदेह नहीं कि मानवता को धो कर उसका मैल निकाल दिया जाना चाहिए, किन्तु क्यों कि बिना सहृदयना के इसकी और कोई राह नहीं है, हमें कम सौभाग्यवान लोगों के प्रति दयाभाव व श्रेष्ठ व्यवहार दिखाना चाहिए, लेकिन साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार का मैल बढ़ता न चला जाए और हमारी सामाजिक चेतना को इतना अधिक कुंठित न कर दे कि उस में से तमाम सहृदयता तिरोहित हो जाए और हम भी हिटलर के गैस चैम्बर का सहारा पकड़ लें। जहां तक अच्छे और बुरे का प्रश्न है, हमारा वर्गीकरण चाहे जितना दोषपूर्ण क्यों न हो, और जिस मापदंड से वह वर्गीकरण किया जाए चाहे वही अपूर्ण ज्ञान पर आधारित हो, हमारा

काम एक को दूसरे में मिश्रित करना होना चाहिए ताकि अच्छा इस कदर न बढ़े कि वह बुरा हो जाए और बुरा निकृष्ट बन जाए, बल्कि दोनों अच्छाई की ओर बढ़ें यह माना कि संस्कृतियां भिन्न भिन्न हैं, किन्तु विषाद उस विभेद का साथी बन जाए यह आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत संस्कृति में विभेद एक ऐसा मामला है, जो उस विशुद्ध अच्छाई के फीके प्रतिमान को अपने में मिलाने की प्रवृत्ति का निराकरण करता है, जो अन्यथा विकृत रुचि का कारण होती है। अयोग्य व्यक्तियों का नपुंसकीकरण व बंध्याकरण और प्रगतिशील जातीय संस्कृति ये ही दो साधन हैं, जिन से यदि इच्छापूर्वक सुधार का काम लिया जावे, तो मानवता अपने को उच्चता की ओर ले जा सकती है।

● ● ●

जाति का विलय

[1] "पृथ्वी पर अंगबद्ध जीवन बारह अरब वर्षों तक स्थित रह चुका है, किन्तु इस के विकास के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले चेतन प्राणी के चिह्न एक लाख वर्षों से भी कम ही पीछे मिल सकते हैं। मानव जीवन के इस अल्पकाल का प्रभावशाली वर्णन प्रो० जेम्स रिटची ने अपने एक भाषण में किया है। यदि घड़ी के डायल के बारह घंटों को जीवन के विकास के बारह अरब वर्ष मान लिया जाए, तो जीवन के पूर्व रूपों का समय रात के बारह बजे से सुबह के सात बजे तक रहेगा। इस समय से सवा ग्यारह बजे तक मछलियां, फुदकने वाले जीव, रेंगने वाले कीड़े, चिड़िया व स्तनपायी प्राणी पूर्ण रूप से विकसित व स्थापित हो जाते हैं। आदि मानव तब प्रकट होता है, जब बारह बजने में केवल एक मिनिट बाकी रह जाती है, और डेढ़ सेकिंड से भी कम समय बाद स्वयं हमारी नस्ल उत्पन्न होती है। उत्तर पाषाण युग के हमारे पूर्वजों से आज के युग तक के दस हजार वर्ष इस क्रमणिका में एक तिहाई सेकिंड लेते हैं।"

कम से कम इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव जाति के विलय के संबंध में कुछ कहना अधिक पूर्वोक्ति होगी। बल्कि बहुत से लोगों की प्रवृत्ति आज इस ओर दिखाई ही नहीं देती। लगभग सभी यूरोपीयन देश आजकल अपनी जनसंख्या बढ़ाने की समस्या के बारे में गंभीरता से विचार कर रहे हैं। बेल्जियम, फ्रांस, जर्मनी, इटली, स्वीडन, रूस और इंग्लैंड में जनसंख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन देने के लिये निश्चित साधनों का प्रयोग किया जा रहा है। ये साधन समुदाय के उन सदस्यों के लिये कर से मुक्ति अथवा आर्थिक सहायता का रूप ले लेते हैं, जिनके घरों में बड़ी संख्या में बच्चे होते हैं।

जनसंख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन देने में संभवतः फ्रांस सब देशों से आगे रहा और उसने सुनिश्चित नियमों की स्थापना की। एमिल जोला के प्रसिद्ध उपन्यास 'फेकोन्डाइट' (उर्वरता) ने एक समस्या पर प्रकाश डाला ज पहले से ही उन्नीसवीं सदी के राजनीतिज्ञों का ध्यान आकर्षित कर रही थी। फ्रांस का तरीका यह था कि जितने ही बड़े परिवार हों उसी अनुपात से

---

१. 'विज्ञान की प्रगति', लंदन। वर्ल्ड डाइजेस्ट में फरवरी १९४७ में पुनर्मुद्रित।

उनके वेतन बढ़ा दिये जाएं। पारिवारिक भत्ते की यह विधि सन् १६३२ ई० में अनिवार्य कर दी गई और धंधों की एक बड़ी संख्या इस के अंतर्गत आ गई, यद्यपि कमकरों की आय पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। वेतन में वृद्धि का परिमाण एक बच्चे के पीछे चार से पाँच प्रति शत वृद्धि का था और इसी कारण से अथवा अन्य सुविधा संबन्धी कारणों से फ्रांस की जनसंख्या में कोई महत्त्वपूर्ण वृद्धि दृष्टिगोचर नहीं हुई। इस के विपरीत पिछले कई दशकों से उत्पत्ति संख्या में धीरे धीरे कमी हो गई है।

बेल्जियम व इटली में पारिवारिक भत्ते की प्रथा सन् १६२८ ई० में संस्थापित हुई। अधिक संख्या में बच्चों वाले विवाहित लोगों को प्रोत्साहन देने के लिये इटली में एक और साधन का प्रयोग किया गया, जिसके अनुसार सरकारी नौकरी में प्रवेश पाने के लिये कुंवारों पर अयोग्यताओं का एक क्रम थोप दिया गया। और स्थानों पर भी उन्हें असुविधा होता थी और उन पर अधिक कर लगता था। जन्म निरोध के प्रचार तथा जन्म-निरोध की औषधियों की बिक्री पर भी प्रतिबन्ध था।

१६३३ में जर्मनी में राष्ट्रीय समाजवादियों ने एक सकारात्मक जनसंख्या-नीति अपनाने में पहल की। उनका ढंग उन जोड़ों को अग्रिम ऋण देना था, जो नया घर बसाना चाहते थे, ताकि वे आने वाले खर्चों को संभाल सकें। ये ऋण चुकाये जाने वाले अवश्य होते थे, किन्तु उन पर किसी तरह का सूद नही लगता था और प्रत्येक संतान की उत्पत्ति के साथ साथ मूल ऋण में काफी घटोतरी होती चलती थी। इस ढंग से दस लाख से ऊपर परिवारों को सहायता प्रदान की गई। हिटलर की नीतियों में वे बहुत सी नीतियां भी शामिल थी, जिनका प्रयोग मुसोलिनी इटली में कर चुका था। भेद था तो यही कि जर्मनी के राष्ट्रीय समाजवादी इटालियों की बनिस्बत अपने प्रचार तथा इन तरीकों का लोगों से पालन कराने में अधिक सचेष्ट थे।

अपनी जनसंख्या को बढ़ाने के साधन-स्वरूप अथवा सही ढंग से कहा जाए तो अपनी घटती हुई संख्या की रोकथाम के लिये स्वीडन ने सन् १६३८ में कदम उठाया। यह कदम उस आयोग की सिफारिशों के आधार पर उठाया गया, जो सन् १६३५ में बैठाया गया था और जिसने अपनी अन्तिम रिपोर्ट १६३८ में दी। स्वेडिश नीति अन्य सरकारों की नीतियों से इस रूप में भिन्न थी कि न तो इसके द्वारा अविवाहित लोगों पर किसी प्रकार की अयोग्यतायें लादी गईं और न ही जन्म निरोध के साधनों पर कोई

प्रतिबंध लगाया गया। जर्मनों की तरह यहाँ भी विवाहेच्छुक व्यक्तियों को ऋण दिए जाते हैं, किन्तु इन ऋणों की सूद सहित देनदारी रहती है और संतानोत्पत्ति के ऊपर उन में कोई घटोतरी नहीं होती। स्कूलों में बच्चों को मुफ्त भोजन, स्थानीय अधिकारियों द्वारा बनाये हुये निवास स्थानों में रहने वाले अधिक बच्चों वाले मातापिताओं के बच्चों की संख्या के हिसाब से उन के किराए में कमी; प्रसव काल में उन स्त्रियों को ८५ क्रोनोर की एकमुश्त सहायता, जिन की आय ३००० क्रोनोर वार्षिक से नीचे पड़ती है; अनाथों व असमर्थ लोगों के बच्चों को सरकारी सहायता; ये कुछ साधन हैं, जो स्वेडिश सरकार ने इस संबंध में लागू किए हैं।

इंग्लैंड में जनसंख्या की वृद्धि को प्रोत्साहित करने के लिए अभी तक कोई सीधा ढंग इस्तेमाल नहीं किया गया। विवाहित पुरुषों के बच्चों की संख्या के हिसाब से उन के आयकर में होने वाली छूट को जनसंख्या वृद्धि की नीति नहीं कहा जा सकता। यद्यपि यह तरीका वर्षों से चला आ रहा है, लेकिन यह प्रवृत्ति अधिक दिनों तक नहीं रहेगी। ब्रिटेन ने भी स्वीडन के उदाहरण का अनुगमन कर के एक राजकीय आयोग बैठाया है, जो वर्त्तमान जनसंख्या के रुझान के बारे में तथ्यों का पता लगाएगा, उन रुझानों के कारणों तथा उन के संभावित परिणामों की खोज करेगा, यदि कोई साधन प्रयोग किये जा सकते हैं, तो जनसंख्या के भावी रुझान पर प्रभाव डालने वाले ऐसे साधनों के बारे में विचार करेगा, और सिफारिशें करेगा। यह कमीशन १९४३ में बैठाया गया था और अब यह कभी भी अपनी रिपोर्ट पेश कर सकता है, और इस बात की पूरी संभावना है कि सत्तारूढ़ मजदूर सरकार प्रजातांत्रिक ब्रिटेन के लिये अन्य देशों की अपेक्षा स्वीडन की नीति से मिलतीजुलती कोई नीति ग्रहण करेगी।

रूस में क्रांति के तुरन्त बाद लोगों की व नेताओं की इच्छा यह थी कि जन्म निरोध, गर्भपात और अन्य ऐसे मसलों के बारे में उदार नीति का अनुगमन किया जाए, जिन मे जनसंख्या की वृद्धि व अन्य बातों पर सीधा प्रभाव पड़ता है। अब स्टालिन के शासन के अंतर्गत इन में से बहुत सी नीतियों को दोहरा लिया गया है और अपने नेता के संकेत पर राष्ट्रीय समाजवादियों का अनुगमन करते हुये प्रेस तथा रेडियो ने बड़े परिवारों का निर्माण करने वालों को ऊंचे उठाना आरम्भ कर दिया है। स्त्रियों को परिवार-वृद्धि के लिए प्रोत्साहन के रूप में पारिवारिक भत्ते व अन्य सुविधायें प्रदान की जाती हैं, और जन्म निरोध व गर्भपात को संख्या कम करने के साधन के रूप में प्रयोग करने को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है।

सभी यूरोपीय देशों से अलग, अमेरिका में अभी तक कोई जनसंख्या सम्बन्धी सीधी नीति नहीं अपनाई गई और न ही इस बात की कोई संभावना है कि आगामी कुछ वर्षों में कांग्रेस इस प्रकार के किसी कदम के उठाये जाने के बारे में स्वीकृति देगी। इस के अर्थ ये नहीं हैं कि अमेरिकन लोग बाहरी रुझानों के प्रति उदासीन हैं। थियोडोर रूज़वेल्ट ने पहले-पहल यूरोपीय देशों की घटती हुई जनसंख्या के प्रति अमेरिकनों का ध्यान आकर्षित किया। अपने अफ्रीका व यूरोप के भाषणों में उन्हों ने कहा: "सब से बड़ा अपशकुन जन्म परिमाण में, प्राकृतिक उत्पत्ति के परिमाण में वह निरन्तर घटत है, जो थोड़ी या बहुत मध्य व पश्चिमी यूरोप, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया के सर्वाधिक सभ्य राष्ट्रों में घटित हो रही है। यह घटत इतनी बड़ी है, कि इसने जो गति पिछले पच्चीस वर्षों में ग्रहण कर ली, यदि अगली शताब्दी में भी यही गति चलती रही, तो सब की सब उच्च सभ्य जातियां जहाँ की तहां रह जायेंगी अथवा पीछे लौटना आरम्भ कर देंगी और उन में से बहुत सी तो बहुत पीछे पहुंच जायेंगी।"

किस चीज ने लोगों को, विशेषतः यूरोपीयनों को संख्या में वृद्धि की इस आवश्यकता के प्रति इतना जागरूक कर दिया? केवल लोगों की जन्म गति में गिरावट अथवा उच्चस्तरीय जनसंख्या प्राप्त करने की इच्छा ही इस का कारण नहीं हो सकती। इस की जड़ संभवतः उस राष्ट्रीय चेतना में है, जो यूरोपीयनों के सर्वोच्च उद्देश्य-वाहक होने के विश्वास में तथा थियोडोर रूजवेल्ट के 'सब की सब उच्च सभ्य जातियों' के विचार में सन्निहित है। स्वेडिश आयोग की रिपोर्ट स्वेडिश जनता तथा स्वेडिश संस्कृति के स्थायित्व के इस विचार की ओर निम्न शब्दों में ध्यान आकर्षित करती है:

"स्वीडन की जनता के पास रक्षा करने के लिये एक मूल्यवान संस्कृति का उत्तराधिकार है...यदि हमें शांति के साथ अपने स्वयं के स्वेडिश ढंग से काम करने की अनुमति दे दी जाए, तो हम आने वाले समय में विशाल संसार के लिये कोई बहुत महत्त्व की वस्तु बना सकते हैं। किंतु इस प्रकार के व्याघातहीन विकास के लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पूर्वानुमानों में एक पर्याप्त बड़ी जनसंख्या भी है।"

तमाम देशों में स्वीडन सर्वाधिक प्रजातान्त्रिक व शांतिपूर्ण है और स्वीडन की जनता पर किसी प्रकार के आक्रमणकारी विचार का आरोप नहीं लगाया जा सकता। फिर भी एक संस्कृति की सुरक्षा और यह पवित्र आशा कि यह संस्कृति दुनिया के दूसरे देशों पर भी विजय प्राप्त करे, स्वेडिश जनता के अन्तर की पुकार है। प्रत्येक राष्ट्र की एक विशिष्ट

संस्कृति होती है, और उस की कामना रहती है कि वह उसे सुरक्षित रखे और यदि संभव हो सके, तो उस का विस्तार करे। जर्मनी और इटली की यह कामना दूसरे देशों की अपेक्षा अधिक बलवती थी और आज रूस व अमेरिका उन से भी एक कदम आगे हैं। लार्ड ब्रीस के शब्दों में : "ऐसा मालूम होता है कि अमेरिका की जनता में सभ्य मानवता का आधा भाग निहित है। ऐसे लोग भी मौजूद हैं, जो अपनी मृत्यु से पहले देख लेंगे कि अतलांतक व प्रशांत महासागरों के बीच में निवास करने वाली तीस करोड़ जनसंख्या समान सरकारों का आज्ञापालन कर रही होगी, समान बोली में बातचीत कर रही होगी, और समान पुस्तकों का पाठ कर रही होगी।" आस्ट्रेलिया के पूर्वाध्यक्ष श्री मेन्जीज के अनुसार : "अगले कुछ दशकों में या तो आस्ट्रेलिया अपनी जनसंख्या को दुगुनी कर लेगा या विलीन हो जाएगा।" यदि विस्तार का उद्देश्य आक्रमण न भी हो, तो भी यह सुरक्षा का सर्वाधिक सुरक्षित साधन है। यदि सभी यूरोपीय देश जोशखरोश के साथ स्वयं अपनी राष्ट्रीय महानता से स्वीकृत स्वयं अपनी जीवनप्रणाली की सुरक्षा की कामना करने लगें, तो सम्पूर्ण मानव जाति की शांति के लिये कोइ स्थान शेष नहीं रह जायेगा। उन के दिलों में जरा और गहरे पैंठने से यह भय भी विद्यमान मिलता है कि रंगदार लोग पहले से ही संख्या में अधिक हैं और अब भी अनसुनी तीव्रता के साथ बढ़ते चले जा रहे हैं।

आइए, घटत के विरुद्ध छिड़े इस धर्मयुद्ध का और निकट से निरीक्षण करें। जर्मनी में १८७५ से ले कर १९३३ तक जन्म परिमाण ३८.८ से १४.७ प्रति सहस्त्र तक घटा। फ्रांस में सन् १९२६ से १९३३ तक के समय में जन्म परिमाण १८.८ प्रति सहस्त्र से १४.७ तक नीचे आया और बेल्जियम में १८.६ से १५.६ प्रति सहस्त्र तक गिरा। इटली में जन्म परिमाण २७.२ प्रति सहस्त्र १९२६ में रहा और २२.४ प्रति सहस्त्र १९३६ में। फिर भी १९३८ में यह परिमाण २३.६ प्रति सहस्त्र तक बढ़ा। स्वीडन में १९३३ में जन्म परिमाण १४.९ के स्तर तक पहुंच गया, जब कि अठारहवीं शताब्दी के मध्य में यह ३४ प्रति सहस्त्र था। इंग्लैंड में १८७१ व ७५ में ३५.५ प्रति सहस्त्र से सन् १९४० में १३.० तथा १९४५ ई० में १५.३ प्रति सहस्त्र रह गया। फिर भी १९४६ ई० में यह परिमाण १९.१ प्रति सहस्त्र तक पहुंच गया। श्री डबलू एस० थॉम्पसन और श्री पी० के० व्हेल्प्टन के अनुसार (संयुक्त राष्ट्र में जनसंख्या के रुझान, १९३०) जन्म परिमाण १८०० में ५५ प्रति सहस्त्र से १९०० में ३० प्रति सहस्त्र तक गिरा और १९३० में २० प्रति सहस्त्र तक गिर गया। संयुक्त राष्ट्रीय आंकड़ों के अनुसार १९१५ से १९४० तक के काल में जन्म परिमाण २१.१ से १९.९

प्रति सहस्त्र तक गिर गया।

इस चित्र का दूसरा रूप भी है। १८०० ई० में इंग्लैंड में जनसंख्या केवल पच्चासी लाख थी। १६०० में जनसंख्या तीन करोड़ बीस लाख तक बढ़ चुकी थी और अब यह चार करोड़ बीस लाख है। संयुक्त राष्ट्र में १७०० में २७५,००० मात्र जनसंख्या से १७७० में, २,२००,००० तक बढ़ी और १७६० में ३, ६२६, ००० हो गई। १७६० से १६४० तक के काल में जनसंख्या १३१, ६६६, २७५ तक बढ़ गई। या कहिए कि डेढ़ सौ वर्षों के अल्प काल में लोगों ने अपने को ३३ गुना बढ़ा लिया। [1]"जन्म परिणाम में गिरावट के बावजूद यही बात सब देशों के बारे में सही है क्योंकि जन्म परिमाण स्वयं में कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिस से किसी जनसंख्या में घटोतरी अथवा बढ़ोतरी का बोध हो।" श्री हेवलॉक एलिस के शब्दों में : [2] "जाति की कथित आत्महत्या के प्रश्न से यदि सचमुच हमारा कोई संबंध है, और हम बेवकूफ बनना नहीं चाहते, तो हमें जन्म परिमाण की ओर बहुत कम ध्यान देना चाहिए क्योंकि स्वयं में उस के कोई अर्थ नहीं हैं। हमें जीवन परिमाण पर ध्यान देना चाहिये। तब हमें न ही केवल यह विश्वास हो जाएगा कि मानव जाति आत्महत्या नहीं कर रही है, बल्कि जिन कथित सभ्य जातियों से इस मानव जाति का विशेषतः निर्माण होता है उन में से भी कोई आत्महत्या के काम में रत नहीं है। इसके बिल्कुल विपरीत! उन में से प्रत्येक, यहां तक कि फ्रांस में भी, जहां ख्याल किया जाता है कि यह विशिष्ट 'आत्महत्या' सब से अधिक सचेष्ट हो कर काम कर रही है, प्रति वर्ष संख्या में बढ़ जाती है।"

इस तथ्य के बावजूद कि जन्म परिमाण में बराबर घटत हो रही है, इन देशों की जनसंख्या क्यों बढ़ती जा रही है, इस का कारण है कि जन्म परिमाणों की घटत के मुकाबले अनानुपातिक ढंग से मृत्यु परिमाण घट गये हैं। परिष्कृत स्वच्छता, व्याधि विरोधी औषधियों की प्रगति, इन सब ने मृत्यु परिमाण के गिरने में योग दान दिया और अब इन देशों के लोग अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक समय तक जीवित रहते हैं। साथ ही साथ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि यूरोप की जनसंख्या अपनी समसामयिक एशियाई जनता की अपेक्षा इस माने में तेजी के साथ बूढ़ी होती जा रही है

---

१. श्री जी० एफ० मेक्लियरी। 'जाति की आत्महत्या' अं०, जार्ज एलन एंड अनविन लि०, लंदन, १६४५।

२ श्री हेवलॉक एलिस। 'प्रेम व भलाई के छोटे निबन्ध' अं०, ए एंड सी०लैक, लंदन, १६२२।

कि पूर्व के देशों की जनता के मुकाबले वहाँ उनकी जनसंख्या के प्रति सहस्र पर अधिक वृद्ध व्यक्ति हैं। इस बात की संभावना है कि यदि यही प्रक्रिया अधिक लम्बे समय तक चलती रही, तो अन्त में इस से मृत्यु-संख्या बढ़ जाएगी और फलस्वरूप इन देशों की जनसंख्या में कमी हो जाएगी।

इन सब तथ्यों पर विचार करते हुये। जनसंख्या पर किये जाने वाले सामयिक अध्ययन न ही मृत्यु परिमाण पर जोर देते हैं, न ही जन्म परिमाण पर और न ही जीवन परिमाण पर, जो मृत्यु परिमाण व जन्म परिमाण से निकाला जाता है। बल्कि जिसे कुल प्रजनन परिमाण कहा जाता है उसी पर उनका जोर है। इस परिमाण का हिसाब स्त्रियों के संतानोत्पादन काल के प्रति वर्ष में उनकी उर्वरा व मृत्यु संख्या से लगाया जाता है और कुल परिमाण जो निकलता है उस से यह सूचित होता है कि जनसंख्या घट रही है अथवा बढ़ रही है। फिर भी यह परिमाण किसी जनसंख्या का सही निर्देशक नहीं हो सकता क्योंकि बच्चों या उनकी माताओं की मृत्युसंख्या में विभिन्नता भविष्य को अकथनीय बना सकती है। इसी प्रकार कृत्रिम साधनों से स्त्रियों की उर्वरता में किये जाने वाले परिवर्तनों से भी ऐसा हो सकता है। इस परिमाण के समर्थकों के अनुसार यदि औसत १·० से नीचे रह जाता है, तो समझा जाता है कि जनसंख्या घटत की ओर जा रही है, और जब यह १० से ऊपर हो जाता है, तो जनसंख्या बढ़ रही होती है। इस आधार पर लगभग सभी यूरोपीय देशों के अंक उन के पुनर्स्थापना स्तर से नीचे हैं, किन्तु यह भविष्यवाणी कहां तक सत्य प्रमाणित होगी इस समय कहना कठिन है। इन्हीं लोगों के अनुसार इंग्लैंड में १९४६ के अंतिम तीन मास में २४ वर्षों में पहली बार २२१,८९१ बच्चों के पैदा होने से पुनर्स्थापना स्तर से ऊपर पहुंचा जा सका है।

पश्चिमी देशों की जनसंख्या की संभावित गिरावट के प्रश्न पर एक अन्य दृष्टिकोण भी है। 'वंश विज्ञान शिक्षण सभा' के सभापति मेजर लियोनार्ड डारविन के अनुसार : [1] "इन देशों की जनसंख्या में किसी प्रकार की वृद्धि के साथ साथ, जैसी कि अब हो रही है, हमारी सभ्यता के मापदंड में भी गिरावट आती चली जायेगी।" और जहां तक एक ऐसे देश, फ्रांस, का प्रश्न है जहाँ जनसंख्या की घटत का सब से ज्यादा खतरा है, [2] प्रो० जे० जे० स्पेंगलर की ओर से मेजर डारविन का समर्थन होता है और जहाँ तक

१. जनसंख्या व सभ्यता : इकोनॉमिक जर्नल, जून १९२१।

२. जनसंख्या की हीनता से ग्रस्त फ्रांस, १९३९।

इग्लैंड का प्रश्न है [1] श्री डीन इंगे उनका समर्थन करते हैं। और ब्रिटेन का लोकप्रिय दार्शनिक जब निम्न प्रश्न पूछता है, तो वह और भी अधिक युक्तियुक्त है : [2] "ब्रिटेन में हम लोग बहुत ज्यादा हैं, यहां तक कि हम एक दूसरे के सिरों पर सवार हो कर रहते हैं। नतीजा यह है कि मिजाज दुरुस्त नहीं हैं और लोग सस्ते किस्म के हैं। कोई भी नगरनिवासी अपनी आत्मा की जागीर में शांति के साथ चुपचाप प्रवेश नहीं कर सकता, और पैट्रोल व रेलभाड़े पर बहुत काफी व्यय करके ही यह संभव हो सकता है कि कोई ईश्वर या प्रकृति के साथ एकांत मिलन पा सके। स्वीडन व डेन्मार्क की स्मृतियां मेरे मस्तिष्क में मौजूद हैं (जनसंख्या क्रमशः सत्तर लाख व तीस लाख और सभ्यता की देन दूसरे देशों की अपेक्षा सब से अधिक)। मैं यह प्रश्न पूछने का साहस करता हूं कि इंग्लैंड में हम लोग इतनी अधिक संख्या में बढ़ जाने के लिये क्यों जोर देते हैं? यदि हम लोग संख्या में कम ही हों, तो क्या हमारा रहन-सहन, हमारा शिक्षण व हमारी सुख-सुविधाएं अधिक अच्छे नहीं रहेंगे? या यदि मेरा प्रश्न अधिक व्यावहारिक चर्चासंगत ढंग से रखा जाए, तो क्या हमें इस बात पर प्रसन्न न होना चाहिए कि विगत काल में जन्म परिमाण घट गया है और भविष्य में और भी घटेगा, और बजाए इस के कि हम इस तथ्य को इस रूप में लें, जैसे यह कोई प्रलय हो, और बौखलाहट के साथ जनसंख्या को इस के वर्त्तमान स्तर पर स्थिर रखने के लिये सलाह-मशवरे करते रहें, हम इस घटत के द्वारा आने वाली थोड़ी जनसंख्या का स्वागत क्यों न करें?"

यूरोपीय देशों की जनसंख्या के सिरों पर कच्चे धागे से लटकती हुई घटत की इस तलवार को रोकने वाली नीति का चाहे कोई कितना ही समर्थन करने का कठोर यत्न करे, और चाहे कोई इस हद तक भी पहुंच जाए कि जनसंख्या को जहां की तहां रोक लेने के साधन भी उसे मिल जाएं, किन्तु तथ्यों को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। पिछली शताब्दी में यूरोप की जनसंख्या चौबीस करोड़ से चौवन करोड़ बीस लाख हो गई और एशिया की पचपन करोड़ से एक अरब एक करोड़ हो गई। हिसाब लगाया गया है कि श्वेत जनसंख्या की वर्त्तमान वृद्धि पचास लाख प्रति वर्ष है और एशिया की अस्सी लाख प्रति वर्ष। हॉट स्प्रिंग्स में भोजन व कृषि पर हुई संयुक्त राष्ट्रीय कांफ्रेन्स की रिपोर्ट के अनुसार: "एशिया के तीन

---

१. इंग्लैंड का भविष्य, दो फोर्टनाइटली, मई १९४३।

२. 'लंदन फोरम' त्रैमासिक में श्री सी० ई० एम० जोड; वर्ल्ड डाइजेस्ट, जनवरी १९४७ में पुनर्मुद्रित।

चौथाई निवासी उत्तम स्वास्थ्य स्तर से नीचे नीचे जीवन यापन कर रहे हैं।"

कोई भी यूरोपीय देश इस बढ़ी हुई जनसंख्या को अपनी भूमि पर नहीं बसा सकता था। तथ्य यह है कि इन में से एक तिहाई दूसरे देशों में जा कर बस गए। आज जब कि प्रत्येक देश में इस प्रकार के मिश्रण के विरुद्ध कठोर कानून बन चुके हैं, इस का विचार तक नहीं किया जा सकता कि किसी दूसरे देश में अतिरिक्त जनसंख्या को खपाया जा सके। जहां तक रंगदार जातियों का सम्बन्ध है: [1] "आज लगभग आधी मानव जाति पृथ्वी के धरातल के १३·६ प्रति शत भाग पर वास करती है और यदि थलबद्ध किनारों व समुद्रों को भी जोड़ लिया जाए, जहां से मछली प्राप्त की जाती हैं, तो वह पृथ्वी के गोले के पांच प्रति शत भाग पर ही रहती है।" और वर्तमान राजनीतिक अवस्था में इस बात की सम्भावना बिलकुल भी नहीं है कि इन लोगों को बड़े पैमाने पर उन देशों में बसने की अनुमति मिल सके, जो अपेक्षाकृत झीने बसे हुये हैं। एशिया की भूमि पर जनसंख्या के दबाव की सीमा का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि जब संसार भर में कुल दो अरब चौदह करोड़ सत्तर लाख व्यक्ति निवास करते हैं और कुल निवास-योग्य भूमि ५१,३२४ हजार वर्ग मील है, तो एक अरब एक करोड़ वीस लाख लोग केवल ७,०१२,००० वर्ग मील में रहते हैं। कुछ विशेष क्षेत्रों में तो घनत्व इतना अधिक है कि कृषि क्षेत्र के एक वर्ग मील के ऊपर चार हजार व्यक्ति निर्भर हैं (बंगाल)। मोटे तौर पर भारत को ही ले लीजिए, जिस से हमारा अधिक संबंध है: [2] "यह मानते हुए कि शेष जनता अपनी कम से कम शारीरिक आवश्यकता पूरी कर लेती है, चार करोड़ अस्सी लाख लोग यानी कुल जनसंख्या का १३ प्रति शत भाग भोजनहीन है।" संसार की वर्तमान खाद्य स्थिति कुल निवासियों की आवश्यकता की एक तिहाई कम है। इस के माने हैं कि लगभग पचास करोड़ एकड़ अतिरिक्त धरती हल के नीचे आनी चाहिये। कौन इस लागत पूंजी के व्यय को सहन करेगा और इस अतिरिक्त धरती को जोतने बोने के लिये कौन आगे को हाथ बढ़ाएगा, ये गम्भीर परिणामों वाली समस्याएं आज सामने हैं। अधिकतर प्राप्त भूमि गरम भूभागों में है, जहां संभवतः श्वेत जातियां भली प्रकार नहीं रह सकतीं। राजनीतिक बंधनों के कारण रंगदार लोगों की

१. श्री राधाकमल मुखर्जी : 'जातियां, भूमि और भोजन', ड्राइडन प्रेस लि०, न्यूयार्क, १९४६।

२. श्री राधाकमल मुखर्जी, 'जातियां, भूमि और भोजन'।

पहुंच इन प्रदेशों में वर्जित है, और यदि किसी अन्तर्राष्ट्रीय प्राधिकारी की ओर से दबाव पड़ने पर इन में से कुछ रोक को हटा भी लिया गया, तो किसी बड़े पैमाने पर उपनिवेश बसाने के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिये अपनी घरेलू दरिद्रता के कारण एशियाई जनताओं के पास समुचित धन नहीं है। आप अपने साधनों के बढ़ाए बिना अपनी संख्या नहीं बढ़ा सकते और बिना अपने साधनों को सुरक्षित किए आप बढ़ती हुई संख्या के लिये सामान नहीं जुटा सकते और उन्हें किसी अतिरिक्त भूमि पर स्थापित नहीं कर सकते। यह हिसाब लगाना कि संसार का वर्त्तमान कृषिहीन क्षेत्र अब की जनसंख्या से कहीं ज्यादा संख्या को खाद्य प्रदान कर सकता है, पारिभाषिक रूप से तो सही हो सकता है, किन्तु व्यावहारिक कठिनाइयां इन रोगों व कीड़ों से भरे प्रदेशों को, जहाँ की जलवायु भी अत्यन्त विषम है और जो स्वयं अलगथलग से व दुर्गम हैं, निवास योग्य बनाने में पड़ेगी। इन सब शक्तियों व साधनों के व्यय करने पर केवल संख्या में बढ़ने की प्रक्रिया से और जीवन के साधनों की ओर से अदूरदर्शितापूर्ण ढंग से दरिद्र हो जाने से क्या अतिरिक्त सुख या लाभ मानवता को मिलेगा, संभवतः इस के उत्तम निर्णायक आप या मैं नहीं हैं, बल्कि वे सज्जन हैं, जो भटकने में ही सुख का अनुभव करते हैं।

एशियाइयों के लिये उपनिवेशीकरण आज एक सकारात्मक रूप रखता है और श्वेत लोगों की अपेक्षा इन के लिये यह एक अधिक अनिवार्य आवश्यकता है। लेकिन जीवन के अधिकारों की, और अधिक वेश्यावृत्ति में विकृत पोषण के द्वारा सब ओर एक मुसीबत खड़ी कर के, इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं होनी चाहिए। जैसे कि एक प्रमुख अर्थशास्त्री इस के विषय में अधिक सुघड़ाई के साथ बताते हैं: "दक्षिणपूर्वी एशिया में आवश्यकताओं की ओर से स्वतन्त्र होना अधिकांशतः दूसरे देशों में जा कर बसने की स्वतन्त्रता पर निर्भर है। किंतु अधिक जनसंख्या के निकास के मार्ग के रूप में दूसरे देशों में जा कर बसने का अधिकार एशिया की सघन जनता के द्वारा जन्म निरोध की नीति को स्वीकार कर लिये जाने के ऊपर निर्भर है। कोई भी लोग, चाहे वे खड़े होने तक की जगह न होने के कारण एक-दूसरे से टकराते ही हों, पृथ्वी पर जहां भी खुली जगह मिलती हो वहीं पहुंच जाने का नैतिक अधिकार नहीं रखते। अंतर्राष्ट्रीय रूप से स्वीकृत जीवन के कम से कम स्तर को कायम रखने के लिये उन्हें कृतज्ञता स्वीकार करनी चाहिए और यदि जन्म निरोध के द्वारा कृतज्ञता ज्ञापन की आवश्यकता पड़ती है, तो उसे भी प्रयोग किया जाना चाहिए और अपने वंश व जाति के आंकड़ों संबंधी नीति को उसी के अनुसार ढाल लेना चाहिए। अधिक

जनसंख्या का बड़ा इलाज दूसरे देशों में जा कर बसना नहीं, बल्कि जन्म निरोध को माना जाना चाहिए।" यह बात विशेषतः तब है, जबकि संसार की जनसंख्या की प्रवृत्ति बढ़ने की ओर है। यू० एन० ओ० के 'स्टेटिस्टीकल' आफिस की ओर से प्रकाशित होने वाले आंकड़ों के मासिक बुलेटिन (अप्रैल १६४७) के अनुसार १६३७ से २० में से १५ देशों के जन्म परिमाण तीव्रता के साथ बढ़े हैं।

फ्रांसीसी आंकड़ाविज्ञानवेत्ता आरीन ड्यूमन्ट ने अपने सामाजिक सूक्ष्माकर्षण शक्ति के सिद्धांत के रूप में सभ्य लोगों के जन्म परिमाण में होने वाले ह्रास की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। उन का यह सिद्धांत इस रूप में तो अंशतः सफल रहा कि उस ने इस लोकप्रिय सिद्धांत का खंडन कर दिया कि जन्म परिणाम में घटत के अर्थ हैं जाति का ह्रास। जब किसी जाति का निर्माण करने वाले व्यक्ति पहले से कम संख्या में संतानप्राप्ति का मार्ग चुन लेते हैं, तो उन पर कोई जातीय दुर्बलता लागू नहीं होती। इस के विपरीत, व्यक्तियों की ओर से इस प्रकार की प्रवृत्ति उच्चतर सभ्यता की, जीवन का सामना करने के लिये पुरुषत्व एवं योग्यता की, और जीवन के मार्ग को निश्चयपूर्ण विचारों द्वारा आयोजित करने की क्षमता की द्योतक है।

ड्यूमन्ट यद्यपि कानून का अध्ययन कर रहा था, वह समाज विज्ञान की ओर इसी लिये आकर्षित हुआ कि बावजूद इस के कि दूसरे यूरोपीय देशों से तुलना करने पर फ्रांस में सभ्यता का स्तर ऊंचा था, वहाँ घटते हुये जन्म परिमाण की वस्तुस्थिति विद्यमान थी। अपूर्व लगन के साथ उस ने अपना जीवन समाज विज्ञान संबंधी खोजों में अर्पित कर दिया और उस के जीवन के अंतिम पंदरह वर्ष विशेष रूप से जनसंख्या के अध्ययन में व्यय हुये। उस के जीवन के संबंध में लिखते हुए श्री जी० एफ० मेक्लियरी कहते हैं: [1]"यद्यपि उस का जीवन कठिन मितव्ययता का जीवन रहा, फिर भी प्रति वर्ष उस का संचित धन घटता रहा, और अपने निधन से दस वर्ष पूर्व उस ने देखा कि वह धन धीरे धीरे शून्य पर पहुंच चुका था। उस ने सशुल्क नियोजन प्राप्त करने के लिये कोई यत्न नहीं किया। इस से उस का वह मूल्यवान समय बरबाद होता, जो उस के अनुसंधानों के लिये आवश्यक था, और मात्र जिस में उस का वह जीवन निहित था, जिस के लिये वह जीने की कामना रखता था। जब तक १६०१ में लीवाश्योर और जेक्विस बरटीलयन की प्रेरणा से लॉट-एट-गैरोन के एक विभाग के जन्म

१. श्री जी० एफ० मेक्लियरी : 'जाति की आत्महत्या'

परिमाण कार्य में खोजबीन के लिए सरकार ने उसे पांच सौ फ्रांक नहीं दिए, तब तक उसे किसी प्रकार की सरकारी सहायता नहीं मिली। मई २१, १९०२ को इस खोज पर उस की रिपोर्ट प्रकाशन के लिये दी गई। उसी दिन उस ने पेरिस की गणनाविज्ञान सभा की एक बैठक में सम्मिलित हो कर लीवाश्योर के द्वारा संचालित एक वादविवाद में भाग लिया। अब उस का अत्यन्त ध्यानपूर्वक संजोया हुआ धन केवल दस दिन की पूर्ति का उत्तरदायी रह गया था। उस का प्रमुख विचार सम्मान के साथ विलीन हो जाने का था। उसने अपने मामलों को व्यवस्थित किया, अपने कागजों में से उन कागजों को छांट कर अलग किया, जो दूसरे विद्यार्थियों के काम आ सकते थे. और अपने मित्रों को अंतिम पत्र लिखे। मई ३१, १९०२ को, उस अंतिम दिन में. जिस के एवज होटल का बिल अदा करने के लिये उस के पास काफी पैसा था, उस ने अपने जीवन का पटाक्षेप कर डाला।"

ड्यूमन्ट के विचार का अंतर्भूत सिद्धांत यह है कि जन्म परिमाण में ह्रास इस कारण प्रकट होता है कि उन समुदायों में व्यक्ति आत्मविकास के लिये संघर्ष करते हैं, जहां राजनीतिक समता तो है, किंतु सामाजिक व आर्थिक समता का अभाव है। इस संघर्ष में सामाजिक व आर्थिक प्रगति के मार्ग में बड़े परिवार बाधा उपस्थित करते हैं और उन परिवारों के अंतर्गत व्यक्ति आत्मविकास के लिये स्वेच्छा से परिवारों की वृद्धि पर रोक लगा देते हैं। ऐसे समुदायों में, जहाँ जाति भेद कठोरता के साथ लागू है, व्यक्तिगत आत्मविकास के लिये कोई जगह नहीं है, क्योंकि हीन जाति में उत्पन्न व्यक्ति सदा सदा के लिए हीन ही रह जाता है। इसी कारण इस प्रकार के समुदायों में व्यक्ति अनुत्तरदायी ढंग से संतानोत्पादन करते हैं और अपने परिवारों की संख्या वृद्धि के परिणामस्वरूप सामने आने वाली कठिनाइयों एवं दरिद्रता को एक प्राकृतिक अथवा दैवी विधान समझ कर उन के प्रति आत्म-समर्पण कर देते हैं। यदि किसी को डूबना होता है, तो शरीर से बोझ बाँध कर डूबना कम कष्टप्रद होता है। ड्यूमन्ट ने व्यक्तिगत संघर्ष के इस अंतिम रूप को 'सामाजिक सूक्ष्माकर्षण शक्ति' का नाम दिया है, ठीक इसी प्रकार जैसे लैंप की बत्ती में तेल ऊपर चढ़ता है। उस ने समुदायों को तोड़ देने, पारिवारिक व सामाजिक बंधनों को ढीला कर देने, एवं देशभक्ति के ह्रास की सिफारिशें कीं, और बढ़ते हुये नगरीकरण की वस्तुस्थिति की विभिन्नता को एक विषाक्त सिद्धांत का प्रतिफल बताया। यह एक ऐसा नाम है, जो संभवतः आज के समाजवेत्ताओं को अच्छा न लगे।

हरबर्ट स्पेंसर का मत था कि नागरिक सभ्यता के बौद्धिक जीवन और आत्मविकास के लिए किए जाने वाले संघर्ष ने व्यक्तियों की संतानोत्पादन

शक्ति को क्षीण कर दिया है। यद्यपि ड्यूमन्ट इस विचार का विरोधी था, लेकिन स्पेंसर के सिद्धांत में सच्चाई है, हालांकि वह सच्चाई आंशिक है। भूल इस तथ्य में निहित है कि स्पेंसर ने इस की व्याख्या कामनाशक्ति अथवा व्यक्तिगत चुनाव के परिणाम के रूप में न कर के प्राणिशास्त्रीय या शरीर-शास्त्रीय विकास के रूप में की है।

जीवन का बौद्धिकरण के है जीवन और वातावरण के बीच की दरार का निराकरण। यह बौद्धिकरण उन कष्टों से इच्छापूर्वक दूर रहने की भावना तक भी पहुंच सकता है, जो वातावरणीय प्रभावों से मुक्त रहते हुये भी जीवन के लिये स्वाभाविक हैं। फिर भी यह स्वीकार करना ही होगा कि यह प्रवृत्ति जीवन की अवस्था से प्रभावित होती है और वह जीवन की अवस्था शरीर–संघटन पर भी प्रभाव डालती है। आधुनिक स्त्रियाँ बड़े परिवारों की रचना संबंधी विचार के विरुद्ध हैं; यह प्रवृत्ति इस तथ्य की ओर से बढ़ती हुई जागृति के कारण भी हो सकती है कि जीवन का उद्देश्य सुखप्राप्ति है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये स्वयं जीवन को भी नियमित किया जा सकता है।

एक सामयिक लेखिका के निम्न शब्दों में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से परिलक्षित होती हैं:

[१]"एक तथ्य, जो शायद ही कभी प्रकट किया जाता हो, यह है कि पश्चिमी स्त्रियों की निम्न उदरास्थियों के परिमाण प्रत्येक आने वाली पीढ़ी के साथ साथ छोटे पड़ते जा रहे हैं, विशेष रूप से उन नगरों में, जहाँ का जीवन अधिक लोमहर्षक व कृत्रिम है और जहाँ अधिकतर बैठक के कामकाज होते हैं। इसलिये यदि हम इस तथ्य को स्वीकार कर लेते हैं कि ज्यों ज्यों हम शिक्षा में आगे बढ़ते जाते हैं हमारी कष्ट की अनुभूति भी बढ़ती चली जाती है, और साथ में इस सच्चाई को भी मान लेते हैं कि हमारे परिमाण छोटे हैं और इस कारण जो कार्य हमारे जिम्मे हैं हम उसे पूरा करने में कम समर्थ हैं, तो यह सामान्य विश्वास क्यों है कि स्वाभाविक जन्म ही सही है, और यह कि किसी प्रकार की भी कृत्रिम सहायता बच्चे के लिए, जच्चा के लिये, अथवा दोनों के लिए हानिकारक ही होगी? क्या कोई इस बात की कल्पना कर सकता है कि कोई आदमी कैंसर-जनित वृद्धि को दबाने वाली दयापूर्ण औषधियों से इसलिए इनकार करेगा *कि वह विकार सर्वशक्तिवान की देन है?*"

---

१. मेरी डबल्यू० हेमिल्टन, लंदन से प्रकाशित 'कांटेपरेरी रिवीव' में।

इस बात का कोई कारण नहीं है कि हम अब या आगे कभी मानवता की प्रगति के बारे में निराश हो जायें । यदि आने वाली संतति की संख्या में ही सुख की खोज की समाप्ति हो जाती है, तो वह इस बात का पक्का प्रमाण है कि मनुष्य की विजय पताका अभी तक उस क्षेत्र तक नहीं पहुंच पाई है, जहाँ बिना कष्ट झेले संतानोत्पादन के मीठे फल का स्वाद चखा जाता है, और यह कि प्रजनन व संतानोत्पादन पर्याप्त सरल, सुखपूर्ण व सुरक्षित नहीं बनाए जा सके हैं । इसलिये यह एक ऐसा क्षेत्र अभी शेष है, जहां वैज्ञानिक, दार्शनिक और राजनीतिज्ञ मिलजुल कर एक ऐसे सुधार के लिये काम कर सकते हैं, जो संसार के लिये तथा उस के निर्माता व्यक्तियों के लिये उत्तम प्रमाणित होगा । जब तक इन उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं हो जाती, स्त्रियाँ व पुरुष दोनों इस बात में न्यायसंगत हैं कि दुःख बंटाने के लिये और वृद्धि न करें, क्योंकि उन लोगों में जो बड़ी तादाद में अब तक व्यर्थ ही क्यू लगा कर बैठ चुके हैं, दुर्लभ सुख का राशन अत्यन्त न्यून परिमाण में बंट सका है । यह विश्वास करना एक खतरनाक दुर्दशा होगी कि जो संख्या उत्पन्न होगी वह साथ ही साथ सुख में भी वृद्धि करती चली आयेगी या बढ़ी संख्या का थोड़ा सुख बढ़ कर थोड़ी संख्या के अधिक सुख के बराबर हो जायेगा । तर्क की इस अपूर्ण श्रेणी में इस मान्यता को भी रखा जा सकता है कि प्रगति का वह परिमाण, जो हम आज अनुभव कर रहे हैं, कभी भी संभव न होता यदि भूत काल में हुई वृद्धि हमारे समक्ष न होती और इसी प्रकार भविष्य में भी उस समय तक प्रगति संभव नहीं है, जब तक कि साथ ही साथ आगे भी जनसंख्या में बढ़ोत्तरी न हो ।

●●●

सुख का आदर्श रूप

सुख की व्याख्या लोगों ने विभिन्न प्रकार से की है । शॉ महोदय के कथनासार : "संपूर्ण जीवन में ही सुख यदि कोई सहन कर सके, तो वह पृथ्वी पर ही नरक की यातना के समान होगा।" श्री हेरल्ड निकल्सन के कथनानुसार : "अनुकूल वातावरण में तीव्र क्रियात्मकता से सुख की उत्पत्ति होती है।" दोनों सज्जनों की सम्मतियों के बीच में कोई खाई नहीं है, कोई विभेद नहीं है; अपितु कार्य करने की तीव्र कामना अन्य लोगों की प्रवृत्तियों की तरह इन दोनों व्यक्तियों की प्रवृत्ति की विशेषता भी प्रकट करती है। लार्ड लिटन जब यह कहते हैं : "सुख आनन्द की अवस्था का नाम है, किन्तु कोई तब तक वास्तविक रूप से सुखी नहीं हो सकता, जब तक कि वह जिन्दगी की मुसीबतों के साथ साथ उसकी वास्तविकताओं का भी आनंद न ले रहा हो," तो यह बात सच्चाई के निकटतर है । हाँ, यह आवश्यक है कि व्यक्ति का मस्तिष्क सुसंतुलित हो, घड़ी की कमानी की तरह एक ही ओर को खुलने वाला न हो। संभवतः यह अन्तिम विचार क्रिस्टोफर हौलिस की इस व्यवस्था में प्रकट होता है : "मनुष्य तभी तक सुखी रह सकता है, जब तक कि वह अपने को जंजीर की एक कड़ी समझता रहे, अपने पूर्वजों से प्राप्त की हुई संपत्ति को अपने बंशजों के हाथों में सौंप देने की योजनायें बनाता रहे।" जीवन के उद्देश्य के प्रति यह एक साफ़ कटाछंटा निर्देश है। डाक्टर हेरल्ड डीयरडन के अनुसार : "सब स्थानों पर, सब समयों में मानवता सुख की खोज में लीन रही, किन्तु सख पेड़ से गिरे पके फल से भी कुछ अधिक होना चाहियें, और मस्तिष्क और उसकी आवश्यकता के बारे में कुछ भी ज्ञान प्राप्त कर लेना निश्चय ही खोज की सफलता के अवसर में वृद्धि करेगा।" किन्तु एनन जब यह कहता है, तो मुझे अन्य किसी व्यक्ति की अपेक्षा उस से अधिक सहानुभूति होती है : "सुख मुरब्बे के शर्बत की तरह है, जिसे आप तब तक फैला ही नहीं सकते, जब तक उस में से कुछ अपने ऊपर न गिरा लें," या जब श्री डब्ल्यू० एल० जार्ज यह कहते हैं : "मैं जो कहता हूं वह यह है : जीवन वह सब कुछ नहीं है, जिसे आप चाहते हैं। यह उस वस्तु का नाम है, जो आपके पास है। इसलिए उसे अपने पास रखो, अपने टोप में कबूतर का पंख लगाओ, और सुखी रहो।"

दार्शनिकों की व्याख्या बिलकुल इसी ढंग की नहीं है। कांट, जो सुख को नैतिकता व भलाई के साथ सम्बन्धित करता है, कहता है :

"उस प्रमुख अच्छाई में, जो हमारे लिए व्यावहारिक है, यानी अपनी इच्छा से अपना मूल्यांकन होना, भलाई और सुख अनिवार्यतः एक-दूसरे से सम्बन्धित समझे जाते हैं, जिसका अर्थ है कि विशुद्ध व्यावहारिक तर्क के द्वारा दोनों में से किसी को भी तब तक ग्रहण नहीं किया जा सकता, जब तक कि दूसरी वस्तु भी उसके साथ संलग्न न हो। अब यह मेल (प्रत्येक अन्य मेल की तरह) या तो विश्लेषणात्मक है या संयोगात्मक है। यह तो दिखा दिया गया है कि यह विश्लेषणात्मक नहीं है; तब फिर यह संयोगात्मक ही होगा, और क्योंकि इसका सम्बन्ध एक व्यावहारिक अच्छाई के साथ है यानी वह अच्छाई, जो कार्य के साधनों से संभव है, इसलिये इसे कार्य एवं कारण के सम्बन्ध के रूप में लिया जाना चाहिये। परिणाम स्वरूप या तो भलाई की चरम सीमाओं का उद्देश्य सुख की इच्छा होगा या सुख का यथेष्ट कारण भलाई की चरम सीमायें होंगी।"

निम्नलिखित परिणाम निकालते हुए जोड महोदय कांट की तरह से ही सुख की व्यवस्था प्रत्यक्ष ढंग की अपेक्षा परोक्ष रूप में करते हैं :

[1]'सुख के साम्राज्य को आज जितना धन से खरीदा जा सकता है उस से अधिक तूफान की तरह इस के पीछे पड़ कर हासिल नहीं किया जा सकता...सुख की खोज करने के लिये निकलिये और वह आप से दूर भागता रहेगा। अपने काम में अपने तन-मन को लगा दीजिए, अपने को किसी उद्देश्य के प्रति समर्पित कर दीजिये, अपने तन-मन को अपने आप से भी बड़ी किसी वस्तु से अलंकृत कर के आत्माभिमान के क्षुद्र व स्वार्थी कूप से निकलिए और स्वयं को प्राप्त करने की कामना कीजिये, और तब आप पीछे देखेंगे, तो आप को मालूम होगा कि आप सुखी रहे हैं। संक्षेप में, सुख एक ऐसा घर नहीं है, जो मनुष्य के हाथों से निर्मित हो सकता हो; यह एक फूल है, जो आप को आश्चर्यचकित कर देता है, एक संगीत है, जिसे आप किसी खेत के बाड़े के पास से सुनते हुये गुजर जाते हैं। यह एक ऐसी वस्तु है, जो रात में सरलता के साथ चुपचाप अचानक उभर आती है, और फिर मर जाती है।"

ऊपर दिया गया दृष्टिकोण एक ऐसा दृष्टिकोण है, जिस से आप सहमत हो भी सकते हैं और नहीं भी। यदि आपका झुकाव धर्म की ओर है, तो आप मिसेज हक्सले की पुस्तक 'तर्क के विरुद्ध तर्क' (अं०) में कथित निम्न कथन से सहमत होना अधिक तर्कसंगत समझेंगे : "प्रत्येक

---

१. सी० ई० एम० जोड : "हमारे युग के लिये दर्शन" लंदन, नेलसन।

व्यक्ति सुख के पीछे दौड़ता है, और परिणाम यह होता है कि कोई भी सुखी नहीं होता। इसका कारण यह है कि वे लोग गलत रास्ता पकड़ लेते हैं। उन्हें अपने आप से यह प्रश्न नहीं पूछना चाहिये : हम सुखी क्यों नहीं हैं, और किस प्रकार हमारा अच्छा समय आयेगा ? बल्कि उन्हें यह प्रश्न अपने आप से करना चाहिए : हम किस प्रकार परमेश्वर को प्रसन्न कर सकते हैं, और हम लोग अधिक अच्छी दशा में क्यों नहीं हैं ? यदि लोग अपने आप से इन प्रश्नों को पूछें और व्यवहार में अपनी योग्यता के अनुसार उनका उत्तर दें, तो बिना कभी सुख का विचार तक किये उन्हें वह मिल जायेगा, क्यों कि सुख के पीछे दौड़ने से आप सुख प्राप्त नहीं कर सकते, तपस्या करने से सुख की प्राप्ति होती है। और जब लोग केवल चतुर होने के बजाय बुद्धिमान् थे। तो वे जीवन को अच्छे समय व बुरे समय के रूप में न सोच कर तपस्या और त्याग के रूप में लेते थे। मारजोरी, तुम्हें अब जो सुख की अनुभूति हो रही है, इसका कारण ही यह है कि तुम ने सुख की कामना करना छोड़ दिया है, और अधिक अच्छा बनने के लिए प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया है। सुख कच्चे कोयले की भांति ऐसी सहोत्पन्न वस्तु है, जो किसी अन्य वस्तु के निर्माण की प्रक्रिया में स्वयं प्राप्त हो जाती है।"

दूसरे ऐसे लोग हैं, जो सुख को सकारात्मक आनन्द की उपस्थिति की अपेक्षा पीड़ा के अभाव की स्थिति समझते हैं। ग्रीक दार्शनिक एपिक्यूरस के मतानुगामी दार्शनिक उसी विचारधारा से सम्बन्ध रखते थे, यद्यपि उन्हीं के दर्शन के कारण सुख को आदर्श समझा जाने लगा। मिल भी इसी विचारधारा का हामी था, यद्यपि उसने प्रसन्नता को निम्न और उच्च दो श्रेणियों में बिभाजित कर दिया। बहुत से लोगों के लिए सुख व प्रसन्नता दोनों शब्दों के एक ही अर्थ हैं, किन्तु इन दोनों के बीच विभेद को स्पष्ट करने के लिए एक ऐसे लेखक के विचारों को ही उद्धृत किया जा सकता है, जिसने इन दृष्टिकोणों का सापेक्षात्मक अध्ययन किया है :

[1]"जब एक भूख तृप्त हो जाती है, तो तृप्ति की वह अनुभूति सरल व तुरतगामी होती है। संभवतः यही अनुभूति का वह भेद है, जिस पर सर्वाधिक उपयुक्तता के साथ प्रसन्नता की उक्ति लागू की जाती है। दूसरी ओर वह अनुभूति, जो कामना की तृप्ति के साथ रहती है, अधिक

---

१. डाक्टर जान एस० मेकेंज़िल : "नीतिशास्त्र की कुंजी" (अं०), लन्दन, यूनिवर्सिटी ट्यूटोरियल प्रेस।

बौद्धिक एवं प्रतिरूपात्मक होती है, इसलिए इसे संभवतः सुख का नाम दिया जाना चाहिए। मानवीय इच्छा में कम या अधिक किसी उद्देश्य की सीधी चेतना निहित रहती है, और उस अनुभूति में, जो उसकी तृप्ति से उत्पन्न होती है, कम या अधिक किसी उद्देश्य-प्राप्ति की स्पष्ट चेतना विद्यमान होती है। जिस समय हमारी इच्छा की तृप्ति होती है, उस समय विश्व के जिस स्वभाव में हमारा वास होता है, उसके अनुसार इन अनुभूतियों में भारी विभेद होता है। तृप्ति की वे अनुभूतियां, जो स्वार्थ के संसार से सम्बन्ध रखती हैं, उन अनुभूतियों से बहुत भिन्न होती हैं, जो कर्त्तव्य के संसार से सम्बन्ध रखती हैं; वे जो पाशविक आनन्द के संसार से सम्बन्ध रखती हैं, उन अनुभूतियों से भारी भेद रखती हैं, जो काव्य एवं धर्म की भावना से सम्बन्ध रखती हैं।"

'वैशविक भावना' अथवा ईश्वरोन्मुखता एक अन्य विभेद है, जिसकी चर्चा कारलाइल अपनी पुस्तक 'सारटोर रिसार्टाज़' में करता है, जिसमें वह इस पिछली श्रेणी के सुख को स्पिनोज़ा के 'बियाटीट्यूड' के के लगभग बिलकुल समकक्ष ला रखता है। स्पिनोज़ा ने 'बियाटीट्यूडो' उस सुख का नाम दिया है, जो 'ईश्वर के बौद्धिक प्रेम अथवा आध्यात्मिक सिद्धांत की संप्राप्ति के रूप में विश्व की समस्त रचनाओं को प्रशंसा की दृष्टि से देखने' से उत्पन्न होता है। बौद्धों का निर्वाण एवं हिंदुओं की मुक्ति इसी ऊंचे प्रकार के सुख की श्रेणी में जायेंगे।

सुख के बारे में दार्शनिक का विचार यथार्थ सुख की ओर से एक प्रकार की अरुचि का भाव लिए रहता है और एक ऐसे मूलाधार के रूप में, जिस पर सुखी रहने के उस विचार को टांग दिया जाए, सुख की अपेक्षा किसी अन्य वस्तु पर ज़ोर डालता है। दार्शनिक अनुभव करता है कि सुखी रहने का भाव तथा जीवन की उपस्थित वास्तविकतायें तब तक कोई माने नहीं रखते, जब तक उन्हें किसी मूल्य अथवा उद्देश्य के नाम पर न जांच लिया जाए। इसका उनके निकट कोई महत्त्व नहीं है कि मूल्य एक है या अनेक, या स्वयं उद्देश्य ही अनिश्चित तो नहीं है, या उद्देश्य या मूल्य को एक साथ रखने से निकलने वाला परिणाम वह सुख है या नहीं, जो मूल्यों का चरम लक्ष्य होता है, क्योंकि उनका सम्बन्ध तो उस मन्दिर की पवित्रता की सुरक्षा मात्र से रहता है, जिस में से पहले ही देवत्व पलायन कर चुका है। पवित्रता को तो पकड़े रखा जा सकता है, लेकिन देवत्व को नहीं। व्यक्तिगत जीवन में उद्देश्य के इस अभाव की व्याख्या प्लेटो ने निम्नलिखित शब्दों में की है:

"जब उसे बताया गया कि कुछ स्वाद तो ऐसे हैं, जो ऐसी भूखों से

भूखों से संबन्धित हैं, जो अच्छी व सम्मानित हैं और अन्य उन भूखों से, जो बुरी हैं, और यह कि पहली को व्यवहार में लाया जाना चाहिये एवं उनका सम्मान किया जाना चाहिए और दूसरी की रोकथाम करनी चाहिए और उन्हें दबाया जाना चाहिए, तो उसने इस ठोस सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया या उसकी खोपड़ी में यह बात नहीं बैठी। इन सब बयानों पर वह अपना सिर हिलाता है और कहता है कि सभी भूखें समान होती हैं और उनका समान रूप से सम्मान किया जाना चाहिए। इस प्रकार दिन पर दिन वह अपना जीवन व्यतीत करता है, समय समय पर उभरने वाली भूख को बुझाता रहता है; किसी दिन पिए रहता है और 'जाज़' का संगीत सुनता रहता है, तो किसी दिन उपवास रखे रहता है और केवल पानी ही पीता है; कभी फिर शिक्षण के काम में जा पहुंचता है; कभी सुस्त और प्रत्येक वस्तु की उपेक्षा किए दार्शनिक की तरह पड़ा रहता है। प्राय: वह राजनीति में प्रवेश करता है और समय की आवश्यकता पर भाषण देता है और उसके अनुसार काम करता है। शायद वह कुछ सैनिक व्यक्तियों को पसन्द करता है और उसी दिशा में झुक जाता है, या वह व्यापार में भी घुस सकता है, क्योंकि वह कुछ सफल व्यापारियों को कानी आँख से देखता है। जीवन मे कोई व्यवस्था अथवा बन्धन नहीं है; लेकिन वह इस जीवन को आनन्दपूर्ण, स्वतन्त्र और सुखी समझता है और अन्त तक उसी का अनुगमन करता है।

जीवन के किसी उद्देश्य के बारे में इस तमाम बातचीत का एक अर्थ है। व्यक्तिगत सुख कोई ऐसी चीज़ नहीं है, जिसकी प्रशंसा की जा सके। वह जीवन अथवा सामाजिक व्यवस्था की वह अनवरतता, जिसके बारे में किसी ने अपना निश्चय कर लिया है अथवा जिस में किसी का पालन-पोषण हुआ है, अपने स्थायित्व की ओर से सुरक्षित हो जानी चाहिए, इसी कारण उसकी प्रशंसा की जानी चाहिए और जो भी वस्तु इसके जीवन के प्रत योगदान दे वही नैतिक एवं सज्जनोचित है। भलाई के रूप में आत्मत्याग का महत्त्व अब स्पष्ट हो जाता है। अनुपयुक्तता का विशाल भवन उद्देश्यों पर ही निर्मित हो सकता है, उन साधनों पर नहीं, जो प्राकृतिक हैं और इसी लिये व्यवस्थित हैं।

'हीडोनिज्मे' (मजे का बोध कराने वाला यूनानी शब्द) एक दार्शनिक सिद्धांत के रूप में अपने जन्म-काल से ही इसी लिये बदनाम नहीं रहा कि इसके मूल में ही कोई चीज़ गलत थी। इस प्रकार के विश्वास का अस्तित्व, जो व्यक्तिगत सुख की वकालत करता था, उस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था से मेल नहीं खाता था, जिस में सुख को परिणाम के आधार पर नहीं

अपितु गुण के आधार पर नापा जाता था। किसी संत का धार्मिक अनुभव, अथवा किसी बड़े आविष्कार से प्राप्त होने वाला संतोष इन मापदंडों से संपूर्ण समुदाय के सुख की अपेक्षा विशालतर एवं अधिक सदोद्देश्यपूर्ण था। वास्तव में सामान्य जनता की दीनता यदि कला, विज्ञान, संगीत या ओपेरा के जगत में, या किसी ऐसे शक्तिशाली शासक के उच्छृंखलता-पूर्ण विशाल आमोदप्रमोद के उत्सवों में, जो इस अभागे बहुमत के भाग्य पर शासन करता था, सफलता का शिखर निर्माण करने में सहायता देती थी, तो वह उस युग की महानता का चिह्न थी। इस से निम्नांकित जैसे कथन का उद्देश्य भली प्रकार विदित हो जाता है : [1] "एक सभ्य मनुष्य की उत्तम व्याख्या जो मैं जानता हूं वह यह है कि वह ऐसा व्यक्ति होता है, जो ऐसे मामलों से सम्बन्धित रहता है, जिसका सम्बन्ध व्यक्तिगत रूप से उस से नहीं होता, न ही उस के लाभ के लिये वह सम्बन्ध प्रवृत्त होता, न ही उस के हितों का कोई सहायता पहुंचाता, और न ही उसकी वासनाओं को शांत करता।"

संयम की यह संहिता विशेष देखभाल के साथ व्यक्ति की यौन आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के क्षेत्र में लागू की गई। मनोविश्लेषण के बारे में दावा किया गया कि उस ने दुर्गन्धित अन्तरात्मा के भीतर ढेर सी ताजी हवा के प्रवेश करने के लिये मार्ग दे दिया है, लेकिन सच्चाई यह है कि हमें अपनी भलाई का प्रदर्शन करने के लिये अपने भीतर बुराइयों का संचय करना पड़ा। भूत और वर्त्तमान की आर्थिक गिरावट ने मनुष्य को एक ऐसी आर्थिक वस्तु में परिवर्तित कर दिया है कि मार्क्सवाद की तरह उसके मुंह से यही निकलता है कि जेब में पड़ा हुआ पैसा ही मनुष्य की चेतना का निर्धारण करता है; यह एक विशेष युगप्रवर्त्तक महत्त्व का वैज्ञानिक अनुसंधान घोषित होना है। एक ऐसे समाज में, जहां नैतिकता और विवाह की एक विशेष प्रणाली से सेक्स की भूख को काक-दृष्टि लगा कर जोता बोया जाता हो, स्वयं यह व्यवस्था भी व्यक्तियों के अचेतन मस्तिष्क को उच्छृंखल भावनाओं का कोषागार बनाने में सहायक कारण है। तब इस में कोई आश्चर्य नहीं है कि वह अचेतन अंग हमारे सचेतन मस्तिष्क पर प्रभाव डाले और जिस सभ्यता में हम रह रहे हैं उसे एक ऐसे चिड़ियाघर से मिलतीजुलती चीज बना कर रख दे, जहां नरभक्षक जंतु भूखे ही अथवा नाममात्र के भोजन पर जीवित रखे जाते हों।

अनुभूतियां-प्रवृत्तियां स्वयं में उच्छृंखल नहीं हैं। यह हमारा

---

१. सी० ई० एम० जोड : 'हमारे युग के लिये दर्शन' अं०।

व्यवहार है, जो उन्हें ऐसा रंग देता है, और कम से कम इसी कारण से जीवन के प्रति अपने वर्त्तमान व्यवहार पर हमारा यह विकृति एवं उच्छ्ंखलता का आरोप लगाना सही होगा कि उस ने मनुष्यों को जीवन भर भलाई की अपेक्षा बुराई के बारे में ही सोचने को अधिक मजबूर किया। भोजन प्रदान करने की हमारी अयोग्यता ने कुछ लोगों को चोर बना दिया है और दूसरों को अपराधी बना छोड़ा है। सही राजनीतिक विचार के बारे में हमारे अज्ञान ने या उसको लागू करने की ओर से हमारी उपेक्षा ने पुलिस राज्यों को स्थापित होने में सहायता दी, जो अब लोगों को अपने धन्धे चलाते रहने में सहायता प्रदान करने वाले मनुष्यों के स्वेच्छित संगठन बन गये हैं। हमारे नैतिक खब्त के कारण हमें सेक्स में जीवन के उद्देश्य के प्रति भय दिखाई पड़ता है, और सुख में असमानता व परिष्कृत अमानवता का शत्रु परिलक्षित होता है। "नैतिकता वस्तुओं की प्रवृत्ति है," तो हमारे वर्त्तमान जीवन के इन तथा अन्य रूपों में विचरण करने वाली निरंकुश नैतिकता स्पष्ट हो जाती है।

सुख मस्तिष्क की एक अवस्था होती है, और जब तक हम मस्तिष्क को नहीं समझ पाते, तब तक सुख का सही हिसाब-किताब लगाना मुश्किल है। मस्तिष्क के बारे में हमारा ज्ञान अब भी अपूर्ण है, और मैं तो इसकी रचना के संबन्ध में केवल एक अनुमान भर लगाने का साहस कर सकता हूं। मस्तिष्क जीवन, अनुभव और वातावरण की अन्तर्क्रिया है। इस जीवन शब्द में वह विचित्र वस्तुस्थिति भी सम्मिलित है जिसे हम जीवन अथवा जीवनी-शक्ति कहते हैं, और शरीर अथवा जीवनसंघटन की शारीरिक एवं शरीरशास्त्रीय विशेषतायें भी इस में शामिल हैं। अनुभव में वंशानुगमन और शिक्षण भी सम्मिलित है। और यदि प्रयत्न की तुलना बच्चों की धागे से चलने वाली चकरी के चक्कर खाने से की जाए, तो सुख वह अनुभूति होगी, जो उस चकरी की चाल में प्रकट होगी; पहले उठेगी, अपनी चरम सीमा पर पहुंचेगी, वहां कुछ देर टिकेगी, और फिर धीरे धीरे नीचे गिरनी आरम्भ हो जायेगी। सुख केवल शारीरिक अच्छाई व शान्ति की भावना ही नहीं है। यदि यही सुख होता, तो आप प्रत्याशा व प्रयत्न में होने वाले असीम सुख की व्यवस्था नहीं कर सकेंगे। अनुभव, जीवन, एवं वातावरण की अन्तर्क्रिया में यदि उत्पत्ति चाल का परिमाण ग्रहण कर लेती है, कुछ देर ठहरती है, और फिर धीरे धीरे लौटने लगती है, तो अपने काम में रत मस्तिष्क का एक पूर्ण चित्र आप के सम्मुख आ जाता है। यदि चकरी के चक्र को असमान झटके दे दे कर विराम स्थल पर न ले आया जाए, ताकि फिर दुबारा चाल देने के लिये उस में हरकत देने की जरूरत

पड़े, और तमाम अन्तर्क्रिया में रत शक्तियां उस के विकास में योगदान देती रहें, तो एक सुखी जीवन के सभी संयोजक कारण आप के पास होंगे : अनुभव से पूर्ण विकसित एक मस्तिष्क, इच्छा की प्रत्येक उत्प्रेरणा से चाल का परिमाण ग्रहण करता हुआ, और फिर धीरे धीरे जीवनी शक्ति तथा उसके द्वारा निर्मित शरीर के ह्रास के साथ साथ बैठता हुआ। मस्तिष्क की इस व्यवस्था को पूर्ण रूपेण एक यान्त्रिक विचार भी समझा जा सकता है। इसके साथ सम्बन्धित अतिभावनात्मक शक्तियों एवं वस्तुस्थिति की व्यवस्था करने में इस से कोई सहायता नहीं मिलती, उदाहरण के लिये : मन:संवादन, अदृश्य दर्शन, और आध्यात्मिक मध्यवितात्मक शक्तियाँ, जब तक कि कोई जीवनी शक्ति का निमज्जन इस प्रकार की शक्तियों में न कर दे या उस जीवनी शक्ति को किसी ऐसी वस्तु का अंग या उस के साथ प्रवाहित न समझ ले, जो सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त है।

संसार को आज जिस चीज की सब से अधिक आवश्यकता है वह है 'जैसे जी में आये करो' वाला दर्शन और एक ऐसा राजनीतिक संगठन, जो इस दर्शन को राह दे। यदि हमें जीवन में कठिनाइयां भुगतनी पड़ी, तो इसका कारण यह था कि हम सभी ने एक निश्चय के साथ सुख के लिये प्रयत्न नहीं किया; हमारे आदर्श विरोधी थे। इसके विपरीत, यदि प्रत्येक व्यक्ति सुखी होने का निश्चय करता, तो इस सुख की इच्छा और दु:ख के इरादे की काँपती हुई सीली धरती की अपेक्षा इस निकट संयोजित इच्छा से एक प्रतिमान प्राप्त करने में कम कठिनाई का सामना करना पड़ता। दु:ख के इस निश्चय का उन सभी लोगों ने पोषण किया है, जो जीवन में किसी उद्देश्य को पाना चाहते हैं। आश्चर्य यह है कि ये लोग स्वयं अपने जीवन के लिये उद्देश्य निर्धारित करके ही संतुष्ट नहीं होते, बल्कि, चाहे नैतिक अवरोधों के द्वारा चाहे राजकीय हस्तक्षेप के द्वारा, सब प्रकार के सुखों का राशन करके और जीवन को कठोर आत्मसंयम पालन करने के लिये मजबूर करके, इस विचार को प्रत्येक व्यक्ति के गले के नीचे जबरदस्ती उतारना चाहते हैं। ये सुखार्थक सज्जन व्यक्तिगत सुखों पर रोक लगा कर सामूहिक सुखों में वृद्धि करने की आशा करते हैं। एक सामयिक लेखिका के शब्दों में : [1]'इस उपदेश का फल मस्तिष्क की एक ऐसी विशृंखल अवस्था में निकला है कि सामाजिक रूप से अत्यन्त चेतनावान लोग सर्वथा सुख के उद्देश्य का ही आतंक के साथ विरोध करेंगे। वे खूब अच्छी तरह जानते

१. मिसेज लोन_फ्रीड : 'नैतिकता और सुख,' लंदन : विलियम्स और नारगेट।

हैं कि उनकी समझ के अनुसार आपका उच्चतर सुख वास्तव में कोई सुख ही नहीं है। फिर भी वे दूसरों को सुखी तो देखना चाहते हैं—हां उस से अधिक नहीं, जितना वे स्वयं सुखी होना चाहते हैं। जब कि अनुभव ने उन्हें यह सिखाया है कि दूसरों को सुखी करना और स्वयं सुखी होना दोनों साथ साथ नहीं चल सकते, आपने एक कदम और आगे बढ़ कर यह मान लिया है कि दोनों बातें 'सदा' ही एक-दूसरे की विरोधी हैं। इसलिये जब कभी हम दूसरों को अधिक सुखी बनाने के लिये यत्न करते हैं, तो इस प्रकार हम वह काम नहीं करते जो हम चाहते हैं, बल्कि वह जिसे हम 'अनुभव करते हैं कि हमें करना चाहिये।' क्या गड़बड़घोटाला है! एक भारी गड़बड़घोटाला, जो कामना को सब्ज बाग दिखाने ले चलता है और उसे रास्ते की भूलभुलैया में छोड़ कर चलता बनता है।"

प्रत्येक व्यक्ति को उस की योग्यता के अनुसार, जिस राह को वह अच्छी समझता है उसी राह से, सुख के लिये प्रयत्नवान बनाना पूर्णतः संभव है और सार्थक है। किसी को दुखी बनाना किसी के सुख में योग नहीं देता, ठीक जिस प्रकार दूसरों को सुखी बनाने से सदा ही किसी के सुख में बढ़ोतरी नहीं होती। जो लोग इन दोनों ही नियमों के अपवाद हैं वे मानसिक विकार के रोगी हैं और उन के साथ उसी प्रकार का बरताव होना चाहिये। जो स्वयं को सुखी करने के लिये दूसरों को दुखी बनाता है वह प्रवंचक है और इस प्रकार के व्यक्तियों से सुलझने के लिये राज्य को पर्याप्त अधिकार मिले हुये हैं, ताकि हमें दूसरे लोगों की, उन नैतिक सनकियों की सेवाओं की आवश्यकता न पड़े, जो स्वयं की खुशी का त्याग करके दूसरों के लिये काम करने का विधान हमें देते हैं।

उदाहरण के लिये हम इस नैतिक निर्देश को लें कि दूसरे की पत्नी की इच्छा करना बुरा है क्योंकि ऐसा करने से दूसरा आदमी दुखी हो जायेगा, और जो इस प्रकार की इच्छा करता है उसे अपराधी समझा जाना चाहिये। अपमिश्रण के सम्बन्ध में हमारे कानून तर्क के आधार पर बने हैं। मान लीजिये कि वह दूसरी स्त्री भी निश्चयबद्ध है और इस मनुष्य की इच्छा के साथ आदानप्रदान करने की उतनी ही इच्छुक है, तो इन दो व्यक्तियों को सुखी बनाने के लिये एक को दुःख सहन करना होगा। यदि स्त्री संप्रदान नहीं करती, तो हमें कानून के विरुद्ध कोई शिकायत नहीं है, क्योंकि कानून दो व्यक्तियों की खुशी के ऊपर एक व्यक्ति की खुशी को न्योछावर करता है। किन्तु दूसरे मामले में एक आदमी की खुशी के ऊपर दो व्यक्तियों की खुशी को वार देने का कानून बुरा कानून है, और यह सब इस वकालत के आधार पर किया जाता है कि स्वयं विवाह बन्धन के बाहर की

जाने वाली कामेच्छा ही अवैध है। यदि हम एक कदम और आगे बढ़ सकें और कहें कि उस स्त्री के गाहे-बगाहे के प्रेम सम्बन्धों पर उसके पति को चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसका जीवन किसी अन्य की पुलिस जैसी निगरानी के लिए न हो कर स्वयं उस से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु है, और इस कथन को नैतिक चेतना की संहिता बना दें, तो संभवत: कोई भी अप्रसन्न नहीं होगा। एक अन्याय से दूसरे अन्याय को न्यायसंगत ठहराना, दूसरे के सुख के लिए व्यक्ति को अपने सुख का त्याग कर देना चाहिए, इस कारणोक्ति के आधार पर स्त्री के लिए उसके जीवन के अधिकारसुख के ऊपर उसके नारीत्व के अधिकार के आत्मसमर्पण करने को न्यायसंगत ठहराना वर्त्तमान कार्य-प्रणाली है। यदि तमाम पक्ष इस बात का प्रयत्न करते कि सभी सुखी हों, तो किसी व्यक्ति के भी दुखी रहने का अवसर बहुत कम रह जाता और यह एक ऐसा स्वयंसिद्ध तथ्य प्रतीत होता है, जो इस विषम अवस्था में ही स्वीकृति नहीं पा सकता, बल्कि एक सार्वभौमिक नियम के रूप में सभी अवस्थाओं में स्वीकार किये जाने के योग्य है।

जीवन का मूल्यांकन करने में हमारे विचारों में सर्वाधिक प्रसिद्ध व उदार विचारक भी इसी तरह की भूल करते हैं। जोड महोदय जब कहते हैं: [1]"नैतिकता, प्रतिबन्ध, किसी चरित्र का निर्माण, इच्छा का सबलीकरण, यह विश्वास कि हमारे स्वभाव के कुछ भाग कमनीय हैं और उन्हें प्रोत्साहित किया जाना चाहिये, और अन्य भागों पर नियन्त्रण रहना चाहिये, ये सब उस वस्तु के अंग हैं, जिसे जीवन के प्रति दीर्घकालीन व्यवहार का नाम दिया जा सकता है," तो यथार्थ जीवन के वास्तविक मूल्यांकन की अपेक्षा वह वर्त्तमान अवस्थाओं में प्रस्थापित जीवन की सफलता पर अधिक ध्यान देते हैं। यदि मैं इस प्रकार कहूँ, तो मेरा यह कथन जोड महोदय के बिल्कुल अनुरूप होगा: "कुल्हाड़ी, धमुष, धूनी, धूनी रमाना, लगातार उठक-बैठक, यह विश्वास कि साहस, भयानकता व क्रूरता प्रेम, दया व सामाजिक भावनाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण एवं कमनीय हैं, ये सब उस वस्तु के अंग हैं, जिसे जीवन के प्रति दीर्घकालीन व्यवहार का नाम दिया जा सकता है।" लेकिन अन्तर है तो यही कि आदिवासियों, खोह में रहने वालों, तथा शिकारियों के द्वारा ही मैं एक दार्शनिक समझा जाऊंगा। यदि लोग मनुष्यों की तरह न रह कर पेड़ों की तरह बढ़ते तो ऐसी कुल्हाड़ी की तरह की नैतिकता सफलता के लिए बड़ा बढ़िया हथियार होती, क्योंकि कुल्हाड़ी से आश्रय-स्थान बनाने के लिए पेड़ों को गिराया जा सकता है और नैतिकता से आपका

१. सी॰ ई॰ एम॰ जोड: 'हमारे युग के लिए दर्शन'।

सामाजिक स्तर ऊंचा हो सकता है क्योंकि कोई आप पर अविश्वास नहीं करेगा और अपने घर में आपकी उपस्थिति से परेशान नहीं होगा। संयम, चरित्रनिर्माण और इसी तरह के दूसरे गुण, बाहुओं पर धूनी रमाने की तरह आपकी शारीरिक सहनशक्ति, आक्रमण करने की शक्ति को एक ऐसे जीवन सग्राम में बढ़ाने का काम करेंगे, जो आदिवासियों के युद्धों की तरह खतरनाक और मरणांतक है। अन्तर है तो यही कि आपके शत्रु आज दांत और पंजों के हथियारों से अलंकृत नहीं हैं, बल्कि ईसाइयों की बाइबिल के मन्त्र पढ़ने वाले पादरियों के गाउनों, छोटी छोटी स्कर्ट्स और लिपस्टिक, कलम और स्याही, धोखेबाजी और भलाई, धन और शक्ति से सुशोभित हैं।

हम अभी तक किसी ऐसे मूल्य की स्थापना नहीं कर पाये हैं जिस से विभिन्न प्रवृत्तियों के सापेक्षात्मक महत्त्व का निर्णय हो सके। जो भी मूल्य हमारे पास हैं वे हैं हमारी इच्छाओं के बौद्धिकरण में। डेवी महोदय के शब्दों में : "सब से अधिक तथाकथित आत्मवंचना इस कारण होती है कि किसी कार्य के मूल्य के मापदंड के रूप में तुरन्त तत्कालीन प्राणसंघटनात्मक अवस्थाओं को नियोजित कर दिया जाता है। यह कहना कि अमुक वस्तु अच्छी लगती है या सीधा संतोष प्रदान करती है, यह कहना है कि यह एक सुविधाजनक आंतरिक अवस्था को उभारती है। इस अनुभव के आधार पर दिया गया कोई भी निर्णय दूसरों के द्वारा बाध्य दृष्टि अथवा सामाजिक परिणाम की दृष्टि के आधार पर दिए गये निर्णय से बिलकुल भिन्न हो सकता है। इस कारण, सर्वाधिक प्रारंभिक सावधानी का विषय होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति किसी कार्य के गुण को किसी हद तक दूसरों के कार्यों के परिणामों के आधार पर पहचानना सीख जाता है।" शायद सभी अनुभूतियों के सुख की अपेक्षा सेक्स की अनुभूति सब से अधिक शक्तिशाली है। इस तथ्य के सामने रहते हुये कि इस से एक विशेष व अभीष्ट श्रेणी का सुख मिलता है, इस अनुभूति के प्राकृतिक व्यवहार में लोगों को एक ऐसी सघन सामाजिक व्यवस्था के संगठन के लिए खतरा दिखाई देता है, जो उनकी सुरक्षा में योगदान देता है। आक्रमण के सीधे ढंग से इस प्रकार की अनुभूति को दबाना कठिन है, जो हानिरहित, सुखकर एवं दूसरी ओर अत्यन्त आवश्यक है। इस विकट गतिरोध से निकलने का मार्ग मिला इस सुख पर आक्रमण करने में, उसे त्याग देने में तथा उस पर प्रतिबन्ध लगाने में, जो इस अनुभूति को संतुष्ट करने से उत्पन्न होता है, और इसे नीच कह कर

---

१. जान डवी : 'मानव प्रकृति व आचरण'।

मनुष्य की निम्न प्रकृति के साथ सम्बन्धित कर देने में। इसलिए इस कारण को एक ओर रखते हुये कि इस से शक्ति क्षीण होती है, समाज की अपेक्षा जिसका निर्णय तथा रोकथाम करना व्यक्ति का ही काम अधिक है, जब लोग यह कहते हैं कि इस अनुभूति की निरंकुश तृप्ति बुरी है, तो वह इसी कारण कि इस प्रकार की कार्यक्षमता पारिवारिक बंधनों की सुरक्षा, जातीय प्रतिबन्धों, तथा आर्थिक सुखसुविधा के लिए लागू सैंकड़ों अन्य कृत्रिम साधनों को क्षीण करती है। यदि समाज आर्थिक संगठन के आधार और व्यक्ति के सेक्स-सम्बन्धों को अलग-अलग करने का कोई ढंग खोज निकाले, तो इस गपोड़ के पांव नहीं रहेंगे कि सेक्स अनुभूति निम्न प्रवृत्ति की अनुभूति है; यही नहीं, बल्कि जितना सम्मान आज काव्य को मिलता है उतना ही इसे भी मिल सकता है।

दुःख के परिमाण को दुगुना-चौगुना करने वाला सब से बड़ा अकेला कारण, परिवार, आत्मत्याग के सिद्धांत पर ही निर्मित है। बड़ी सख्या में दूसरों के जीवन के लिए यदि आत्मत्याग ही मात्र राह रह जाये, तो यह एक भलाई है। जिस प्रकार आज का पारिवारिक मनुष्य आत्मत्याग की प्रतिमूर्त्ति बना हुआ है उस प्रकार प्रारम्भिक काल का पोषक अथवा पितृसत्ता-धारी शायद ही रहा हो। अपने अनुगतों, पत्नियों, बच्चों, तथा पोतों की संख्या के साथ साथ उसकी समृद्धि बढ़ती रहती थी। आज के पारिवारिक मनुष्य की हालत यह है कि प्रत्येक खाने वाले मुंह के बढ़ने के साथ साथ उसके कष्टों में वृद्धि हो जाती है, साथ ही यह अतिरिक्त बलिदान होता है कि उसकी पत्नी की दासता में किसी तरह की कमी होने के बजाये इस प्रक्रिया में वह और भी घनी होती चलती है। जब तक बच्चे बढ़ कर बड़े होते हैं, बोझ असहनीय हो जाता है। इस दुःख के साथ नाता जोड़ने के लिये दूसरों को अपनी लड़कियां देते समय धन देने की आवश्यकता पड़ती है, जबकि पुत्र इस निश्चय के साथ कि वे भी संख्या में बढ़ोतरी करने में सहायक होंगे, बराबर का बोझ ले कर आते हैं। दुःख और विषाद का यह कारागृह कभी टूटने नहीं पायेगा इस बात की केवल यही गारन्टी है कि भारी यन्त्र के नीचे से गुज़रते गुज़रने लोगों में केवल नामचारे की इच्छा अथवा विरोध में डट कर खड़े होने की शक्ति शेष रह जायेगी और सम्भव है वह भी न रहे। बेकन के शब्दों में : 'जिसके पत्नी और बच्चे हैं, उसने अपनी संभावनाओं को भविष्य के यहां गिरवी रख दिया है, क्योंकि वे किसी भी प्रकार के भारी अध्यवसाय में बाधक हैं, चाहे वह अध्यवसाय भलाई का हो अथवा बुराई का। निश्चय ही सर्वोत्तम और जनता के लिये बड़े से बड़े उपयोगी काम या तो अविवाहित लोगों के द्वारा

हुए हैं या निःसंतान पुरुषों के द्वारा ।"

विवाहित जोड़े अपने सम्मिलित जीवन के प्रथम कुछ दिनों में ही सुखी रह पाते हैं । नएपन का आकर्षण बहुत जल्दी मर जाता है, और उस आनन्द की अपेक्षा, जिस के लिये उसे अन्य कहीं घंटे के हिसाब से मूल्य देना पड़ता है, कुंवारे आदमी का किसी स्त्री के साथ पूरी रात बिताने का सुहावना स्वप्न उतना ही अधिक धुंधला है, जितना कि पहले वाला सुख अवास्तविक है । धरती पर ही स्वर्ग की, दुलहन की कल्पना बिखर कर चूर चूर हो जाती है, क्योंकि वह देवता, जो उसकी कल्पनाओं की प्रतिमूर्त्ति बन कर आता है एक निम्न मनुष्य होता है । इस जानखोऊ परिश्रम से और कर्त्तव्य की पूर्ति से जो एक मात्र लाभ होता है वह यह कि जीवन में निहित सभी उद्देश्यों की बलि चढ़ जाती है और मात्र वे प्रयत्न शेष रह जाते हैं, जिन से येनकेनप्रकारेण महाजन को दूर रख कर आने वाले दिनों के बीतने की राह देखी जाती है । यदि पुरुष इस बोझ को अनुभव करता है और उन सब को ठोकरें मारता है, जो उस के खून को चूसते हैं, तो वह अपने ऊपर होने वाले उस अत्याचार को कम करने की चेष्टा करता है, जिस के बोझ से वह मरा जा रहा है । यदि स्त्रियां व पुरुष अपने अपने साथियों को हर पखवाड़े में बदल सकें, तो सम्भव है हम सुख के अधिक निकट हो जायें, लेकिन खुले रूप में इस बात को स्वीकार करना अनैतिकता का उपदेश देना है । सुख इतने कम महत्त्व की वस्तु है कि लोग अंतहीन नारकीय यातना को बुलावा देते हैं ।

साथ ही साथ यह भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि ऐसे लोग भी हैं, जिन को आजीवन संबन्ध बने रहने में ही सुख लाभ होगा । किन्तु उन की संख्या बहुत थोड़ी है । सावित्री इसी प्रकार इक्कीदुक्की हैं, जिस प्रकार गांधी । जो लोग अपनी ज्ञानग्रन्थियों को बन्द करने के लिये कसरत करते हैं उन्हें सामान्य प्राणी ख्याल न करके सनकी समझा जाना चाहिए । प्रतिभा की परीक्षा यही होती है कि वह भीड़ से अलग होती है, किन्तु यदि इस से यह विचार बना लिया जाए कि भीड़ को भी अपना व्यवहार विभूतियों की तरह बना लेना चाहिए, तो दुनिया संत लोगों का स्वर्ग बन कर रह जाएगी । यदि मनुष्य का आंतरिक स्वभाव अनैतिक ही है, तो क्यों उस स्वाभाविक प्रवृत्ति पर बाहरी होने का ठप्पा लगा दिया जाता है और व्यक्ति कला और साहित्य से उसी नैतिकता को चूमते हुए अपनी दबी हुई प्यास बुझाने के लिये खुला छोड़ दिया जाता है, जिसे हम लोगों के स्वाभाविक आचरण में घुलने की अनुमति देना पसंद नहीं करते ? यदि सामान्य रूप ग्रहण कर लेना ही अनैतिक हो जाता है, तो जीवन को नैतिक और कला को अनैतिक बनाने के बजाए क्यों नहीं इस व्यवस्था को उल्टा करने का यत्न किया जाता ? व्यक्ति

का सुख और समाज की तसल्ली इसी मार्ग में हैं, शीर्षासन करने में नहीं ।

यदि भलाई से हीन ईर्ष्या को इस प्रकार मुक्त हृदय से स्वीकृति मिल सकती है, और भलाई से पूर्ण स्वाधीनता पर इतना कठोर प्रतिबंध लग सकता है, तो हम सभ्यता की एक इस प्रकार की सीढ़ी पर चढ़े चले जा रहे हैं, जिस का अंत दुःख के गड्ढे में पहुंच कर होता है । तर्क यह रखा जाता है कि यदि सुख के पीछे दौड़ने में सभी स्वाधीन होते, विशेष रूप से स्त्रियाँ, तो पुरुष बजाए अपनी पत्नियों के आह्लादपूर्ण आलिंगनों में आबद्ध रहने के, अपना अधिकांश जीवन निराशा से भरी रातों में अस्वास्थ्यकर ईर्ष्या और द्वेष से ग्रस्त हो कर व्यतीत किया करते । यदि यह बात सही है, तो इस का इलाज सुख की खोज पर प्रतिबंध लगाना नहीं है, बल्कि ईर्ष्या और द्वेष की जड़ें, संपत्ति के विचार की जड़ें उखाड़ना है ।

आचरण का उत्तम नियम यह है कि मनुष्यों को स्वयं उनकी इच्छानुसार उनकी अपनी अपनी रुचियों के अनुकूल आनन्द के ढंग चुनने के लिए स्वतन्त्र कर दिया जाए, और उन्हें प्राप्त करने की राहों को भी उन्हीं की मरजी पर छोड़ दिया जाए । जोड महोदय के इस कथन के अतिरिक्त और कुछ सत्य नहीं हो सकता : "सही राह पर चलने के लिये मजबूर होने की अपेक्षा गलत राह पर चलने के लिये स्वतन्त्र होना अधिक अच्छा है ।" दर्शन, मूल्य, इन सब का उद्देश्य लोगों के सुखों में वृद्धि करना ही है । एक समय जब मनुष्य सब प्रकार की खुशियों को छोड़ कर किसी एक प्रकार की सुख-साधना में अत्यधिकता के साथ लीन हो जाते हैं, तो उस समय प्रचलित दर्शन इस प्रकार का होता है, जो इस तरह के सुख पर नाकभौं चढ़ाता है । यदि लोग एक विशिष्ट गुण में हीन होते हैं, तो उसकी उपज को बढ़ाने के लिए उस के ऊपर एक मूल्य लगा दिया जाता है । यदि हम इन दर्शन व मूल्यों को सर्वोच्च बनाने के लिये प्रयत्न करते हैं, जो अंत में हैं तो साधन ही, तो विल ड्यूरान्ट के एक सरल उद्धरण के अनुसार : [1]"हम उस हिन्दू रहस्यवादी की तरह हो जाते हैं, जिस के जीवन का उद्देश्य अपनी नाभि पर ध्यान केन्द्रित किए रखना होता है ।" अनुभव के द्वारा अरस्तू का मध्यमार्ग ग्रहण कर लिया जाना चाहिए, क्योंकि पहले ही मूल्य निर्धारित कर देना और लोगों को उसे मान लेने के लिये मजबूर करना इस तरह की गलती हो सकती है, जिस से बुराई सस्ती हो जाए और भलाई महंगी ।

यदि सुख विकारोत्पादक है, तो दुःख उस से पहले है । आप एक को

---

१. विल ड्यूरान्ट : 'दर्शन की कहानी' न्यूयार्क । गार्डन सिटी पब्लिशिंग कम्पनी ।

दूसरे का विस्तार किए बिना नहीं काट सकते । यही इस बात का स्पष्ट संकेत है कि किसे घटाया जाना चाहिए और किसे प्रोत्साहित किया जाना चाहिए । इस निश्चित चुनाव के बावजूद भी यदि ऐसे नीतिज्ञ और दार्शनिक रह जाते हैं, जो सुख की खोज को बदनाम करें, तो अच्छाई के विस्तार में वे बड़ा भारी खतरा हैं । संभवतः वे धर्म के एक ही रूप से अंधे हो जाते हैं, जिस का काम व्यवस्था रखना और सामाजिक इकाई से बंधे रहना है । धर्म के जिम्मे यह व्यवस्था रखने का काम जरूर सौंपा गया है, किन्तु यदि वह व्यवस्था सुख के मूल्य पर स्थापित की जाए, तो इस से यही पता चलता है कि मनुष्य की सामान्य बुद्धि के बारे में और सामाजिक विज्ञानों के ज्ञान के संबंध में इस के विचार खराब हैं । जहाँ तक दूसरे काम का सवाल है—सामाजिक इकाई से बंधे रहना—तो वह इकाई स्वयं घृणोत्पादक रूप से बदनाम हो गई है क्योंकि इसी की सीमाओं के भीतर संपत्ति, अधिकार, और ईर्ष्या की भावनाओं ने पोषण प्राप्त किया है, और अब मस्तिष्क तथा व्यक्ति की उन्नति के लिये जिन्हें त्याग दिया जाना है । यदि स्कोपेनहावर महोदय के अनुसार जीवन में आनन्द की अपेक्षा रंज ही अधिक है, तो इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि भली प्रकार रहने के लिए मनुष्य की बुद्धिमानी का सारा उत्साह शेष हो गया है । दीनता की प्रगति असमानता के रोग का विज्ञान है और सुख के प्रति अरुचि प्रवृत्तियों की मरणोन्मुखता है । यदि जीवन को चलते रहना है, तो विनाशकारी आयात के इन दोनों प्रतीकों को हटा दिया जाना चाहिए ।

● ● ●

नारी का चरित्र

नारी का चरित्र बहुत बदनाम रहा है। स्त्रियों के चरित्र की निन्दा करने में दार्शनिक लोग सब से ज्यादा चीखेचिल्लायें हैं। भारत में मनु ने उन्हें प्रत्येक अच्छे गुण से हीन, असत्य की तरह अपवित्र और वासना से भरपूर वर्ग में रखा, और क्रोध, बेईमानी, द्वेष एवं बुरे आचरण से युक्त बताया। मध्य युग के यूरोपीय दार्शनिक भी इस बारे में कोई अपवाद नहीं थे। स्त्रियों के बारे में लिखते हुये स्कोपेनहावर कहता है:

[1]"इस कद में हीन; छोटे छोटे कंधों वाली, चौड़ी निम्नोदरास्थियों वाली, छोटी छोटी टांगों वाली जाति को सुन्दर सेक्स नाम केवल उसी मनुष्य ने दिया है, जिसकी बुद्धि को सेक्स की प्रवृत्ति ने आच्छादित कर लिया, क्योंकि इस सेक्स का तमाम सौंदर्य केवल इसी प्रवृत्ति से आबद्ध है। उन्हें सुन्दर बताने की अपेक्षा लालित्यहीन सेक्स के नाम से पुकारना अधिक हानिरहित होगा। न ही संगीत के लिये, न ही काव्य के लिये, न ही ललित कलाओं के लिये उन में वास्तविक रूप से कोई ग्रहणशीलता की बुद्धि है। अपने रिझाने के प्रयत्न में सहायता प्राप्त करने के लिये यदि ये इन कलाओं का दिखावा करती भी हैं, तो यह केवल हंसी की बात है। किसी वस्तु में विशुद्ध बाह्यात्मक रुचि रखने में वे सर्वथा अयोग्य हैं। इस संपूर्ण सेक्स में सर्वाधिक विशिष्ट बुद्धि से युक्त व्यक्तियों ने भी ललित कलाओं में कोई ऐसी सफलता प्राप्त करके दिखाने का यत्न नहीं किया, जो वास्तव में विशुद्ध व मौलिक हो, या जिसने किसी भी दिशा में संसार को किसी स्थायी मूल्य की वस्तु प्रदान की हो।

"स्त्रियों का यह सम्मान ईसाइयत तथा जर्मन भावुकता की उपज है, और दूसरी तरफ यह उस रोमांटिक आंदोलन का कारण है, जो अनुभूति, प्रवृत्ति तथा इच्छा को बुद्धि के ऊपर तरजीह देता है। एशियाई लोग इसे अच्छी तरह जानते हैं और नारी की हीनता को मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं। जब कानूनों ने स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार प्रदान किये, तो उन्हें उनको पौरुषिक बुद्धि से भी विभूषित करना चाहिए था। अपनी विवाह संस्थाओं में एशिया फिर हमारी अपेक्षा ज्यादा नफीस ईमानदारी प्रकट करता है, जो यद्यपि इतने विस्तृत रूप से हम लोगों में

---

१. 'स्कोपेनहावर के सम्पूर्ण लेख', विले बुक कम्पनी, न्यूयार्क।

व्यवहृत होती है, किन्तु इस कहावत के द्वारा उसे छिपाने की चेष्टा की जाती है : 'कहां हैं ऐसे लोग' जो असल में एकपत्नीक हों ? और स्त्रियों को संपति अधिकार देना कितनी बड़ी बेहूदगी है ! कठिनाई से एकदो अपवादों को छोड़ कर सभी स्त्रियां निकम्मी हैं क्यों कि वे वर्तमान में रहती हैं और उनका मुख्य बाहरी धन्धा शॉपिंग करना है। स्त्रियां सोचती हैं कि धन कमाना पुरुषों का काम है, उनका काम तो केवल उसे खर्च करना है, यही उनका श्रमविभाजन का असूल है। इसलिये मेरा यह मत है कि हिन्दुस्तान की तरह स्त्रियों को कभी भी अपने काम आप व्यवस्थित करने की अनुमति नहीं मिलनी चाहिये, सदा पुरुष के वास्तविक निरीक्षण में रहना चाहिये, चाहे वह पुरुष उनका पिता हो, पति हो अथवा पुत्र हो, या फिर वे राज्य की देखभाल के भीतर रहें। और इसी प्रकार उन्हें किसी ऐसी संपति को, जिसे उन्होंने स्वयं नहीं कमाया है, कभी भी बेचने का पूर्ण अधिकार नहीं मिलना चाहिये। जितना ही स्त्रियों से हमारा साबका कम पड़े उतना ही अच्छा है। वे आवश्यक बुराई भी नहीं हैं; जीवन उनके बिना भी सुरक्षित रूप से और आसानी के साथ चल सकता है।

"प्रतिभा के लिये आधारभूत अवस्था है एक असाधारण समझदारी का पूर्वप्रभाव और उत्पादक शक्ति के प्रति अरुचि का भाव। स्त्रियां भारी समझदारी की अधिकारिणी हो सकती हैं, किन्तु वे विभूतियां नहीं बन सकती, क्यों कि वे सदा अन्तर्विचारी होती है, प्रत्येक वस्तु उनके द्वारा व्यक्तिगत उद्देश्यों के साधन के रूप में समझी जाती है।"

ओटो वीनिंगर, एक दूसरा जर्मन दार्शनिक, भी स्त्रियों की निन्दा करने में इस से पीछे नही है। उसके अनुसार स्त्रियां केवल दो प्रकार की होती हैं: एक मां और दूसरी नगरनारी। दोनों गुण एक ही स्त्री में भी विद्यमान हो सकते हैं, किन्तु नगरनारी का अर्थ केवल आनन्द में है, जब कि माता का अर्थ संतानोत्पादन में है। वीनिंगर के अनुसार स्त्रियों का स्वयं का कोई पैमाना नहीं होता। [1]"वेअपने को तथा अपनी बहनों को पुरुषों द्वारा उन पर स्थापित किये गये मापदंड से नापती हैं।" इसी कारण अविवाहित स्त्रियों को बेकार और विवाहित स्त्रियों को अधिक योग्य समझा गया है। "विभूति के विरुद्ध तसल्ली करने को उनके पास एक, केवल एक गुण है : वह सेक्स है। जीवन में उनका केवल एक ही स्वार्थ है, और वह या तो स्वयं उन में या अन्य लोगों में सेक्स कार्यों के द्वारा सीमित

1. विओला क्लीन : 'नारी चरित्र।' लंदन, केगानपोल।

है, यद्यपि स्वयं उन्हें इसका ज्ञान नहीं है, क्यों कि उन में चेतना के लिए आवश्यक क्षमता का अभाव है। यौनात्मकता ही संसार में उनका मात्र ध्येय और समक्ष है।"

ऐसे बहुत से लोग होंगे, जो इन निरीक्षणों को पढ़ कर सोचेंगे : "इन में कितनी सच्चाई है !" यह बात भी नहीं कि इन में तथा स्त्रियों के जीवन में चरित्र व उद्देश्य की कमी बताने वाले बुद्धिमान लोगों के अन्य कथनों में सार नहीं है। कमी है तो यही कि कुछ ही लोगों ने समस्या की गहराई में पहुंच कर यह सोचा है कि क्यों ?

स्त्रियों की सेक्स चेतना उन के स्वाभाविक चरित्र अथवा प्रकृति का अंग नहीं है। ठीक जिस प्रकार हम कामकाज की बातचीत करते हैं, स्त्रियां सेक्स का अनुभव करती हैं। दोनों ही जीवित रहने के साधनों से संबंध रखने वाले विचारों से ग्रस्त होते हैं। आखिर जीवन जीवित रहने की इच्छा का ही नाम है। विरोध के एक अंगस्वरूप पुरुषों के साथ भारतीय स्त्रियों के व्यवहार से उन की यूरोपीय बहनों के व्यवहार की तुलना करने की आवश्यकता है। वह लज्जा और सेक्स चेतना के मारे सकुचा जाती है, इस बात का निश्चय करने के लिए कि उस के उत्तेजक केन्द्रस्थल, विशेष रूप से उसके वक्षःस्थल की रूपरेखा, पुरुष की नजरों से छिपे रहें, वह अपने वस्त्रों को संभालने की चेष्टा करती है। जो कुछ उस के दिल में होता है, वास्तव में ये कार्य बिलकुल उस से उल्टा असर दिखाते हैं। उस के लिये यह भारी लज्जा का विषय होता है कि पुरुष का ध्यान उन्हीं अंगों की ओर आकर्षित होता है, जिन्हें वह उस की नजरों से छिपाना चाहती है। यह सम्पूर्ण व्यवहार दोनों पक्षों को भारी असुविधा में डाल देता है और सेक्स चेतना की ओर से उन के मनों में अपराध की भावना उत्पन्न हो जाती है, और इस विचित्र सकुचाहट से हीन स्त्री-पुरुष का कोई मिलन इस देश में नहीं होता। उसकी यूरोपीय बहन में इस प्रकार का कोई प्रभाव नहीं है। उसकी स्वतंत्रता, आत्मविश्वास और दूसरी दिलचस्पियां उस के जीवन को ध्येय प्रदान करते हैं, और इस से उस की सेक्स चेतना काफी मात्रा में मिट जाती है। वह सेक्स जंतु की तरह उतना अधिक अनुभव नहीं करतीं, जितना उस का भारतीय प्रतीक अनुभव करता हैं। यूरोपीय समाज में पुरुष और स्त्रियां उस प्रकार की सकुचाहट की ओर से स्वतन्त्र हैं, जिस ने भारतीय सामाजिक जीवन में विष घोल रखा है। आकर्षणापेक्षा व लज्जा किसी भलाई की द्योतक होने की अपेक्षा सेक्स चेतना का विज्ञापन ही अधिक करती हैं।

सिगमंड फ्रॉयड महोदय स्त्रियों के पुरुषों जैसी जननेन्द्रिय से हीन होने के कारण उन का सम्बन्ध अनेक मनोवैज्ञानिक चरितांगों से जोड़ते हैं।

निष्क्रियता व नम्रता स्त्रियों के चरित्र की विशेषतायें कही गई हैं। हेवलॉक एलिस के अनुसार : [1]"स्त्रियां अनिवार्यतः विश्लेषण की बौद्धिक प्रक्रिया को नापसंद करती हैं। उनकी यह स्वाभाविक भावना होती है कि सम्भव है विश्लेषण उन भावनात्मक आभासों को नष्ट कर दे, जिन से वे भारी गति प्राप्त करती हैं और जो उन्हें सुहावने लगते हैं।" विकासोन्मुख प्रगति के दृष्टिकोण से स्त्रियां "उस मानव रूप के अधिक निकट हैं, जिस के स्तर तक मनुष्य पहुंच रहा है," और धन्धों के चुनाव में, "मानवीय सभ्यता के संपूर्ण पथ पर दृष्टिपात करते हुए हम देखते हैं कि पुरुष स्त्रियों का अनुगमन करते रहे हैं और अधिक शक्ति, अधिक संपूर्णता, प्रायः अधिक एकाग्रता के साथ उन्हीं के धंधों को अपनाते रहे हैं। समाज-वैज्ञानिक अध्ययनों से भी इस विचार को समर्थन मिलता है, क्योंकि श्री डब्ल्यू० आई० थॉमस के अनुसार : [2]"इस बात में कोई संदेह नहीं है कि प्रारम्भिक स्त्रियों के काम मूल्यवान, लगातार चलने वाले, भिन्न भिन्न प्रकार के, और कठोर होते थे, और यदि प्रारंभिक काल में किए जाने वाले परिश्रमों की एक सूची बनाई जाए, तो स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा पाँच गुने कामों में रत पाया जाएगा।" उसी लेखक के अनुसार : "भारी, कठोर, बलवान, सहनशील, और प्रायः अधिकारी प्रकार की स्त्रियाँ निम्न वर्गों में बराबर देखने को मिलतीं हैं, जहाँ अब भी केवल स्त्रियों के ऊपर ही अधिकांश आर्थिक भार है। यह सम्भवतः इस बात का एक अच्छा प्रमाण है कि हमारी जाति की स्त्रियां पुरुषों द्वारा उस पक्षाघात की वर्तमान अवस्था में घसीटे जाने से पहले क्या थी, जिस ने हमारे मध्य वर्गों तथा तथाकथित उच्च वर्गों के शारीरिक, मानसिक और नैतिक जीवन को बुरी तरह विकृत कर दिया है। इस विचार से सिगमंड फ्रॉयड का यह आरोप युक्तियुक्त ठहरता है कि स्त्रियाँ "परिवार के शत्रु के रूप में सभ्यता की ओर विरोधात्मक प्रवृत्ति रखती हैं और उनका मुख्य ध्येय यौन जीवन ही रहता है," किन्तु इस बात के लिए इस में कोई आधार नहीं मिलता कि इन्हें स्त्रियों का स्थायी स्वभाव मान लिया जाए।

स्त्रियों की प्रवृत्ति या चरित्र के बारे में सही हिसाब लगाने के लिये मनोवैज्ञानिक अथवा बुद्धिमानी की परीक्षाओं से बहुत थोड़ा संकेत मिलता है, क्यों कि ये परीक्षायें केवल उन्हीं वर्तमान प्रवृत्तियों को प्रकट कर सकती हैं, जो स्वयं वातावरण और वंशानुगमन की उपज होती हैं। विश्वविद्यालय

---

१. 'पुरुष और स्त्री', हेवलॉक एलिस, लंदन, हुनीमेन।

२. डबल्यू० आई० थॉमस 'सेक्स और समाज' सेक्स के सामाजिक मनोविज्ञान के अध्ययन, अं०, लंदन, टी० फिशर अनविन।

के विद्यार्थियों से निर्मित एक बराबर संख्या वाले लड़के-लड़कियों के समूह का अध्ययन करने के फलस्वरूप श्री हेलेन बी० थॉम्पसन इस परिणाम पर पहुंचते हैं : [1]"सेक्स का मनोवैज्ञानिक विभेद अधिकतर न ही औसत सामर्थ्य के विभेद के कारण प्रतीत होता, न ही मानसिक कार्य के प्रकार में विभेद के कारण, बल्कि उन सामाजिक प्रभावों में विभेद के कारण होता है, जो विकसित होते हुये व्यक्ति पर बचपन से वयस्क होने तक के दिनों में पड़ते रहते हैं।" यह विचार पचहत्तर साल पहले लिखे जॉन स्टुअर्ट मिल के लेख के साथ बिलकुल फिट बैठ जाता है : "जिसे अब स्त्रियों का स्वभाव कहा जाता है वह एक विशिष्ट कृत्रिम वस्तु है, जो कुछ दिशाओं में बलपूर्वक दमन का और अन्य कुछ दिशाओं में अस्वाभाविक उत्तेजना के संचार का परिणाम है।" हेवलॉक एलिस के इस कथन में भी कोई सच्चाई प्रतीत नहीं होती : "लोगों में, साधारणतः पुरुष जाति में, एक शरीरसंगठन से संबन्ध रखने वाली विभिन्नतामूलक प्रवृत्ति होती है, जो उन्हें औसत से अलग करती है, स्त्रियों में, स्त्री जाति के साधारण प्राणियों की तरह, उन की छोटीमोटी विभिन्नताओं की सुविधा को एक ओर रखते हुए, एक ऐसी शरीर—संघटन सम्बन्धी प्रवृत्ति होती है, जो उन्हें स्थायित्व और अपरिवर्तनशीलता प्रदान करती है और इन में मामूली सी ही असाधारणता व्याप्त रहती है," क्योंकि श्री के० पीयरसन महोदय इस मान्यता को "धर्मगत वैज्ञानिक अंधविश्वास" का नाम देते हैं और इस विचार में श्री एल० एस० हॉलिंगवर्थ उनका समर्थन करते हैं।[2]

प्राचीन मातृसत्तात्मक समाजों के अनुसंधान से पता चलता है कि वे बहुत सी विशेषतायें, जिन्हें आज स्त्रैण कहा जाता है, सेक्सों की शारीरिक, शरीर-शास्त्रीय अथवा मानसिक अवस्था के कारण ऐसी होने की अपेक्षा संस्कारगत ही अधिक हैं। संसार की उन तीन प्रमुख सभ्यताओं में, जो विशुद्ध रूप से मातृसत्तात्मक थी, पुरुषों की लगभग वही स्थिति थी, जो आज के समाज में स्त्रियों की है। स्त्री के लिये प्राचीन मिस्री पर्यायवाची उक्ति यह थी : 'वह जो अपने पति को वस्त्र देती है।' इन समाजों में पुरुषों को

१. डा० हेलेन ब्रेडफोर्ड थॉम्पसन, 'सेक्स के मानसिक समान, स्त्री और पुरुष के सामान्य मस्तिष्क का एक प्रयोगात्मक अनुसंधान', शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस।

२. नोटः— अन्य विचारों की विस्तृत परीक्षा के लिए पाठकगण डा० वायोलां क्लीन केगानपोल, लंदन, की नारी चरित्र के अध्ययन पर उस उत्तम पुस्तक के प्रति आमन्त्रित हैं, जिस में से यहां दिए अधिकांश उद्धरण लिए गए हैं।

दहेज देना पड़ता था, जो स्त्रियों की सम्पत्ति हो जाती थी और विवाह के बाद पुरुष उन स्त्रियों की वंश संज्ञा ग्रहण कर लेते थे, जिन से वे विवाह करते थे, और उन्हीं के घरों में रहने के लिए चले जाते थे। लड़कियां लड़कों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान समझी जाती थी। पुरुष परिचर्या, बच्चों की देख-भाल, बरतन मांजना, कपड़े धोना, अपनी पत्नियों की सेवाटहल करना जैसे घर के सब कामधन्धे करते थे। मिश्री विवाह संबन्धों में पतिगण अपनी पत्नियों की आज्ञापालन करने की प्रतिज्ञा करते थे और पुरुषों की ओर से सतीत्व एवं वैवाहिक व्रतभाव की कामना की जाती थी, और प्लूटार्च के अनुसार स्पार्टा में तो स्त्रियों की ओर से नैतिक ढिलाई को किसी कदर गौरवपूर्ण समझा जाता था और पुरुषों को इस के लिये कठोर दन्ड दिया जाता था। अवैधता इन समाजों में अज्ञात वस्तु थी। लेखकों के प्रमाण स्वरूप : [१] "इन पुरुषों के लिये घर ही सारी दुनिया थी। वे जब घरों से दूर रहते थे, तो बिना अपनी पत्नियों के संग व सुरक्षा के सुविधा अनुभव नहीं कर सकते थे।" इन्हीं लोगों के अनुसार : "किसी ऊंचे वेतन का वचन देने पर भी कोई कमछादेल स्त्री सीने-पिरोने, कपड़े धोने और इसी प्रकार के अन्य काम करने के लिये प्रेरित नहीं की जा सकती, क्योंकि ये 'पुरुषों के काम' स्त्रियों के सम्मान के योग्य नहीं समझे जायेंगे। विवाह में आयु भेद का परिमाण भी आज की अपेक्षा बिलकुल उल्टा था। उन की पत्नियों से, दूसरे शब्दों में कहिए उन के पतियों से, तुलना करने पर पुरुष आयु में छोटे होते थे। नम्रता विशेषतः पौरुषिक गुण था और पुरुष अपने बाल संवारते थे, नाखून रचाते थे, आभूषण पहनते थे और सामान्यतः लज्जावान्, दबे हुये व आकर्षणाभिलाषी रहते थे। अविवाहित पुरुष साधारणतः सामाजिक रूप से हीन समझे जाते थे और स्पार्टा में तो कुंवारे पुरुषों के लिये नागरिक अधिकार तक वर्जित थे।"

इन प्राचीन सभ्यताओं के तथा उन में अधिकारी सेक्स के कार्यविभागों की जांच व अध्ययन से मेथियास और मेटिल्डे वेरटिंग जिस परिणाम पर पहुंचे हैं वह उन बहुत से लोगों के तर्क को निराधार कर देता है, जो समझते हैं कि आज जो स्थिति स्त्रियों की है और जो गुण उन में प्रकट होते हैं वे उन के स्वभाव और चरित्र के कारण हैं। उदाहरण के लिये इस प्रकार के परिणाम, जो नीचे दिये जा रहे हैं, बहुत से लोगों के दिमागों को घुमा कर

---

१. मेथियास और मेटिल्डे वेरटिंग : 'अधिकारी सेक्स : सेक्स विभिन्नताओं के समाज विज्ञान में एक अध्ययन', अं०, लंदन, एलेन एण्ड अनविन।

रख देंगे। वे मापदन्ड, जिन से आज की सभ्यता में स्त्रियों की विशेषताओं को नापा जाता है, विशुद्ध रूप से अपनी संपूर्ण शाखा-प्रशाखाओं सहित पुरुषों के राज्य की उत्पत्ति हैं। एक भी पौरुषिक गुण ऐसा नहीं है. जिसे एक न एक जाति के इतिहास में किसी 'स्त्रैण' गुण के समानांतर न रखा जा सके। "जो भी अधिकारी सेक्स होता है, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, वह अपने अधीन सेक्स को घर के कामधन्धे तथा पारिवारिक देखभाल के कामों में बांध देने का रुझान रखता है। इस बारे में अधिकारी स्त्री का व्यवहार बिल्कुल अधिकारी पुरुष के व्यवहार के समान होता है। प्रमुख सेक्स चाहे स्त्री हो अथवा पुरुष हो, इस प्रकार की सेक्स स्वतन्त्रता का उपभोग करता है, जो प्रथा, नैतिक संहिता, और बहुत से मामलो में कानून के द्वारा अधीन सेक्स के लिये वर्जित होती है।" और यदि किसी संयोग से स्थितियां परिवर्तित हो जायें, तो ये ही पुरुष सफलता प्राप्त करने के लिए अपने पुरुषत्व के स्थान पर लज्जा, स्त्रीसुलभ संकोच, मातृत्व गुण, प्रेम के प्रति उदासीनता, सतीत्व और निष्क्रिय आत्मसमर्पण की प्रवृत्तियां अपना लेंगे। लेकिन पुरुष नुकसान में नहीं रहेंगे, क्योंकि सौंदर्य के प्रति चेतना, सहानुभूति और प्यार भी तो इस सौदे में निहित हैं। आज बहुत से चेतन रूप से मानवपशु ऐसे हैं, जो वक्रोदर, बदसूरत, और जंगली किस्म के हैं। उन के लिये यह परिवर्तन निश्चय ही अच्छा रहेगा।

[1]च्चाम्बुली कबीलों के रीतिरवाजों का अनुसंधान करने पर मारगरेट मीड ने पता चलाया कि उन में भी उसी प्रकार के रीतिरवाज प्रचलित हैं, जो प्रारम्भिक मातृसत्तात्मक संस्कृतियों में थे। इन प्रारम्भिक लोगों में स्त्रियां सबल, क्रियाशील, निश्चययुक्त जीवन के प्रति उद्देश्य रखने वाली हैं। वे समुदाय के लिये खाद्यार्जन करती हैं और व्यापार व अन्य उत्पादक कार्यों में संलग्न रहती हैं, जब कि उनके पुरुष "नाजुकमिजाज, अल्पभाषी, भावनात्मक रूप से आश्रित, क्रीड़ापूर्ण एवं अव्यावहारिक, आकर्षणापेक्षी और सेक्स के मामलों में किसी कदर भयग्रस्त तथा मिलनेजुलने में नकार एवं लज्जायुक्त होते हैं।" इसके विपरीत स्त्रियां "क्रियात्मक सेक्स से युक्त और सेक्स सम्बन्ध स्थापित करने में पहल करने की इच्छा रखती हैं।" पुरुषों के काम "कलात्मक अभिरुचियों, नृत्य, पेंटिंग, लकड़ी की खुदाई और अपनी भड़कीली पोशाकों की कढ़ाई" तक सीमित रहते हैं।

आधारभूत असंघटनात्मक विभेद, जो पुरुषों व स्त्रियों में होता है,

---

१. मारगरेट मीड : 'तीन प्रमुख समाजों में सेक्स और स्वभाव', लंदन : जार्ज रूटलिज एंड संज़।

वह यह है कि पुरुष प्राण-भूत में विघटन उत्पन्न करते रहने वाले पदार्थ के निष्कासन में अधिक गतिशील होते हैं और इसी लिये शक्ति का उपभोग अधिक शीघ्रता के साथ कर लेते हैं, जब कि स्त्रियां इस पदार्थ का निष्कासन धीमे धीमे करती हैं और इसी कारण शक्ति के उपभोग में संकोचशील होती है। इस विभेद के परिणाम स्वरूप पुरुषों में तत्परता और स्त्रियों में सहनशीलता के गुण विद्यमान रहते हैं। पुरुष परिवर्तनों को शीघ्रता के साथ ग्रहण कर लेते हैं और स्त्रियां अधिक तत्परता के साथ परिवर्तित परिस्थितियों की अभ्यस्त हो जाती हैं और बुरी से बुरी दशाओं का अधिक से अधिक लाभ उठा लेती हैं। सम्भवतः इसी अधिकतर गतिशीलता के कारण पुरुष उस प्रारम्भिक कठोर जीवन में, जब लोग भोजन और चरागाहों की खोज में इस देश से उस देश घूमते फिरते थे, स्त्रियों से आगे बढ़ गए। डब्ल्यू० आई० थॉमस अपनी पुस्तक 'सेक्स और समाज' में इस विचार का प्रतिपादन करते हैं। इस बदलते हुए जीवन में युद्ध एक आवश्यकता बन गया था और "जब इस अनवरत सैन्यकरण ने पुरुषों में संगठन का रूप धारण कर लिया तो स्त्रियों का राजनीतिक प्रभाव पूर्ण विच्छिन्न हो गया। इतिहास के विशेष काल में स्त्रियां एक स्वतन्त्रताहीन वर्ग बन गई, संक्षेप में जिस प्रकार दास एक स्वतन्त्रताहीन वर्ग बन गए, क्यों कि इस परिवर्तन चक्र में दोनों ही ने किसी उच्च योग्यता का परिचय नहीं दिया।"[1]

यदि प्रारम्भिक जीवन की अवस्थाओं ने इस श्रमविभाजन को सेक्सों के बीच लागू कर दिया है और शताब्दियों के इस श्रमविभाजन ने उनके मस्तिष्कों में कुछ विशेष प्रकार की आदतें और प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कर दी हैं, तो इस से यह परिणाम निकलने में कोई कठिनाई नहीं है कि ऐसी विभिन्न अवस्थाओं के अन्तर्गत, जो किसी प्रकार का श्रमविभाजन लागू नहीं करती, दोनों सेक्सों की आदतों और प्रवृत्तियों में एक विशेष परिमाण में समानता उत्पन्न हो जायेगी। इस में समय लग सकता है, किन्तु जब सोचने और तदानुसार व्यवहार विकसित कर लेने में प्रगति बहुत शीघ्रगामी होती है, परिवर्तन आशा से भी जल्दी घटित होता है।

सभी समाजों में जो आदतें तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था की गति की समर्थक होती हैं उन्हें प्रशंसा प्राप्त होती है और उन्हें स्वीकार कर लिया जाता है। समय आने पर ये आदतें नैतिक संस्थाओं का रूप लेती हैं। लोगों के बहुमत इन संस्थाओं को लगभग सम्पूर्णता के साथ ग्रहण कर लेते

---

१. डब्ल्यू आई० थॉमस : 'सेक्स और समाज'।

हैं, और इनकी अवज्ञा के प्रति जो सामाजिक तिरस्कार होता है उस के द्वारा अल्पमत को इनका पालन करने के लिये बाध्य किया जाता है। किन्तु उनके विद्रोही मस्तिष्कों में वे बीज पलते रहते हैं, जो एक दिन पूर्ण रूप से फलित हो कर परम्पराओं को एक ओर उठा कर रख देते हैं। विक्टोरिया-काल की स्त्रियाँ, जो तनिक से असम्मान से बेहोश अथवा मूर्च्छित हो जाती थी, उसका कारण यही था कि परम्परागत रूप से सामाजिक सम्मान प्राप्ति पर ही स्त्रियों का जीवन निर्भर समझा जाता था। यह तर्क करना एक बड़ी हंसी की बात होगी कि इन स्त्रियों में ये आभास अंगसंघटनात्मक कारणों से थे। जो संस्कृति और सामाजिक प्रतिमान इनके द्वारा लागू होते हैं वे स्टील के ढांचे अथवा लौहकानून के डंडे से भी ज्यादा सशक्त हो सकते हैं। ये स्टील के ढांचे और लौहनियम केवल विकसित मस्तिष्कों पर ही प्रभाव डाल सकते हैं, जब कि संस्कृति बचपन से ही अपना प्रभाव डालना आरंभ कर देती है।

कृषि और उद्योग जैसे स्त्रियों के धन्धों में पुरुषों के प्रवेश ने जीवन के इन चरणों में क्रांति उत्पन्न कर दी और नवीन व्यवहारों को जन्म दिया। वे धन्धे जो सामान्यत: आज पुरुषों के समझे जाते हैं, उदाहरण के लिये, कारखाने का परिश्रम, क्लर्की का काम, शिक्षणकार्य, कलाकौशल, और कुछ विद्वत्ता के कार्य, स्त्रियों के क्षेत्र के भीतर आ जाने के कारण धीरे धीरे विभिन्न समूह इन व्यवहारों का स्थान ले रहे हैं। स्त्रियों के दूसरे कार्यों में लगने के कारण उन्हें जो घर के कामधन्धे छोड़ने पड़ेंगे, इस के साथ ही सामाजिक संगठन को टूट जाने से बचाने के लिए पुरुषों को घरेलू क्षेत्र पर धावा बोलने और उसे एक उद्योग बना देने की आवश्यकता पड़ेगी। खाना पकाने और बरतन मांजने जैसे घर के कामधन्धे पुरुषों के प्रबन्ध के अंतर्गत आ जाने पर बिजली, वाष्प और यांत्रिक शक्ति से चलने वाले विशाल रसोईघरों और लांडरियों में बदल जायेंगे। यह परिवर्तन अभी से परिलक्षित हो रहा है। सुस्त और एकांतपीड़ित गृहवधू अब महत्वाकांक्षी और साहस-पूर्ण आयोजक के रूप में परिवर्तित होती जा रही है और धौंस जमाए रखने वाला सिंगारसेवी, मोटी थोंद वाला पति रसोईघर और कपड़े धोने के टब का इंजीनियर बनता जा रहा है। इन परिवर्तनों के साथ व्यवहारों में भी सहगामी परिवर्तन आयेंगे। वह शोकपूर्ण, विनम्र और अनवरत रूप से विलाप करती हुई नारी, जो अब अपने मस्तिष्क की अपेक्षा वक्ष:स्थल की ओर से अधिक चेतन है, अपने हृदय की परवाह छोड़ कर मस्तिष्क की ओर से अधिक चेतन हो जाएगी और पुरुषों को योजनायें बनाने का काम छोड़ कर दिल के दर्दों की दवायें ढूंढनी पड़ेंगी। विरोधी काम अपना लेने से पुरुष चाहे

गोएझींकें नहीं, किन्तु निश्चय ही उन का व्यवहार स्त्रियों के प्रति मित्रता और समानता का हो जाएगा।

यदि तकिए में मुंह दे कर रोने से हृदयभेदी विश्लेषण, स्पष्ट वाद-विवाद और मित्रतापूर्ण समझौते को स्थान मिलता है, तो यह नारी चरित्र नहीं होगा, जिस में परिवर्तन दृष्टिगोचर होगा, बल्कि स्त्रियों के प्रति पुरुषों का व्यवहार होगा। यही व्यवहार आज की नारियों के चरित्र को प्रभावित करता है। ईर्ष्या और असहनशीलता आयोडीन से उत्पन्न नहीं होते, न ही रक्त के उच्चतर गुरुत्वाकर्षण और 'रक्तिम ललाई की अत्यधिक पूर्ति से मानसिक और शारीरिक शक्तियों में कोई योगदान मिलता। खानेपीने की ओर से संतुष्ट मोटी स्त्री की गतिहीनता की तरह पत्नी को पीटने वाला किसान भी एक सांस्कृतिक वस्तुस्थिति है। स्त्रियों की 'अनियमितता, छोटापन, स्वास्थ्यहीनता, असमर्थता, झुंझलाहट, मनोविकार, आत्मश्लाघा, और कायरता' न ही प्राणीशास्त्रीय दुर्योग हैं और न ही मानसिक, बल्कि धन पर भी मैल चढ़ता ही है, और पुरुषों की जेबों में इस से जो मैल एकत्र हो जाता है नारी उस के लिये अपने को प्रस्तुत कर देती है। संस्कृति और नारी चरित्र में उतना ही सम्बन्ध है, जितना नाड़ी की फड़कन, दिल की धड़कन, होंठों की ललाई और दस दस के दस नोटों में होता है।

प्राचीन हिन्दू ऋषियों ने स्त्रियों पर तमाम दुःखों का कारण होने का दोष लगाया है। उस के बाद की आने वाली शताब्दियों में इस हिन्दू व्यवहार से नारी का चरित्र प्रभावित रहा है। स्त्रियों के जीवन की प्रत्येक धड़कन में अपराध की चेतना दौड़ती है, गुलाबी रूप के भीतर नारी की मांसमज्जा में एक विषाद प्रविष्ट हो गया है। कुछ ही लोग इस बात को अनुभव करते हैं कि स्त्रियाँ संसार के कष्टों की उत्तरदायी नहीं है, बल्कि वे संस्थायें उत्तरदायी हैं, जो स्त्री और पुरुष के बीच के सम्बन्ध को निर्धारित करती हैं। स्त्रियों के दिलों में गहरे पैठा हुआ यह नारी जीवन का अभिशाप जीवन के प्रति उन के व्यवहार को एक बहिष्कृत मनुष्य के सदृश ढाल देता है। आलोचना के लिए सन्नद्ध, उस प्रत्येक भावना के प्रति सजग, जो दूसरा आदमी उस के बारे में अनुभव करता हो, बहिष्कृत मनुष्य सदा बहुमत से अथवा उस वर्ग से, जो उस से ऊंची श्रेणी का समझा जाता है, बराबरी करने का यत्न करता रहता है। उस का जीवन मात्र उन के जीवन के तरीकों का ही प्रतिबिंब होता है, वह स्वयं उस की अवस्थाओं को योग देने के लिये और उस के स्वभावगत मार्ग से विकसित नहीं होता। भारतीय तथा अन्य रंगदार जातियां इस बहिष्कृत चेतना के उदाहरण हैं। 'मदर इंडिया'

जैसी पुस्तक, जो वैसे सच्चाई और ईमानदारी से पूर्ण थी, किन्तु जिसे केवल एक ही दृष्टिकोण से देखा गया, सम्पूर्ण देश में आलोचनाओं तथा रोष की एक आग भड़का देने का कारण बन गई, और विरोध में अपने सब से बड़े सुधारवादी नेता द्वारा ही आत्मसदृश सत्यताओं को झुका दिए जाने में सहायता दे बैठी। इस से अधिक गलत ढंग से लिखी गई, भारतीय तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत अधिक ईमानदार पुस्तकें, जिन से यूरोपीय लोगों की जीवन प्रणाली और उनकी गलतियों तथा स्पष्ट बुराइयों का पता चलता है, बिना किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किए ही गुजर जाती हैं, और उन पर तभी किसी प्रकार का मत प्रकाश में आता है, जब कि वे अच्छी लिखी गई हों और तब उन के द्वारा अधिक विस्तृत पाठकों के क्षेत्र को इतनी मूल्यवान साहित्यिक रचना के सुखदायी पाठनपाठन के लिए आमंत्रित किया जाता है। आलोचना के प्रति यह भावुकता चाहे जितनी सुसार्थक अथवा सदोद्देश्यपूर्ण हो, किन्तु यह स्वयं बहिष्कृत मनुष्य के स्वार्थ के विरुद्ध प्रतिक्रिया करती है क्यों कि यह आत्मालोचना से दूर भागने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है और आचरण को नापने वाले अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण मापदण्ड के विकास में बाधा उपस्थित करती है। भद्दे और निम्न स्तर के आचरण को बढ़ावा देते हुये लेखकों के समस्त रक्ताणु उछल पड़ते हैं और इन लेखकों को उन बहिष्कृत मनुष्यों द्वारा उन के पक्षपातपूर्ण मस्तिष्कों के भूतों की तरह आसमान पर चढ़ा दिया जाता है। इस का एक योग्य उदाहरण भारत का राष्ट्रीय मुद्रण है।

नारी के चरित्र एवं आचरण की प्रशंसा चाहे स्त्रियों के ही द्वारा हुई हो और चाहे पुरुषों के द्वारा, किंतु वह इस बहिष्कृत मस्तिष्क का ही एक प्रतिरूप है, जो भावी जीवन का नेतृत्व करने के हित में की गई यथार्थ प्रशंसा के स्थान पर आत्मश्लाघा से लाभान्वित होने की कामना से ग्रस्त रहता है। युगों से नारी पुरुषों से स्पर्द्धा करती आई है और गुप्त रूप से उन के स्तर तक पहुंचने की चेष्टा करती रही है, चाहे वे स्तर स्वयं कितने ही नीचे दरजे के क्यों न रहे हों। यही सम्भवतः नारी के जीवन का आधार रहा है और ज्यों ज्यों उस स्तर की विकृति से पूर्ण अवास्तविकता उस के मस्तिष्क पर छाती चली गई, त्यों त्यों अपराध की वह भावना उसके मन में गहरी पैंठती चली गई। जब उस ने मनुष्य को प्रसन्न किया, तो उसे देवी के सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया गया और जब वह उसे प्रसन्न नहीं कर सकी, तब उस के प्रति घृणा का व्यवहार किया गया और उसे नीचे गिराने के प्रयत्न किये गए। यही नारी जीवन की सार्थकता है और इसी सार्थकता ने उन के चरित्र को सदा प्रभावित किया है। भावनाओं के उठते

हुये ज्वार में निम्न स्तरीय जीवन के गड्ढों ने छोटे छोटे भंवरों का काम किया है।

उपर्लिखित से यह परिणाम निकालना कठिन नहीं होगा कि स्त्रियाँ क्यों स्त्रियों के संग से कतराती हैं और स्त्रियों को स्वयं उन के स्तरों से नापने से क्यों इनकार करती हैं। एक लेखिका के शब्दों में ही : [1]"स्त्रियों द्वारा, और विशेष रूप से शिक्षित स्त्रियों द्वारा, स्त्रियों के प्रति घृणा एक जानीपहचानी चीज है। इतनी अधिक स्त्रियां स्त्रियों के संगठनों, क्लबों और अन्य प्रकार के स्त्रियों के साथ को मन ही मन नापसन्द करती हैं इस तथ्य को पूर्णरूप से केवल इसी आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता कि 'स्वभावत:' स्त्रियां अपने ही सेक्स के संग के ऊपर दूसरे सेक्स के संग को तरजीह देती हैं। यह बात कहीं अधिक इस तथ्य के कारण है कि स्वयं अपने ही जैसी घृणित जाति का एक स्थान पर एकत्रित हो जाना उन के लिये लगभग पूरी तरह असहनीय हो जाता है। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है, जैसे किसी विकृताकार प्रदर्शक बहुमुखी दर्पण में वे अपने ही प्रतिरूप का दर्शन कर रही हों।"

एक दूसरा कारण भी है, और वह है उन की अत्यधिक ईर्ष्या। प्रत्येक स्त्री प्रत्येक दूसरी स्त्री को अपने पति के प्रेम की सबल प्रतिद्वन्द्विनी समझती है। पुरुष भी अपने साथियों के चुनाव में समान ईर्ष्या से स्वतन्त्र नहीं हैं, कम से कम उन साथियों के चुनाव में, जिन्हें वे अपने घर बुलाने की आशा रखते हैं। पुरुष भी उसी प्रकार अपने मित्रों का फूंक फूंक कर हृदयान्वेषी विश्लेषण करते हैं, जिस तरह स्त्रियां अपने मित्रों का करती हैं, और केवल उन्हीं मित्रों को अपने घर बुलाने के लिये चुनते हैं, जिन के बारे में वे समझते हैं कि स्त्रियों के बीच आने-जाने से उन की ओर से कोई खतरा नहीं है, और शेष को छोड़ देते हैं अथवा उन से या तो क्लबों में मिलने जाते हैं या ऐसे मिलनेजुलने के स्थानों में, जहाँ उन की स्त्रियों की पहुंच नहीं होती। कौवे कौवों को इसलिये चोंच नहीं मारते कि कौवे कौवों से घृणा करते हैं, बल्कि इसलिये कि एक कौवा दूसरे कौवे का भोजन लूट लेता है।

स्त्रियों का पहनावा नारी चरित्र का निर्देशक है और समूह-चरित्र सभ्यता का निर्देशक है। अपने पहनावे के चुनाव में स्त्रियों ने आकर्षण के

---

१. बीवरली निकल्स : 'भारत का निर्णय', लंदन, जोनेथन केप।

सिद्धांत का अनुगमन किया और पुरुषों ने उपयोगिता का। इसलिये स्त्रियों की पहुंच केवल सेक्स पर है और पुरुषों की उद्देश्य पर। फाँसने वाले रस्सों की तरह गुंथी हुई चोटियां, कूल्हों और वक्षःस्थल की गोलाइयों को उभारने वाले उपकरण, स्कर्ट की पीछे की ओर सिकुड़ती हुई धारी, साड़ी के लुभावने फेंट और तहें, जो प्यार से ऊंचे स्थलों को चूमती रहती है और कमियों को छिपा लेती है, ये सब उस कला के वे मील के पत्थर हैं, जो उत्तेजक केन्द्रस्थलों को गोदने से गुदाने और खोपड़ी पर पंख लगाने से आगे बढ़ते बढ़ते यहाँ तक चले आए हैं। यह सबकुछ भी सूक्तियों की तरह थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कह देना है। जिस स्त्री का पहनावा अधिक आकर्षक होता है वह उतनी ही अधिक सभ्य मानी जाती है। सभ्यता ने पहले दिल से दिमाग की ओर प्रगति की और फिर वहाँ से मध्यमार्ग की चल पड़ी।

स्त्रियाँ जिस तरह अब तक रहती रही, सोचती रही और पहनावा ग्रहण करती रही हैं उसी तरह आगे भी करती रहेंगी इस की आशा मर तो नहीं गई है। यदि परिवर्तन आते हैं, तो यह न ही आशा के विपरीत होगा और न ही किसी आलोचना का परिणाम होगा कि बढ़ती हुई चेतना के साथ साथ स्त्रियाँ अपने जीवन को उन वस्तुओं से बांधने की अनावश्यकता समझने लगें, जो पुरुष उन के लिये उपयुक्त समझते हैं और न ही उन का जीवन निरन्तर पुरुषों को अपनी ओर आर्काषित रखने और अपने बारे में सोचते रहने के लिये लुभाने का साधन मात्र रह जाएगा। अवसरों की समानता और अपनी रोजी आप कमाने के साथ साथ, ऐसा कर सकने की स्वतन्त्रता के ही नहीं, बल्कि उस के नैतिक प्रतिफलस्वरूप, स्त्रियों को अपने जीवन के लिए एक नवीन उत्साह प्राप्त होगा। दूसरों को अपनी ओर लुभाने के आकर्षण से अधिक उद्देश्यपूर्ण जीवन का आकर्षण अधिक प्यारा होता है। बुद्धि और ज्ञान द्वारा प्रदत्त ज्योति मूल्यवान से मूल्यवान आभूषणों से अधिक अमूल्य प्रसाधन होंगे, और यदि पुरुषों को आकर्षित करने के लिये अब भी सजावट की आवश्यकता पड़ती है, तो परिष्कृत प्रवृत्तियां और व्यवहार तथा मिलनसारिता केवल शरीर के प्रदर्शन से अधिक प्रभावकारी प्रमाणित होंगे। यदि कौमार्य और सतीत्व खो जायेंगे, तो स्वतन्त्रता और समानता के रूप में उन से अधिक मूल्यवान पदार्थ हाथ आ जायेंगे; और यदि दोनों वस्तुओं को बराबर–बराबर रख कर तराजू पर तौला जाए, तो प्राप्त होने वाली वस्तुओं का पलड़ा

जमीन से जा लगेगा । अन्तिम विश्लेषण से यह प्रमाणित हो जाएगा कि न ही पुरुषों द्वारा निश्चित पौरुषिक विशेषताओं को ऊंचा चढ़ाने में और न ही स्त्रियों द्वारा उन प्रवृत्तियों के परिष्कार में, जिन्हें वे स्त्रैण समझती हैं, बल्कि दोनों के ही द्वारा पालन की जाने वाली भलाई के रूप में अच्छाई के विकास में ही मानवता की प्रगति निहित है ।

●●●

उपसंहार

पिछले पृष्ठों में हम ने नारी के भूत, भविष्य और वर्त्तमान को ले कर एक लम्बा रास्ता पार किया है, किन्तु पाठक पूछ सकते हैं कि क्यों? इस पुस्तक को लिखने का मेरा उद्देश्य चतुर्मुखी है। पहला उद्देश्य यह दिखाना है कि स्त्रियों के प्रति यह वर्त्तमान व्यवहार कि वे स्वभाव से और मानसिक योग्यताओं से पुरुषों से नीचे दरजे की हैं और इस कारण स्त्रियां समाज में अब जो अधीनता की स्थिति रखती हैं वह युक्तियुक्त है, गलत है और अतीत के इतिहास से सम्मत नहीं है। सभी जनताओं के इतिहास में एक समय ऐसा रहा है, जिस में स्त्रियां उसी प्रकार अग्रणी रही हैं, जिस प्रकार पुरुष अब हैं, केवल भिन्नता थी तो यही कि वे इस तरह का कठोर शासन नहीं करती थी, जिस तरह इस जमाने में पुरुष करते हैं। यदि पासा पलट गया है, तो वह बिलकुल उसी ढंग से पलटा है, जिस ढंग से दूसरे मानों में भी जिन्दगी के तौरतरीके बदल गये हैं, विशेष रूप से उद्योगों के संगठन और आर्थिक जीवन के क्षेत्र में। सभी लोगों के जीवन को सुखमय और सार्थक बनाने के लिए इन क्षेत्रों में पुनर्संगठन के साथ साथ स्त्रियों के प्रति पुरुषों का व्यवहार और वे संस्थायें, जो इस सम्बन्ध का मार्गप्रदर्शन करती हैं, अवश्य परिवर्तित होने चाहिए। इन्हें परिवर्तित तो होना ही पड़ेगा, किन्तु किस प्रकार? मैं ने इस प्रश्न का उत्तर भी इन पृष्ठों में देने की चेष्टा की है।

स्त्रियों की स्थिति में सुधार प्रस्तुत करने वाले सभी हलों में इतना अधिक अग्रगामी तथा क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाला अन्य कोई हल नहीं है, जितना स्त्रियों को अपनी रोजी आप कमाने के अवसर प्रदान करना है। इसलिए मेरा दूसरा उद्देश्य प्रश्न के इस पहलू पर ध्यान केन्द्रित कर के इस बात की वकालत करना है कि उत्पादक धन्धों में स्त्रियों का नियोजन ऐच्छिक न हो कर अनिवार्य होना चाहिए। परम्पराओं से ग्रस्त किसी देश में उत्पादक धन्धों में स्वेच्छित रूप से लगने से काम नहीं चलेगा। जब तक कानून की मजबूरी न होगी, तब तक पुरुषों का बहुमत अपनी स्त्रियों को अपने जीवन निर्वाह के लिए आप कमाने की अनुमति नहीं देगा, क्योंकि इसी एक बात के साथ उन की नैतिक स्वतन्त्रता बंधी हुई है और हमारे देश में ऐसे लोग बहुत कम हैं, जो वास्तव में यह चाहते हैं कि स्त्रियों को नैतिक रूप से, धार्मिक बंधन से, मुक्ति मिलनी चाहिए। ऐसी स्त्रियों की संख्या

बहुत कम है, जो इस विरोध के सम्मुख अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करने में समर्थ होंगी। यदि सचमुच राज्य के कुछ माने हैं, तो उस का यह उद्देश्य ऐसे रूप में कार्यान्वित होना चाहिए, जो आरम्भ में तो चाहे जबरदस्ती मालूम हो, किन्तु अन्त में उदारता की ओर जाता हुआ या कहिए स्वतन्त्रता प्रदान करता हुआ प्रतीत हो।

संपूर्ण देश में एकपत्नीत्व के मोटे असूलों से चिपटे रहने के लिये विवाह सम्बन्धी कानूनों को कठोर बनाने की प्रवृत्ति विद्यमान है। किन्हीं विशेष समूहों से सम्बन्ध रखने वाले लोग, उदाहरण के लिये वीवरली निकल्स जैसे सज्जन, यह तर्क कर सकते हैं कि "थोड़ी थोड़ी कर के ईसाइयत संसदीय विधान पुस्तक में प्रवेश करती जा रही है" और "थोड़ी थोड़ी गति से हिन्दू धर्म और इसलाम संसदीय विधान पुस्तक से बाहर निकलते जा रहे हैं।" इस रुख के बारे में यह हिसाब एक गलत हिसाब है। मेरा तीसरा उद्देश्य यह दिखाना है कि विवाह के विकास-चक्र में स्वयं एकपत्नीत्व ही प्रगति का अन्त नहीं है। कुछ विशेष प्रकार की अवस्थाओं के योग में, उदाहरण के लिये, जिस प्रकार की अवस्थायें आज चल रही हैं, एकपत्नीत्व विवाह की समस्या का एक न्यायसगत हल है। यह स्त्री और पुरुष दोनों पर सख्ती के साथ चोट करता है। अब तक तो यह प्रथा केवल एक ही पक्ष पर चोट करती थी, किन्तु दोनों पक्षों पर चोट करना या दण्ड देने में न्याय-संगत होना सुखसौभाग्य के लिए कोई आदर्शपूर्ण हल नहीं है। एकपत्नीत्व स्त्रियों और पुरुषों दोनों ही के स्वभाव के विरुद्ध जाता है, इसलिये किसी स्वतन्त्र समाज में इस का टिकना संभव नहीं है। हम में से सभी लोगों को, चाहे वे प्रगतिशील हों अथवा अप्रगतिशील हों, इस बात को समझ लेना है और वैवाहिक बंधनों से स्वतन्त्र होने के लिए मार्ग तैयार करना है। कम से कम जितना विवाह के संबंध में अब हमें मालूम है, हो सकता है हम विवाह का लोप करने में अन्त में सफल हो जायें।

मेरा चौथा और अंतिम उद्देश्य यह है कि नैतिकताओं की मोटी संस्थापनाओं को एक बार फिर से दोहरा लिया जाए। हमारे पुराणपंथ को हमारी संकीर्णता में पलते रहने के लिए मसाला मिल जाता है। यदि हम बढ़ना चाहते हैं, सामाजिक, एकरूप और प्रगतिशील होना चाहते हैं, तो हमें अपनी अधिकांश नैतिक बाढ़ें तोड़ देनी पड़ेंगी। धार्मिक असहिष्णुता नैतिक असहिष्णुता का केवल एक अंग है। सारी दुनिया के लोगों में अब केवल भारतीय ही ऐसे रह गए हैं, जो अपने जीवन साथी के चुनाव में समुदाय समुदाय के बीच भेदभाव रखते हैं। मध्ययुगीन पुराणपंथी काल में दूसरे इस राह से बहुत पहले गुजर चुके हैं, किन्तु अब वहां किसी स्त्री को जीवनसंगिनी

बनाने की राह में सिवा व्यक्तिगत पसंद-नापसन्द के और किसी तरह की अड़चनें शेष नहीं रह गई हैं। यदि अंतप्रंसार को रोकना है, तो हमें उस अवस्था में पहुंचना ही पड़ेगा। इस प्रश्न का और कोई दूसरा रूप नहीं है, और इस का अर्थ है कि अपने शिक्षित युवक-समूह को नागरिक जीवन के मोहपाश से हटा कर वापस गांवों की ओर ले जाना। हमारी वर्त्तमात कठोर नैतिकता के रहते हुये यह काम अव्यावहारिक है। संभवतः कोइ ध्यान नहीं देगा। जिस ने भी विशाल जनसमूह में मिलने वाली गुमनामी का लाभ उठा कर लैंगिक स्वतन्त्रता का उपभोग एक बार कर लिया है अथवा उस के बारे में सुन तक लिया है वह गांवों की ओर झांकेगा भी नहीं। प्रारम्भकालीन भलाई लिपीपुती बुराई के लिए उत्प्रेरक का काम करती है और यदि लोग इस बुराई की ओर अधिक शीघ्रता के साथ आकर्षित हो जाते हैं, तो दोष उन के ऊपर नहीं रखा जाना चाहिए, बल्कि उन लोगों पर रखा जाना चाहिए, जो इन बुराइयों की ओर ध्यान आकर्षित न होना असंभव बना देते हैं। वह लड़का और लड़की, जो स्वतंत्रता के साथ एकदूसरे के साथ मिलजुल सकते हैं, इसी प्रकार बुराई की ओर नहीं खिचते। किन्तु हमारे नैतिक संस्कारों की कठोरता के कारण कुछ ही लड़के-लड़कियां स्वतन्त्रता के साथ मिश्रित हो पाते हैं। नृत्य, सेक्सों का आपस में स्वतन्त्रतापूर्वक मिश्रण, जानपहचान बढ़ाने में अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता, संस्कारों का अभाव, देवत्व प्राप्त करने की अपेक्षा एक अधिक मूल्यवान और टिकाऊ आदर्श के रूप में सुख को ही सब से बड़ी भलाई समझ लेना—जीवन को जीवन के योग्य बनाने के लिये इन्हीं वस्तुओं की पूर्वापेक्षा है, विशेष रूप से ग्रामीण जीवन में जहां अवकाश तो बहुत है, किन्तु उस का उपयोग करने के मार्ग शहरों के मुकाबले में बहुत कम हैं।

मुझ पर समय से आगे दोड़ने का आरोप लगाया जा सकता है, लेकिन इन बातों में तथा अन्य वस्तुओं में मैं केवल लोगों की इच्छा का ही अनुसरण कर रहा हूँ। स्कोपेनहावर का कथन है: "संसार ही मेरा विचार है।" मैं इस में यह और जोड़ता हूं कि मेरा मस्तिष्क लोगों का ही मस्तिष्क है।